भूमंडलीकरण, बाज़ार और समकालीन कहानी

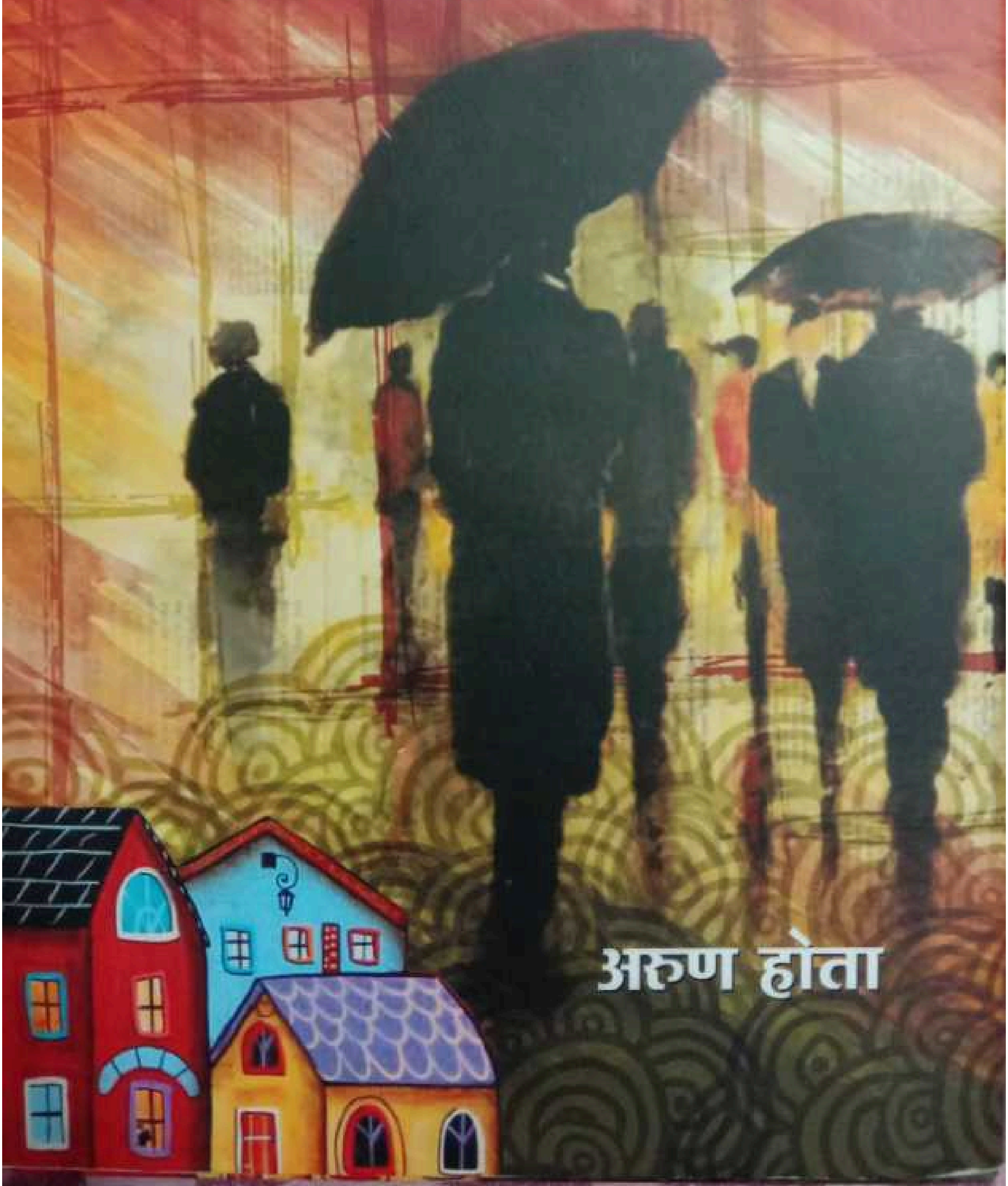

अरुण होता

भूमंडलीकरण, बाज़ार और समकालीन कहानी

अरुण होता

नेशनल पब्लिकेशन्स
जयपुर

ISBN 978-93-81305-39-3

© लेखक

प्रथम संस्करण : 2019

○

मूल्य : ₹ 495

○

प्रकाशक

नेशनल पब्लिकेशन्स

श्याम फ्लैट्स, फतेहपुरियों का दरवाजा

चौड़ा रास्ता, जयपुर - 302 003

फोन : 0141-4914552

ई-मेल : natbooks337@gmail.com

○

टाइपसैटिंग

नेशनल कम्प्यूटर्स, जयपुर

○

मुद्रक

विशाल कौशिक प्रिंटर्स, दिल्ली

अपने दोनों सुपुत्रों
अर्चित उत्कर्ष और अंकित उत्कर्ष
को
अगाध स्नेहाशीष के साथ

पुरोवाक्

माना जाता है कि कहानी उतनी पुरानी है जितनी मानव जाति। मानव सभ्यता के उदय काल से कहानी की शुरुआत समझी जाती है। यह इसलिए कि कहना और सुनना मनुष्य की सहजात प्रवृत्ति है। कथा, कहानी या गल्प की लंबी परंपरा रही है। लेकिन, उस पर प्रकाश डालना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। न ही यहाँ कहानी के उद्भव और विकास को रेखांकित करने की अभीप्सा है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'एक टोकरी भर मिट्टी' से आज तक की हिंदी कहानी की यात्रा के अनेक पड़ाव हैं। हिंदी कहानी बहुरंगी, विविध वर्णोंवाली तथा अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हुई है। इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता है।

यह विवाद का विषय हो सकता है कि भारतीय कथा परंपरा गप्प शैली, आख्यान, आख्यायिका आदि के समुचित विकास से हिंदी कथा कितनी समृद्ध हुई होती? क्या आख्यायिका अंग्रेजी की 'शॉर्ट स्टोरी' से आगे निकल पाती? खैर, हिंदी कहानी का विकास अंग्रेजी की 'शॉर्ट स्टोरी' से प्रभावित हुआ है।

किसी भी साहित्यिक विधा में प्रस्तुत रचना किसी कालखंड तक सीमित नहीं होती है। सच है कि कोई भी रचना किसी अवधि में लिखी गई होती है। उसमें किसी कालखंड का चित्रण भी होता है। लेकिन, उसकी व्याप्ति कालखंड से परे हो तो उसे महत्त्वपूर्ण रचना का दर्जा मिलता है। कहानी विधा के संदर्भ में भी यह बात कही जा सकती है। कहानी का 'टेक्स्ट' वही रहता है। लेकिन समयानुसार उसमें नए-नए अर्थ जुड़ते चले जाते हैं। युगीन संदर्भों और परिप्रेक्ष्य में जो कहानी अपनी अर्थवत्ता बनाए रखने में समर्थ होती है उसकी प्रासंगिकता असंदिग्ध हो जाती है। अर्थात् जो कहानी कल, आज और आने वाले कल के लिए प्रभावान्विति बनाए रखने की सामर्थ्य रखती है वह कालातीत हो जाती है। समग्र प्रभाव कहानी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण है। एडगर एलेन पो के अनुसार 'कहानी' अपने को किसी लाजवाब मौजूदा एकल प्रभाव पर केंद्रित रहती है और प्रभाव

की समग्रता ही उसका प्रमुख लक्ष्य होता है। प्रभावान्विति 'कहानी' की निश्चित पहचान होती है।

1901 में माधव राव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी' में गरीब विधवा के स्वाभिमान और जमींदारी शोषण का चित्रण है। असहाय विधवा को जमींदार द्वारा विस्थापित किया जाता है। लेकिन, विधवा ने जमींदार को बिलकुल निरुत्तर कर दिया था। इसे सप्रे ने संवेदनात्मक धरातल पर चित्रित किया है। परवर्ती काल में प्रेमचंद इसे व्यापक रूप में प्रस्तुत करते हैं । कहा जा सकता है कि हिंदी कहानी अपने उद्भव काल से सत्ता के वर्चस्व यानी वर्चस्व की सत्ता का विरोध एवं प्रतिरोध करती आई है। उससे जूझती आ रही है। संघर्षशीलता की ओर उन्मुख करने में बड़ी भूमिका निभाती आ रही है। अपने 115 से भी अधिक वर्षों के सफर में हिंदी कहानी ने अनेक कीर्तिमान स्थापित किए हैं। मसलन, 'उसने कहा था' चंद्रधर शर्मा गुलेरी की यह कालजयी कहानी 'सरस्वती' के जून 2015 वाले अंक में प्रकाशित हुई थी। तब तक प्रेमचंद उर्दू में थे। उनकी पहली हिंदी कहानी 'सरस्वती' दिसंबर 1915 में प्रकाशित होती है। उन्होंने हिंदी कहानी को समृद्ध तो किया ही, उसे वैश्विक स्तर पर भी प्रतिष्ठित किया। उनकी लगभग तीन सौ कहानियों से कथाकार का व्यापक वितान देखा जा सकता है।

सुदर्शन, विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', पांडेय बेचैन शर्मा 'उग्र', उपेंद्रनाथ अश्क, जयशंकर प्रसाद, चंडी प्रसाद 'हृदयेश', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, चतुरसेन शास्त्री, वृंदावनलाल वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि कहानीकारों के पश्चात् जैनेंद्र की कथा दुनिया ने हिंदी कहानी को नई गति एवं दिशा प्रदान की। जैनेंद्र की प्रारंभिक कहानियाँ भले ही 'सोजेवतन' स्टाइल की हों लेकिन परवर्ती कहानियों में उनकी मौलिकता स्पष्ट रूप से झलकती है। 'जाह्नवी' कहानी के विवेचन और विश्लेषण के आधार पर उनकी कथादृष्टि से परिचित कराने का प्रयास किया गया है।

अज्ञेय की जितनी प्रसिद्धि कवि के रूप में हुई, उतनी कहानीकार के रूप में नहीं। हाँ, 'शेखर एक जीवनी' के रचनाकार के रूप में जरूर चर्चित हुए। लेकिन वे अपने समय के साथ-साथ हिंदी के भी महान् कहानीकार हैं। बदलते समय की नब्ज को टटोलकर व्यापक संवेदना को प्रस्तुत करने में उन्हें महारत हासिल थी। स्त्री जीवन की निस्संगता और अपार दुःख के चित्रण में अज्ञेय सिद्ध रचनाकार के रूप में आते हैं। 'गैंग्रीन' या 'रोज' के माध्यम से मनुष्य का मशीन में तब्दील हो जाने का गहरा दुःख अंकित हुआ है। मध्यवर्गीय स्त्री के अकेलेपन, दुःख और मुक्ति के लिए छटपटाहट का भी इस कहानी में रूपायन हुआ है। यहाँ तक आते-आते हिंदी कहानी बिल्कुल परिपक्वता और प्रौढ़ता पर पहुँच जाती है।

बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में अमरकांत, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, शेखर जोशी, निर्मल वर्मा, फणीश्वरनाथ 'रेणु' आदि ने हिंदी कहानी को नई ऊँचाई प्रदान

की। काशीनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, रवींद्र कालिया आदि ने भी नई जमीन तैयार की। स्वानुभूत संवेदना, अनुभूति की प्रामाणिकता आदि को कहानी का आधार बनाया गया। कहानी आंदोलन हुए। नई कहानी से लेकर जनवादी कहानी तक अनेक आंदोलन उभरे। एक-आध छोड़कर लगभग अन्य सभी आंदोलन क्षणस्थायी रहे। उनके दूरगामी प्रभावों का अभाव रहा। फणीश्वरनाथ 'रेणु' और असगर वजाहत के कहानी-संसार में निहित युग स्पंदन को महसूस करने का प्रयास इस पुस्तक में किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्रामीण और कस्बाई जीवन, आने वाले बदलावों, मानसिकता आदि को अंकित करते हुए रेणु ने अपनी विशिष्टता जाहिर की है। इसी तरह, असगर वजाहत की कहानियों में विद्रूपताओं और विसंगतियों का यथार्थ चित्रण मिलता है। भीष्म साहनी के कथा-परिदृश्य का भी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

अल्पज्ञात परंतु महत्त्वपूर्ण कथाकार विश्वेश्वर ने आठवें दशक में कहानी लेखन शुरू किया था। उनकी कहानियों में सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अंतर्विरोधों और विसंगतियों को फंतासी के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। आमजन को कथा के केंद्र में स्थापित करते हुए विश्वेश्वर अपनी प्रतिबद्धता स्पष्ट करते हैं। उनकी 'महतारी' शीर्षक कहानी के विविध संदर्भों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

वरिष्ठ कथाकार सुधा अरोड़ा की कहानियों के आधार पर 'अनुभव की आँच में पकी कहानियाँ' शीर्षक लेख प्रस्तुत किया गया है। विषय और बनावट की दृष्टि से ही नहीं कथाकार के व्यापक अनुभव संसार को भी रेखांकित करने की कोशिश की गई है। एक बात और भी है कि कथा लेखिका की रचनाओं में निहित बहुआयामितता का उद्घाटन हुआ है।

शिवमूर्ति हमारे समय के महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं। नारी, दलित और सत्ता के संदर्भ में उनकी कहानियों का विवेचन करते हुए उनकी ग्रामीण तथा कस्बाई जन-जीवन से संबंधित चेतना पर भी प्रकाश डाला गया है। यह भी अन्वेषित किया गया है कि किन कारणों से शिवमूर्ति अपने समकालीन कथाकारों की तुलना में विशिष्ट पहचान बनाए रखते हैं।

इस पुस्तक का शीर्षक है 'भूमंडलीकरण, बाजार और समकालीन कहानी'। प्रारंभ के कुछ आलेखों को छोड़कर अन्य सभी आलेखों में भूमंडलीकरण के बढ़ते प्रभावों से उत्पन्न विरोधों और प्रतिरोधों का कुछ अन्वेषण है। यूँ कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी कहानी जगत् की मूल चिंताओं और सरोकार को उद्घाटित करने का यथासंभव प्रयास किया गया है। उदारीकरण, निजीकरण, औद्योगिकीकरण, बाजार के छल-छद्म, पूँजी और सत्ता की मिलीभगत आदि से समकालीन कथाकार के उद्वेलन को कहानी के माध्यम से शिनाख्त करने का भी प्रयास जारी रहा है। उपभोक्तावादी संस्कृति भारतीय जीवन-मूल्य को किस तरह से तहस-नहस करती आ रही है, उसका भी विवेचन

हुआ है। उदय प्रकाश, स्वयंप्रकाश, अखिलेश आदि के साथ-साथ, पंकज मित्र, संजय कुंदन, कैलाश वनवासी, सत्यनारायण पटेल, अनुज, हरिओम, गीताश्री, ज्योति चावला, अशोक कुमार पांडेय, उमाशंकर चौधरी, प्रज्ञा आदि युवा रचनाकारों के कथा-संसार से गुजरकर समय और समाज को रेखांकित करने के प्रयास में मुझे अतीव प्रसन्नता हुई है।

विश्वेश्वर की तरह अनंत कुमार सिंह, भालचंद्र जोशी, देवांशु पाल जैसे अल्प चर्चित लेकिन गंभीर रचनाकारों की कहानियों का संवेदनात्मक धरातल पर विश्लेषण किया गया है। 'टैक्स्ट' को आधार ही नहीं; विवेचन, विश्लेषण एवं स्थापना में सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया गया है।

ये सभी आलेख कहानीकारों एवं कहानियों का केवल मूल्यांकन नहीं हैं बल्कि ये अपने समय का पाठ प्रस्तुत करते हैं। ये कहानियाँ आज जितनी अपील और डिस्टर्ब करती हैं आने वाले दिनों में भी उद्वेलित करती रहेंगी, ऐसी उम्मीद की जा सकती है। यह इसलिए कि अपने समय के प्रश्नों के उत्तर किसी न किसी रूप में कहानी में निहित होते हैं।

कथा संसार में निहित समय और समाज के उद्‌घाटन से कथाकार की कथादृष्टि और जीवन दृष्टि का सम्यक् परिचय देना भी उद्‌देश्य रहा है। मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक से हिंदी कहानी के समकाल की स्थिति एवं गति को समझने में सहूलियत होगी। यदि ऐसा हुआ तो मैं अपने श्रम को सफल ही नहीं, सार्थक समझूँगा।

ये सभी आलेख हिंदी की चर्चित पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होकर प्रशंसित हुए हैं। उनमें किंचित् सुधार, संशोधन, संवर्धन, परिवर्तन और परिमार्जन करने के पश्चात् उन्हें पुस्तकाकार रूप प्रदान किया जा रहा है। मुझे उम्मीद है कि इस प्रयास से हिंदी कथा-यात्रा का परिदृश्य स्पष्ट होगा।

इस पुस्तक हेतु सहृदय पाठकों, सुधीजनों एवं विद्वानों के सुझाव सादर आमंत्रित हैं।

अन्त में, पुस्तक को सुंदर एवं आकर्षक स्वरूप प्रदान करने के लिए प्रकाशक महोदय भी धन्यवाद के पात्र हैं।

—अरुण होता

अनुक्रम

पुरोवाक् • vii

परंपरा और आधुनिकता से लबरेज कहानी—'जाह्नवी' • 1

'रोज' : मध्यवर्गीय नारी जीवन की त्रासदी • 7

रेणु की कहानियों में युग-स्पंदन • 13

भीष्म साहनी की विश्वदृष्टि • 20

अनुभव की आँच में पकी कहानियाँ • 29

नारी, दलित और सत्ता : शिवमूर्ति की कहानियाँ • 48

हाशिए के वृत्तांत का संवेदनात्मक धरातल • 60

विद्रूप और विसंगतियों से भिड़ने वाली कहानियाँ • 66

एक अलक्षित कथाकार की दुनिया से गुजरकर • 78

बाजार और साहित्य : एक आलोचकीय कथोपकथन • 92

हिंदी कहानी का मौजूदा समय : युवाओं का संसार • 114

मनुष्य विरोधी शक्तियों को पराजित करती युवा कहानी • 139

सामाजिक यथार्थ की कहानियाँ • 152

प्रतिरोध की कहानियाँ • 162

विकटतम स्थितियों में भी जिंदगी जीने का लालच • 169

समय और समाज के असली चेहरे को तलाशती कहानियाँ • 181

भूमंडलीय यथार्थ की कहानियाँ • 201

स्त्री के जीवन-यथार्थ की कहानियाँ • 208

यथार्थ से मुठभेड़ करती कहानियाँ • 215

वर्ष 2015 : कहानी की जमीन पर कुछ लकीरें • 222

हिंदी कहानी और किसान-जीवन • 233

परंपरा और आधुनिकता से लबरेज कहानी—'जाह्नवी'

हिंदी कहानी को नई दिशा प्रदान करने में जैनेंद्र की भूमिका अविस्मरणीय है। प्रेमचंद के समकालीन कथाकार होते हुए भी जैनेंद्र ने अपनी कथा-भूमि तैयार की। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के प्रति बड़ा ही आदर भाव जैनेंद्र का रहा तो प्रेमचंद का जैनेंद्र के प्रति अत्यंत समादर का भाव जागृत हुआ था। खास तौर पर युवावस्था में स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल होने के लिए जैनेंद्र ने जो जेल-यात्रा की थी, इससे प्रेमचंद उनसे काफी प्रभावित हुए थे। जैनेंद्र की प्रारंभिक कहानियों में सामाजिक और राष्ट्रीय प्रतिबद्धता स्पष्ट रूप से झलकती भी है। यदि जैनेंद्र ने अपनी प्रारंभिक कहानियों की धारा बनाई रखी होती तो प्रबल संभावना थी कि वे प्रेमचंद का अनुकरण ही किये होते। बहरहाल जैनेंद्र की कथा-प्रतिभा को प्रेमचंद ने शुरुआती दौर में भली-भाँति पहचान लिया था। उन्होंने जैनेंद्र को हिंदी का गोर्की कहा था। प्रेमचंद की प्रशंसा को जैनेंद्र कुमार ने पुरस्कार स्वरूप ग्रहण किया था। प्रेमचंद के प्रारंभिक उत्साहवर्द्धन के चलते जैनेंद्र का पहला कहानी-संग्रह 'फाँसी' 1929 में प्रकाशित हुआ। इसके बाद उनके अनेक संग्रह 'वातायन' (1930), 'नीलम देश की राजकन्या' (1931), 'एक रात' (1935), 'दो चिड़ियाँ', (1935), 'पाजेब' (1942) प्रकाशित हुए। उनके कथा-संसार में मनोविज्ञान का सर्वाधिक चित्रण हुआ है। उन्होंने लगभग अपनी 200 कहानियों में रहस्य और मनोविज्ञान की सम्मिलित भूमिका को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनकी प्रसिद्ध और अत्यंत चर्चित कहानियों में 'पाजेब', 'खेल', 'पत्नी', 'जाह्नवी', 'फोटोग्राफी', 'दो चिड़ियाँ', 'घुंघरू', 'नीलम देश की राजकन्या', 'भाभी', 'दृष्टिदोष' आदि के नाम लिये जाते हैं। जैनेंद्र की 'जाह्नवी' शीर्षक कहानी को आधार बनाकर यहाँ चर्चा की जाएगी ।

'जाह्नवी' एक मनोवैज्ञानिक कहानी है। जैनेंद्र ने मुख्य रूप से युवती जाह्नवी की मानसिक ऊहापोह और अंतर्द्वंद्व को इस कहानी का माध्यम बनाया है। सामाजिक हलचल,

वर्ग-संघर्ष, वर्ग-चेतना, राजनीतिक संदर्भ आदि का यहाँ अभाव है। सामाजिक संघर्ष-चेतना जैनेंद्र का मुख्य सरोकार नहीं है। पढ़ी-लिखी जाह्नवी के अंत:स्थल में झाँककर बाहरी सतह पर उसका चित्रण भर करना इस कथाकार का स्वभाव नहीं है। इस कहानी में उसने कथा नायिका के मानसिक संघर्ष और अंतर्द्वंद्व को जिस गहराई के साथ चित्रित किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पात्रों की मनोवैज्ञानिक चेतना के विकास को प्रभावी ढंग से निरूपित करने में कथाकार को उल्लेखनीय सफलता हासिल हुई है।

'जाह्नवी' शीर्षक कहानी में जाह्नवी, लेखक, लेखक की पत्नी, लेखक की साली, ब्रजनंदन उर्फ बिरजू आदि मानवीय पात्रों के अलावा मानवेतर प्राणी कौओं को भी शामिल किया गया है। लेकिन इसकी मुख्य पात्र जाह्नवी है। कहानी से गुजरकर यह पता चलता है कि जाह्नवी का चरित्र, उसकी मनस्थितियों और उसकी चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करने के उद्‌देश्य से अन्य उल्लिखित पात्रों को समावेशित किया गया है। अत: यह कहानी नायिका प्रधान है। आप चाहें तो जाह्नवी को कथा-नायिका और कथा-नायक दोनों का दर्जा दे सकते हैं। भले ही बिरजू से उसके विवाह का प्रस्ताव चलता है लेकिन, वह नायक नहीं कहला सकता है, क्योंकि जाह्नवी से वह इतना अधिक प्रभावित होता है कि ठाट-बाट से रहने वाला एम.ए. का छात्र ब्रजनंदन जो किसी को अपने सामने गिनता तक न था, उसमें घोर परिवर्तन आ जाता है। कहानीकार के शब्दों में—"और मैं देखता हूँ कि उस ब्रजनंदन का ठाट-बाट आप ही कम होता जा रहा है। सादा रहने लगा है और अपने प्रति सगर्व बिल्कुल भी नहीं दीखता है। पहले विजेता बनना चाहता था, अब विनयावनत दिखता है और आवश्यकता से अधिक बात नहीं करता।" पारंपरिक शास्त्र के अनुसार वह फल का भोक्ता भी नहीं है। अत: ब्रजनंदन को कथा-नायक नहीं कहा जा सकता है। जाह्नवी के अत्यंत प्रभावशाली व्यक्तित्व के सामने वह टिकता भी नहीं। लेखक ने स्पष्ट शब्दों में कहा भी है—"बाईस छोड़ बयालीस का भी हो जाय। देखा नहीं कैसे ठाट से रहता है। यह लड़की देखो, कैसी बस सफेद साड़ी पहनती है। बिरजू इसके लायक कहाँ है?" जाह्नवी की मन:स्थितियों को उघाड़ने में कहानी के अन्य सभी पात्र सहायक बनकर आते हैं। यहाँ तक कि छत पर कौओं का काँव-काँव करना और जाह्नवी के बुलाने पर उसके इर्द-गिर्द मंडराना अथवा उसके शरीर पर बैठ जाना भी जाह्नवी के विविध मनोभावों के संकेतक हैं।

इस कहानी में एक अदृश्य पात्र भी है जिसके बारे में कहानी में संकेत मात्र है। यूँ कहा जा सकता है कि रहस्य का आवरण है। उससे जाह्नवी प्रेम करती है और उसे पाने की उम्मीद में कौओं को रोटियाँ खिलाती है। वह विरहिणी है, परंतु जाह्नवी कहीं भी निराश प्रतीत नहीं होती है।

जाह्नवी 'सादा जीवन और उच्च विचार' की कहावत को चरितार्थ करती है। अपनी उम्र की तुलना में वह अधिक 'मैच्योर' भी है। उसके आचरण से कहानी का 'मैं' यानी कथावाचक न केवल प्रभावित होता है बल्कि जाह्नवी के गुणों का प्रशंसक भी है। जाह्नवी का बिरजू के नाम लिखे पत्र के बारे में पता चलता है तो लेखक जाह्नवी को लेकर गर्वित होना नहीं भुलाता—''उस पत्र को देखकर मेरे मन में कल्पना हुई कि अगर वह मेरी लड़की होती तो? मुझे यह अपना सौभाग्य मालूम नहीं हुआ कि जाह्नवी मेरी लड़की नहीं है। उस पत्र की बात कई बार मन में उठी है और घुमड़ती रह गई है। ऐसे समय चित्त का समाधान उड़ गया है और मैं शून्य भाव से, हमें जो शून्य चारों ओर से ढंके हुए है उसकी ओर देखता रह गया हूँ।'' दरअसल, उस छोटे-से पत्र में जाह्नवी ने अपनी मानसिक स्थितियों को उकेर कर रख दिया है। मध्यवर्गीय शिक्षित युवती का अंतर्द्वंद्व और उसकी विवशता का यथार्थ चित्रण हुआ है। उसकी पीड़ा और निस्सहायता, उसकी दृढ़ता और उधेड़बुन आदि मानसिक स्थितियाँ उस संक्षिप्त पत्र से उजागर हो जाती हैं—''विवाह में आप मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को दे ही दूँगी। आपके चरणों की धूलि माथे से लगाऊँगी। आपकी कृपा मानूँगी। कृतज्ञ होऊँगी। निर्णय आपके हाथ है। जो चाहे, करें।'' मालती की इस विशिष्ट मन:स्थिति को जैनेंद्र ने एक छोटे-से पत्र के माध्यम से प्रस्तुत करने में अद्भुत सफलता पाई है। विवाह के लिए स्वीकृति है तो अपने 'चित्त की हालत इस समय ठीक नहीं' की स्पष्ट घोषणा भी। 'विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान की पात्रता' का अपने में अभाव पाती है। मध्यवर्गीय परिवार की कन्या के अंत:करण में होने वाली हलचल और उसके अंतर्द्वंद्व का साकार रूप यहाँ परिलक्षित होता है। इसे जैनेंद्र की कहानी-कला की बड़ी विशेषता भी कह सकते हैं। संकेतों के प्रयोग में भी कथाकार को अपेक्षित सफलता मिली है। कौए रोटी खाने के बाद चले जाते हैं तो जाह्नवी की मनोदशा का यूँ चित्रण किया गया है—''लड़की के ओंठ खुले थे, दृष्टि थिर थी। जाने भूली-सी वह क्या देखती रह गई थी।'' इन चंद शब्दों में जाह्नवी की चिंतामग्न स्थिति, अतीत की सुखद स्मृतियों में डूबे रहने की मनोदशा को बड़ी शिद्दत के साथ प्रस्तुत किया गया है। ऐसा चित्रण बिना संकेतात्मकता से संभव नहीं है। मनोवैज्ञानिक कहानी में पात्रों की गतिविधियों के माध्यम से मनोविश्लेषण की प्रविधि को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया जाता है। हिंदी कथा-दुनिया में जैनेंद्र और अज्ञेय इस कला में निपुण हैं। तभी तो राजेंद्र यादव ने इन दोनों कथाकारों के संदर्भ में लिखा है—''संकेत इतना भी बारीक हो सकता है कि पाठक ताकता रह जाए—कभी कहानी की ओर, कभी लेखक के अदृश्य मोड़ की ओर। जैनेंद्र और अज्ञेय की कहानियाँ घटना-प्रधान नहीं होती हैं, ये चरित्रप्रधान हैं। अत: मानसिक स्थितियों के अंकन हेतु संकेतधर्मिता आवश्यक प्रतीत होती है। यहाँ

कथानक से अधिक मर्मस्थितियों के चित्रण और मानसिक उद्घाटन पर अधिक बल दिया जाता है। भावना का संबंध मानसिक स्थितियों से होता है।'' 'जाह्नवी' शीर्षक कहानी में भी हमें ये विशेषताएँ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं।

'जाह्नवी' में लेखक की पत्नी के माध्यम से यह पता चलता है कि जाह्नवी किसी की आशनाई में फँसी हुई है। जाह्नवी का कौओं को बुलाकर रोटियाँ खिलाना और जायसीकृत 'पद्मावत' की निम्नलिखित पंक्तियाँ गाकर बार-बार सुनाना—

''कागा चुन-चुन खाइयो...
दो नैना मत खाइयो....
पीऊ मिलन की आस।''

जाह्नवी के विरहिणी रूप को पुष्ट करता है। लेकिन कौन है उसका प्रियतम, क्या करता है, कहाँ का निवासी है, आदि के बारे में कुछ भी पता नहीं चलता है। इस पर एक रहस्यवादी कुहरे का आवरण है। अस्पष्टता है। न केवल इसी कहानी में बल्कि जैनेंद्र की अन्य कहानियों में भी यह आवरण बार-बार दिखाई पड़ता है। इस संदर्भ में कथाकार ने किसी इंटरव्यू में कहा था—''मैं किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता जो मात्र लौकिक हो, जो संपूर्णता से लौकिक धरातल पर रहता हो। सबके भीतर हृदय है जो सपने देखता है, सबके भीतर आत्मा है जो जगाती रहती है, जिसे शत्रु नहीं छूता, आग नहीं जलाती, सबके भीतर वह है जो अलौकिक है। मैं वह स्थल नहीं जानता जहाँ वह अलौकिक न हो, जहाँ वह कण है, जहाँ परमात्मा का निवास नहीं है। इसलिए मैं आलोचक से कहता हूँ कि जो 'अलौकिक' है वह भी तुम्हारी ही कहानी है, तुमसे अलग नहीं है।''

चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर कहानी का अंत अत्यंत रोचक बन पड़ा है। इस रोचकता में जाह्नवी का बिरजू को लिखा गया पत्र कहानी का उत्कर्ष है। इससे जाह्नवी का किसी के प्रेम-पाश में आबद्ध होने की घटना का संकेत मिलता है। रोचकता से भरपूर अंत और आकस्मिकता से लेखक की कहानी कहने की कला से भी पाठक अच्छी तरह से रू-ब-रू होता है। छोटे-छोटे वाक्य, सहज और सरल शब्द, स्वाभाविक संवाद नियोजन, मनोवैज्ञानिक सत्य का समावेश आदि गुणों से युक्त जैनेंद्र की कहानी उन्हें कुशल कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

जैनेंद्र ने 'जाह्नवी' कहानी के माध्यम से मध्यवर्गीय मानसिकता, रूढ़िग्रस्तता, संकीर्ण मनोवृत्ति आदि की ओर भी संकेत किया है। लेखक की पत्नी के माध्यम से इस पुरातन मानसिकता को भली-भाँति उजागर किया गया है। इस संदर्भ में कहानी के निम्नलिखित वाक्य दृष्टव्य हैं—

(क) वह लड़की आशनाई में फँसी थी। पढ़ी-लिखी सब एक जात की होती हैं।

(ख) वह लड़की घर में आ जाती तो मेरा मुँह अब दिखाने लायक रहता?

(ग) वह तो मुझे पहले ही से दाल में काला मालूम होता था।

कहना न होगा कि बदलते समय के अनुसार लेखक की पत्नी ताल-मेल मिलाकर चलना नहीं चाहतीं। वे अपनी सनातनी मानसिकता और संकुचित दायरे में बंधकर नई पीढ़ी का मूल्यांकन कर रही हैं। उनकी दृष्टि में प्रेम करना पाप है। विवाह के पहले लड़की अपनी मनःस्थिति पत्र के माध्यम से होने वाले पति को बताना संस्कृति के विरुद्ध है। मध्यवर्ग की इस सीमित मानसिकता को कथाकार ने सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। रचनाकार की यह विशेषता रही है कि वह व्यक्ति मन के भीतर चलने वाले द्वंद्व और उथल-पुथल को कथा के सूत्रों में पिरोता है। खुशी की बात है कि कथावाचक की दृष्टि प्रगतिशील है। वह समय और समाज की नब्ज को पहचानता है। ब्रजनंदन भी कथावाचक की सोच के साथ खड़ा पाया जाता है। तभी तो वह अपने दूर के रिश्ते के चाचा के सामने अपने मन की बात खुलकर रखता है—"मैं और विवाह करूँगा ही नहीं, करूँगा तो उसी से करूँगा।" जैनेंद्र द्वंद्व और अंतर्द्वंद्व के चित्रण में सिद्धहस्त हैं। बाह्य क्रियाकलापों की तुलना में अंतःकरण की हलचलों को उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। इसलिए उनकी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक कहानी की कसौटी पर खरी उतरती हैं।

अस्तु, 'जाह्नवी' एक सफल मनोवैज्ञानिक कहानी है। इसमें व्यक्ति के अंतर्जगत का बड़ा सूक्ष्म लेकिन रोचक अध्ययन हुआ है। पात्रों की गतिविधियों, क्रियाकलापों के वर्णन द्वारा चरित्र-चित्रण मनोज्ञ ढंग से हुआ है। पात्रों के संक्षिप्त तथा स्वाभाविक संवाद के माध्यम से चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन किया गया है। उनके अंतर्द्वंद्व और तनाव में भी धीर तथा शांत बने रहने की स्थिति का भी प्रभावी अंकन हुआ है। उदाहरण के तौर पर जाह्नवी के चरित्र को रखा जा सकता है जो विपरीत परिस्थिति में भी अपनी हिम्मत नहीं हारती।

पात्रानुकूल, प्रसंगानुकूल संवाद योजना इस कहानी की बड़ी खूबी है। संवाद प्रायः लंबे नहीं हैं। कहीं-कहीं तो एक-दो शब्दों से संवाद प्रस्तुत हुआ है। चरित्रप्रधान कहानी होने के चलते इसमें लंबी-चौड़ी घटनाओं का अभाव है। कहानी का शीर्षक 'जाह्नवी' कहानीकार की उत्तम सूझबूझ का परिचायक है। यह शीर्षक छोटा तो है ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र के नामानुसार भी है। उल्लेख किया जा चुका है कि जाह्नवी के इर्द-गिर्द पूरी कहानी परिक्रमा करती है। जाह्नवी की सोच, उसकी प्रेम-चेतना, आदि गंगा की पवित्र धारा की तरह संपूर्ण कहानी में प्रवाहमान है।

एक बात और भी है कि इस कहानी में परंपरा और आधुनिकता का सुंदर समन्वय हुआ है। कहीं परंपरा के प्रति अतिशय आग्रह है तो कहीं आधुनिकता के प्रति लगाव। कौओं को बुलाकर रोटियाँ खिलाना और अपने मनोभावों को जाहिर करने के पीछे सदियों से चली आ रही मान्यता को उजागर करना है कि कौए हमारे पूर्वज के रूप में आते हैं। पितृ-पक्ष में तो वे हमारे परम आदरणीय होते हैं। जाह्नवी के चरित्र में परंपरा और आधुनिकता का सुंदर मेल है तो कथावाचक में आधुनिकता के प्रति खास तरह का आकर्षण है। रूढ़ि और संकीर्णता के विरुद्ध विद्रोह का स्वर मुखर न होते हुए भी सांकेतिक है।

'जाह्नवी' कहानी की पठनीयता जबर्दस्त है। महत्त्वपूर्ण कथानक का अभाव होते हुए भी पूरी कहानी पाठक को बाँधे रखने की सामर्थ्य रखती है। इसका मूल कारण है भाषा और शैली की निरडंबरता और इनका सहज तथा स्वाभाविक प्रयोग। एक उदाहरण दृष्टव्य है—"कौओ आओ, कौओ आओ...कौओ खाओ, कौओ खाओ...पर एक बात है कि ओ कौओ, जो तन चुन-चुनकर खा लिया जाएगा, उसको खा लेने में मेरी अनुमति है। वह खा-खुकर तुम सब निपटा देना। लेकिन ऐ मेरे भाई कौओ, इन दो नैनों को छोड़ देना। इन्हें कहीं ना खा लेना। क्या तुम नहीं जानते कि उन नैनों में एक आस बसी है जो पराये के बस है। वह नैना पीउ की बाट में हैं। ऐ कौओ, वे मेरे नहीं हैं, मेरे बस के नहीं हैं। वे पीउ की आस को बसाए रखने के लिए हैं। सो, उन्हें छोड़ देना।" संवेदना के व्यापक धरातल को भी यहाँ देखा जा सकता है। अत: संवेदना और शिल्प दोनों की दृष्टि से 'जाह्नवी' एक अत्यंत सफल कहानी है।

• ● •

'रोज' : मध्यवर्गीय नारी जीवन की त्रासदी

प्रेमचंद के परवर्ती कहानीकारों में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने कथा-साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों के माध्यम से कथानक, चरित्र-चित्रण और घटनाओं को महत्त्व प्रदान किया। लेकिन, अज्ञेय ने संवेदन प्रधान कहानी का नेतृत्व करते हुए हिंदी कहानी को नई गति और दिशा प्रदान की। प्रेमचंद ने 'मानव चरित्र' का चित्र अंकन किया है तो अज्ञेय ने मानव मन की गहराई को व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है। व्यक्ति-मन के गहनतर स्तर तक पहुँचकर अज्ञेय की कहानियाँ उसके रेशे-रेशे की सूक्ष्म अभिव्यक्ति बड़ी शिद्दत के साथ प्रस्तुत करती हैं। ऐसा सोचना गलत होगा कि अज्ञेय की कथा दुनिया में उनका समकाल और समाज अनुपस्थित हैं। सामाजिक संदर्भों का अभाव है। दरअसल, अज्ञेय ने इन्हें आधार-भूमि के रूप में स्वीकार किया है। उनके पात्रों का मानस पटल समाज के बीच में ही निर्मित हुआ है। इसलिए उनकी कहानियों में सामाजिक विषमता और अन्याय के प्रति विरोध सांकेतिक रूप में व्यक्त हुआ है।

अज्ञेय बहुमुखी प्रतिभावान रचनाकार हैं। मूलतया कवि अज्ञेयजी ने कहानी उपन्यास यात्रा-वृत्तांत, निबंध, आलोचना, नाटक आदि साहित्य की विविध विधाओं को अपने लेखन से समृद्ध किया है। उनके कहानी-संग्रह निम्नलिखित हैं—'विपथगा', 'भग्नदूत', 'छोड़ा हुआ रास्ता', 'लौटती पगडंडियाँ' और 'ये तेरे प्रतिरूप'। इन पाँच संग्रहों में लगभग सत्तर कहानियाँ संकलित हैं। इनमें मनोविज्ञान, प्रेम, सेक्स, रोमांस, सामाजिक संदर्भ से संबंधित कहानियाँ पाई जाती हैं। घटनाओं के वर्णन की अपेक्षा मनुष्य के अंतर्मन की परतों को खोलने की कोशिश इन कहानियों में साफ नजर आती है। 'शेखर एक जीवनी' में हो या 'अपने अपने अजनवी', उपन्यासकार अज्ञेय ने फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांत का बड़ा अच्छा प्रयोग किया है।

'रोज' अज्ञेय की एक बहुचर्चित कहानी है। यह कहानी अज्ञेय के प्रथम कहानी संग्रह 'विपथगा' के पहले संस्करण में है। अपने डलहौजी-प्रवास के समय 1934 में 'गैंग्रीन' शीर्षक से यह कहानी लिखी तथा प्रकाशित हुई थी। लेकिन बाद में इसका शीर्षक बदलकर 'रोज' कर दिया गया था। इस कहानी में विवाहित स्त्री जीवन में व्याप्त जड़ता, अभावग्रस्तता, यांत्रिकता, सामाजिक स्थिति, पारिवारिक जीवन की त्रासदी आदि पर गहरी चिंता व्यक्त हुई है। कहना न होगा कि नारी जीवन की इन समस्याओं की ओर दृष्टि डालने तथा उन्हें कथा में अंकित करने वाले अज्ञेय हिंदी के पहले कहानीकार हैं। 1934 के बाद भारतीय समाज व्यवस्था में विवाहित नारी के जीवन में एकरसता, उबाऊपन, यांत्रिकता आदि के भयानक रूप धारण कर लिया था जिसे कहानीकार ने समय से पहले लक्षित कर लिया था। रोज एक ही ढर्रे पर चलनेवाली दिनचर्या से पत्नी तथा पति के जीवन में कैसी उबाहट भर जाती है तथा जीवन में उल्लास एवं उमंग रह नहीं जाते हैं, इस ओर भी कथाकार ने पाठकों का ध्यानाकर्षण किया है। साथ ही उसने पात्रों के मनोव्यापारों का मनोज्ञ चित्रण किया है।

किसी भी परिवार में स्त्री का योगदान सर्वाधिक होता है। पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाने में उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। इस कहानी की मालती की यंत्रणा वैवाहिक जीवन के माध्यम से सीमित परिवेश में बीतते दुःखद जीवन का चित्रण है। यह हमारी सामाजिक व्यवस्था के समक्ष एक बड़ा प्रश्नचिह्न है कि परिवार की धुरी स्त्री उत्साहहीन और उमंगरहित जीवन बिताए और मशीन बन जाए तो परिवार और समाज निर्माण का कैसा स्वरूप खड़ा होगा? पुनः इस कहानी में सामंती मूल्यों की शिकार स्त्री की विवशताएँ भी चित्रित हुई हैं। पति महेश्वर के दिन के तीन बजे भोजन करने के बाद ही मालती भोजन करती है। इसके माध्यम से लेखकीय अंतर्दृष्टि का परिचय मिलता है। एक बात और भी है कि मालती की घुटनभरी जिंदगी और उसकी पीड़ा केवल मालती की ही नहीं रह जाती है। यह संपूर्ण भारतीय स्त्री-जाति की पीड़ा और त्रासदी को उजागर करती है। उबाहट, यांत्रिक जीवन, एकरसता महेश्वर के जीवन में भी है। पहाड़ी गाँव की डिस्पेंसरी में एक ही तरह के मरीजों का आना, एक जैसी दवाई, वही गैंग्रीन का ऑपरेशन, दिनचर्या भी अपरिवर्तित। बच्चे टिटी का चिड़चिड़ा हो जाना, रोज पलंग से गिर जाना आदि भी बड़ी चिंता का विषय है। मध्यमवर्गीय जीवन की विसंगतियों और विडंबनाओं को मालती के परिवार के माध्यम से रूपायित किया गया है। बावजूद इसके, कहानीकार ने गहरी आत्मीयता और संवेदनशीलता के साथ मालती के अंतर्मन में गहरी पैठ बनाई है। उसके अंतर्मन को साकार करते हुए लेखक ने अपनी रचना दृष्टि का भी परिचय प्रदान किया है। मौन की स्थिति को भी

कथावाचक रूपायित करते हुए आधुनिकताबोध के गहरे अवसाद का अंकन करता है— ''मालती एक बिल्कुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस, यंत्रवत्—वह भी थके हुए यंत्र के-से स्वर में कह रही है, 'चार बज गये'...मानो इस अनैच्छिक समय गिनने-गिनाने में ही उसका मशीन तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडोमीटर यंत्रवत् फासला नापता जा रहा है और यंत्रवत् विश्रांत स्वर में कहता है (किस से?) कि मैंने अपने अमित शून्य पथ का इतना अंश तय कर लिया....' मालती के यंत्रवत् जीवन का चित्रण कहानी के प्रारंभ, विकास और चरमोत्कर्ष में मौजूद है। अपने रिश्ते के भाई का स्वागत औपचारिक ढंग से करना, टिटी के पलंग से गिर जाने पर भी ममत्व का उद्रेक न होना और चाँदनी रात में चीड़ के पेड़ों के सौंदर्य को महसूस न कर पाना थके हुए यंत्र-सा जीवन व्यतीत करना है। संवेदनहीन जीवन यंत्र की भाँति है। मालती जी रही है, क्योंकि उसे जीने की विवशता है। कर्त्तव्यपालन को उसने अपने जीवन का धर्म मान लिया है। न तो उसकी अपनी कोई इच्छा रह गई है, न ही कोई आकांक्षा और न ही अभीप्सा।

इस कहानी में मालती की मन:स्थितियों का कुशलतापूर्वक चित्रण हुआ है। वह कथावाचक के सामने होते हुए भी दूर कहीं अतीत में खोई हुई है। वह वर्तमान में साँस ले रही है लेकिन, अतीत में जी रही है। यह अतीत मालती के लिए जितना सरस था, उतना ही जीवंत। जड़वत् बैठी हुई मालती सुखद व्यतीत को लौटा लाने अथवा उसे पुनरुज्जीवित करने की असफल कोशिश कर रही थी। इस मानसिक जड़ता का चित्रण कहानीकार के शब्दों में—''मानो मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमंडल को पुन: जगाकर गतिमान करने की। किसी टूटे हुए व्यवहार तंतु को पुनरुज्जीवित करने की और चेष्टा में सफल न हो रहा हो...वैसे-जैसे बहुत देर से प्रयोग में न लाये हुए अंग को व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नहीं है, चिर-विस्मृति में मानो मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता...मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो किसी जीवित प्राणी के गले में किसी मृत जंतु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतार कर फेंकना चाहे, पर उतार न पाये....''

मालती की मानसिक ऊहापोह, उसके अंतर्द्वन्द्व, बाह्य स्थिति और मानसिक दशा का संश्लिष्ट वर्णन आदि के द्वारा कहानीकार ने मालती के मनोजगत् का सुंदर रूपायन किया है। इस कहानी का कथानक किसी घटना पर आधारित नहीं है। यह चरित्र केंद्रित है लेकिन, यहाँ भी प्रेमचंद की कहानियों का चरित्र-चित्रण नहीं है। चरित्र-चित्रण करना रचनाकार का उद्देश्य नहीं रहा है। चरित्र साधन है जबकि जीवन की एकरसता और ऊब को प्रकट करना उस स्थिति से आसन्न समस्याओं की ओर इशारा करना साध्य

है। इस कहानी की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसमें एक परिवार, एक दिन और एक ही चरित्र की प्रधानता है। इसका कथानक संश्लिष्ट बना हुआ है। साथ ही, संवेदना कहीं भी बिखरती नहीं है। मालती का चंचल, चिंतारहित और नटखट बचपन का साक्षी लेखक रहा है। मालती की मौजूदा स्पंदनहीनता से वह आहत है। मालती के स्वभाव में आने वाले इस जमीन आसमान के अंतर को और उसके कारणों को अन्वेषित करते हुए लेखक ने दमघोंटू और उबाऊ वातावरण को जिम्मेदार ठहराया है। मालती के घर में जीवन एकरसता से भरपूर है। इससे संवेदनशून्यता ने जन्म लिया है। जीवन की प्रकृति संवेदनामय होना है। लेकिन रोज-रोज की वही बातें, वही प्रसंग और दिनचर्या से ऊब जाना कोई आश्चर्य नहीं है। इसलिए घुटन उसकी नियति बन जाती है। गतिहीनता की स्थिति निर्मित होती है। मन उचटता रहता है। अकेलापन, टूटन और घुटन पसरते चले जाते हैं। जीवन उल्लासमय नहीं अवसादग्रस्त हो उठता है। ऐसी स्थिति में भी बिजली की कौंध की तरह जिजीविषा चमक उठती है। बड़ा रचनाकार हताश और उदास नहीं करता है। उसकी रचना में एक उम्मीद या संभावना बनी अवश्य रहती है। सरकारी अस्पताल की दुर्दशा और रोगियों की मृत्यु के प्रसंग में मालती अपने पति पर व्यंग्य करते हुए कहती है—"सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। मैं तो रोज ही ऐसी बाते सुनती हूँ।" अब भी थोड़ी-सी संवेदना मालती में बची हुई है। इस बचे हुए को बचाए रखने का प्रयास कहानी को उल्लेखनीय ही नहीं कालजयी भी बनाता है। जैसे, बचपन में रोज किताब के दस-पंद्रह पृष्ठ फाड़कर फेंक देने वाली मालती का मन पढ़ाई में कभी न लगता था। इसलिए वह पिटी गई थी। वही मालती कागज के टुकड़े को मद्धिम प्रकाश में बेचैन होकर पढ़ती रहती है। जीवन की जड़ता के बीच चेतना और जिजीविषा का यह दृष्टांत कहानी को नये आयाम प्रदान करता है। कहानी की महनीयता भी स्वयंसिद्ध हो जाती है। मालती अपने घुटनभरे जीवन से निकलना चाहती है। यह सच है कि यह जीवनेच्छा कहानी की मूल संवेदना नहीं है। मुख्य स्वर उसकी सहनशीलता, कर्त्तव्यनिष्ठा, घुटनभरी जिंदगी है। लेकिन, जड़ता के बीच चेतना और नीरसता में सरसता की एक धीमी आँच भी कहानी को महत्त्वपूर्ण बनाने में बड़ी सहायता करती है।

'रोज' शीर्षक कहानी से गुजर कर एक सवाल पाठकों के मन में उभर सकता है कि आखिर अज्ञेयजी ने मालती को समझौतावादी और सहनशील नारी के रूप में क्यों चित्रित किया है? वह चुनौती क्यों नहीं देती? सब कुछ सहकर क्यों रहती है? ध्यान देना होगा कि मालती पत्नी है, माँ भी है। पति और पुत्र दोनों उस पर आश्रित हैं। इसलिए गृहस्थी की गाड़ी को धकेलने के लिए वह भुला बैठती है अपने 'स्व' को। पुनः 1934 के आस-पास मध्यवर्गीय भारतीय परिवार में नारी की मनःस्थितियों का यथार्थ अंकन

करना लेखक का एक उद्देश्य रहा है। रही बात चुनौती की तो उसके बारे में यह भी कहा जा सकता है कि मालती के मौन में चुनौती का भाव भरा हुआ है।

इस कहानी में मालती महेश्वर के माध्यम से पहाड़ी जीवन की असुविधाओं को भी सांकेतिक रूप में अभिव्यक्त किया गया है। समय पर पानी न आना, सब्जी का अभाव, किताबों और पत्रिकाओं का अभाव, आदि पहाड़ी गाँव के लोगों के जीवन को दुर्गम बनाते हैं। समय काटना मुश्किल हो जाता है। अभावों से गुजरते हुए घंटाध्वनि गिनने-गिनाने में सहनशीलता के साथ, समझौतापरस्त नारी की त्रासदी को कहानीकार ने सफलतापूर्वक चित्रित किया है।

कहानी के शीर्षक 'रोज' के औचित्य पर अति संक्षेप में चर्चा करना अनुचित न होगा। 'गैंग्रीन' की तुलना में 'रोज' कहीं अधिक सार्थक है। यद्यपि कहानी में मालती और महेश्वर के दिनभर की गतिविधियों और उनकी मनःस्थितियों की चर्चा है तथापि ये सिलसिले नित्य चलते हैं। पूरी कहानी में 'रोज' की प्रतिध्वनि लगातार ध्वनित होती है। महेश्वर के संदर्भ में—सबेरे उठते ही चले जाना, नित्य वही काम, वैसे ही मरीज, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ, कोई डेढ़ बजे लौटना, रोज ही ऐसा होता है। मालती के संदर्भ में—रोज ही ऐसी बातें सुनती हूँ, पानी का समय पर न आना रोज की बात है। रोज समय गिनते-गिनाती है। टिटी के संदर्भ में—रोज ही गिर पड़ता है। एक दिन की दिनचर्या से समय की प्रवहमान चेतना को भली-भाँति पकड़ लिया गया है। सभी पात्र 'अदृश्य छाया' की चपेट में आकर मशीन की तरह जीवन जीने को बाध्य हो रहे हैं। यह शीर्षक प्रसंगानुकूल, संक्षिप्त, संकेतधर्मी तथा व्यंजनाधर्मी है। अतः कहानी का शीर्षक सर्वदा उपयुक्त तथा सार्थक प्रतीत होता है।

कहानीकार ने इस कहानी में द्वितीय पुरुष वाचकता के दृष्टिकोण से कथा के तत्वों को विस्तृत किया है। इससे कहानी में विश्वसनीयता और प्रभावोत्पादकता जैसे गुणों का समावेश हुआ है। कथावाचक पात्रों की चेतना में प्रवेश कर उनके मानसिक व्यापारों का उद्घाटन करता है। इतना ही नहीं, वह वातावरण को भी मूर्त करने का सुंदर प्रयास करता है—''मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुंब में कोई गहरी, भयंकर छाया घर कर गई है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गई है, उनका इतना अभिन्न अंग हो गई है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, मैंने उस छाया को देख लिया।''

आधुनिकताबोध से भी इस कहानी की चर्चा की जा सकती है। अज्ञेय के अध्येता भोलाभाई पटेल ने प्रस्तुत कहानी की समीक्षा आधुनिकता के संदर्भ में की है। उन्होंने इसे आधुनिकता को पूर्ण रूप से उभारने वाली कहानी के रूप में प्रस्तुत किया है। आधुनिक समाज जीवन में पाए जाने वाले तमाम बिंदुओं को भी उन्होंने इस कहानी में अन्वेषित किया है—''एकदम 'गैंग्रीन' शब्द हमारे मन में भी एक नये आयाम को

उद्भासित करता है। मालती को और स्वयं डॉक्टर को भी काँटा चुभ गया है लेकिन उसका कोई पता भी नहीं है।...गैंग्रीन के साथ घड़ी का भी उल्लेख है। गैंग्रीन जैसे रोगग्रस्त स्थिति का प्रतीक है और घड़ी गतिहीन समय का। समय बीतता है, परंतु कोई गति नहीं। घड़ी के अंकों के साथ मालती के दैनंदिन जीवन की एकरूप यांत्रिकता गुँथी हुई है।'' (अज्ञेय : एक अध्ययन, पृ. 312)

कहानी में उतार-चढ़ाव नहीं के बराबर है। पाठक प्रतीक्षा करता है कि अब कुछ घटित होगा, लेकिन वैसा कुछ भी नहीं होता। भोलाभाई पटेल लिखते हैं—''पाठक की चिर अभ्यस्त अपेक्षा को तोड़ने में यहाँ हम हिंदी कहानी में आधुनिकता की प्रथम विजय देखते हैं।'' (वही, पृ. 320)

'रोज' में कहानीकार ने मालती के चरित्र-चित्रण हेतु अंतर्द्वन्द्व की प्रस्तुति, संक्षिप्त संवाद, आदि विधियों को अपनाया है। भाषा के कुशल प्रयोग का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है यह कहानी। तत्सम, तद्भव और बोलचाल की शब्दावली का समुचित प्रयोग हुआ है। लेकिन इस कहानी में अनेकत्र संस्कृतनिष्ठ भाषा के प्रयोग से रचनाकार की अभिजात रुचि का स्पष्ट परिचय मिलता है।

प्रस्तुत कहानी में द्वितीय पुरुष वाचकता की कलात्मकता सर्वत्र परिलक्षित होती है। लेखक ने पात्रों और वातावरण को जीवंत बनाने के क्रम में न तो अपनी ओर से कुछ जोड़ा है और न ही कुछ छोड़ा है। उसने पूर्व-दीप्ति शैली का भी प्रयोग किया है। पात्रों के कार्य-व्यापारों से कथावाचक की अनुभूतियाँ निःसृत होती हैं। संकेतात्मकता, लाक्षणिकता, प्रवाहधर्मिता, स्वाभाविकता और पात्रानुकूलता 'रोज' की भाषा-शैली का मूल वैशिष्ट्य है। अतः कहा जा सकता है कि संवेदना और शिल्प की दृष्टि से 'रोज' न केवल अज्ञेय की बल्कि हिंदी कथा संसार की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कहानी है। 'रोज' शीर्षक कहानी से हिंदी कहानी-साहित्य में नई भूमि तैयार होती है। यह एक दिलचस्प अध्ययन हो सकता है कि 'नई कहानी' आंदोलन के दौर में लिखी गई कहानियों को 'रोज' ने कहाँ तक प्रभावित किया है।

रेणु की कहानियों में युग-स्पंदन

"मेरे साधारण पाठक मेरी स्पष्टवादिता तथा सपाटबयानी से सदा संतुष्ट हुए हैं और साहित्य के राजदार पंडित-कथाकार आलोचकों ने हमेशा नाराज होकर मुझे एक जीवन-दर्शन हीन, अपदार्थ, अप्रतिबद्ध, व्यर्थ, रोमांटिक प्राणी प्रमाणित किया है...सारे तालाब को गंदा करने वाला जीव। इसके बावजूद कभी मुझसे इससे ज्यादा नहीं बोला गया कि अपनी कहानियों में मैं अपने को ही ढूँढ़ता फिरता हूँ। अपने को अर्थात् आदमी को।"

—रेणु रचनावली, खंड एक, परिशिष्ट, सं. भारत यायावर

यह अत्यंत दु:खद है कि फणीश्वरनाथ रेणु (1921-1977) को हिंदी जगत् ने उस ढंग से समझने का प्रयास नहीं किया जैसा कि अपेक्षित था। आलोचकों ने अपने-अपने चश्मे से रेणु को देखा। उन्होंने किसी एक पैमाने पर मापने का प्रयत्न किया और उस मानदंड पर रेणु की रचना खरी न उतरी तो उसे 'अपदार्थ, अप्रतिबद्ध, व्यर्थ' आदि घोषित कर दिया। रेणु 'मैला आँचल' ही है। आँचलिक उपन्यास की धारा का अद्वितीय उपन्यास इसे घोषित करते हुए आलोचकों की दुनिया ने रेणु की रचना के साथ उचित न्याय नहीं किया है। रेणु ने केवल 'मैला आँचल' तो लिखा नहीं, और भी पाँच उपन्यास लिखे थे। माना कि 'मैला आँचल' अप्रतिम है परंतु ऐसा तो नहीं हो सकता कि अन्य पाँच उपन्यासों में भी बहुत कुछ ऐसे वैशिष्ट्य हैं जिनका उद्घाटन ही न हो। दरअसल रेणु को आँचलिक कथाकार के रूप में प्रस्तुत करते हुए आलोचना जगत् न तो रेणु की रचनाओं के साथ न्याय कर पाता है और न ही रेणु के साथ। आलोचकों के मस्तिष्क में आँचलिकता की अवधारणा इतने प्रबल रूप से हावी होती रहती है कि स्वत: रेणु की रचनाओं के अनालोचित पक्ष छूट जाते हैं। रेणु की कहानियों के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ है। 'तीसरी कसम' बस प्रेम-कहानी बनकर रह गई। 'ठुमरी' (1959), 'आदिम रात्री की महक' (1967) और 'अग्निखोर' (1974) की अन्य

अनेक कहानियाँ भी विविध संदर्भों में चर्चित नहीं हुईं। इसलिए रेणु की कहानियों के संदर्भों तथा परिप्रेक्ष्यों को समझना अति आवश्यक है। आधी शताब्दी पूर्व लिखी गई रेणु की कहानियों का फिर से चिंतन-मनन करना आज की परिस्थितियों की माँग है। उन्हें फिर से पढ़ना ही नहीं, उनका चिंतन करना भी जरूरी है।

रेणु की रचनाओं को प्रेमचंद की रचनाओं के साथ तुलना करते हुए कुछ आलोचकों ने रेणु की कहानियों को कमतर आँकने का भी प्रयास किया है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'तीसरी कसम' पर सविस्तार चर्चा करते हुए लिखा है—"कमी इस कहानी में नहीं, रेणु की कहानियों में है। उनकी कहानियाँ—हिरामन की ही तरह आम रास्ता छोड़कर बगल का रास्ता अपनाती है। वे प्रायः निम्नवर्गीय अवर्णों पर आधारित होते हुए भी वे उनके आर्थिक-संघर्ष को केंद्र में नहीं रखती।" (कुछ कहानियाँ : कुछ विचार, पृ. 71, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., पहला संस्करण, 1998) मूल बात तो यह है कि दोनों में तुलना नहीं होनी चाहिए। प्रेमचंद प्राक्-स्वातंत्र्य काल के रचनाकार हैं और रेणु स्वातंत्र्योत्तर काल के। यद्यपि यह सच है कि 1942 में रेणु की कहानियाँ आने लगी थीं तथापि उन्हें सन् पचास के बाद विशेषतः 1954 में 'मैला आँचल' के चलते प्रसिद्धि मिलती है। खैर, स्वतंत्रता आंदोलन की उथल-पुथल और सामाजिक तथा राजनीतिक संघर्ष प्रेमचंद के रचना-ससार के लिए प्रेरक-बिंदु थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् परिवर्तित ऐतिहासिक चेतनामूल्य और यथार्थता रेणु की रचना की प्रेरक शक्ति रहे। प्रेमचंद की तरह रेणु ने आर्थिक-संघर्ष को महत्त्व न दिया। उन्होंने आर्थिक पहलू से भी महत्त्वपूर्ण संस्कृति के बहाने मानवता, मानवीय अस्मिता को महत्त्व प्रदान किया। रेणु प्रेमचंद की "परंपरा की अग्रिम कड़ी हैं और कई अर्थों में वे प्रेमचंद से आगे बढ़े हुए हैं।" (नई कहानी संदर्भ और प्रकृति, देवीशंकर अवस्थी, राजकमल प्रकाशन, 2002, पृ. 194) रेणु की कहानियों में जो तादात्म्य है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी वैशिष्ट्य के कारण उनकी कहानियाँ पाठकों को झकझोरती हैं। हृदय में कंपन उत्पन्न करती हैं। ऐसी स्थिति में कहानी से स्वीकृत मानदंड के अनुसार रेणु की कहानी कहीं ढीली पड़ जाए तो भी उसके कोई मायने नहीं रह जाते हैं। संभवतः इसलिए हिंदी के तमाम महत्त्वपूर्ण कथाकारों—यशपाल, अज्ञेय, राजेंद्र यादव, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, रामदरश मिश्र आदि ने रेणु को श्रेष्ठ कथाकार के रूप में स्वीकार किया है।

रेणु ने अपने युग-स्पंदन को देखा भर नहीं था, उसे अनुभूत किया था। उन्होंने अत्यंत निकटता से समाज के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक पहलुओं को गहराई से महसूस किया था। भोक्ता बनकर उन्होंने जो अनुभूतियाँ हासिल की थीं, उनका वर्णन नहीं, चित्रण किया है। उन्होंने सहानुभूति से प्रेरित होकर कहानियाँ नहीं

लिखीं बल्कि अनुभूति की तीव्रता से उत्प्रेरित होकर रचनाएँ की हैं। इसलिए रेणु हिंदी के ही नहीं भारतीय भाषाओं के महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। गहरी संवेदना प्रकट होती है। जीवन के सारे दु:ख मानो कार्तिक की चाँदनी में धुल जाते हैं। ईर्ष्या, जलन, असूया आदि भाव समाप्त हो जाते हैं। भेद-भाव मिट जाता है।...टेसन वाली पतोहू, राधे की बेटी सुनरी, रेखा खवास की बहू और वे दूसरे लोग जो भी नाच देखने न जा पाये थे, सभी को प्रेमपूर्वक बुलाकर साथ लिए चलना ग्रामीण यथार्थ है। सुख में मित्र-परिजनों को शामिल करना विरजू की माँ जानती है तो हिरामन भी धुन्नीराम, लहसनवाँ, पलटदास, लालमोहर का नौवा के बीच अपना सुख बाँटता है। अकेलापन को नियति मान चुके व्यक्ति के लिए साहचर्य का यह सुख अत्यंत महत्त्वपूर्ण साबित होता है।

आजाद भारत धीरे-धीरे बदल रहा था। नेहरू के सपनों में भारतीय जनता मीठी नींद का लाभ उठा रही थी। पूँजीवाद का तेज विकास हो रहा था। फलस्वरूप, ग्रामीण जनता नगरोन्मुखी हो रही थी। इस प्रवृत्ति के साथ उसकी मनोवृत्ति भी बदलने लगी थी। रेणु ने इशारा किया है—"आजकल शहर से पाँच कोस दूर के गाँववाले भी अपने को शहरू समझने लगे हैं।" (रेणु रचनावली-1, पृ. 150) इधर पूँजीवाद से सामंतवाद प्रभावित होने लगा। जमींदारी व्यवस्था को उसने अपने में समेट लिया। उसके वर्चस्व के सामने किसी की एक न चल पाई। यहाँ आशय यह नहीं है कि सामंत या जमींदारी व्यवस्था को उचित ठहराने का प्रयास किया जा रहा है। आशय सिर्फ इतना है कि पूँजीवाद कितना ताकतवर था, इस तथ्य की ओर संकेत भर करना है। रेणु ने स्वातंत्र्योत्तर जनपद की कहानियाँ लिखी हैं। पूँजीवाद के साथ-साथ यंत्र-सभ्यता का आगमन हुआ। विज्ञान का प्रवेश हुआ। वैज्ञानिक साधन सुलभ हुए। गाँव-गाँव में आ पहुँचे। पूँजीवाद ने इन वैज्ञानिक साधनों से सामंतवाद को जर्रा-जर्रा कर दिया। 'पंचलाइट' इस तरह की एक कहानी है। गुलरी काकी की बेटी मुनरी को देखकर 'हम तुमसे मोहब्बत करके सनम' गीत गाने के जुर्म में पंचों ने गोदन को दस रुपये का जुर्माना लगाकर हुक्का-पानी बंद कर दिया था। जाति की बंदिश थी। पूरे टोले में पेट्रोमेक्स जलाना केवल गोदन ही जानता है, उसे ससम्मान बुलाया गया। पेट्रोमैक्स की रोशनी से मन का अंधेरा दूर हुआ। सरदार ने गोदन से सप्रेम कहा—"तुमने जाति की इज्जत रखी है। तुम्हारा सात खून माफ। खूब गाओ सलीमा का गाना।" गुलरी काकी बोली, "आज रात मेरे घर में खाना गोदन।" (रेणु रचनावली-1, पृ. 196) यह कहानी जनवरी, 1958 की है जो भारत के बदलते परिदृश्य को चिह्नित करती है। दरअसल, यहाँ विज्ञान की विजय-यात्रा का गायन नहीं हुआ है, जीत हुई है प्रेम की। इस विजय में वैज्ञानिक

उपकरण साधन बनकर आये हैं। यह रेणु की कथा दृष्टि है। वे विज्ञान के साधनों और उपकरणों को मानवीय गुणों के सहायक मानते हैं।

आज का साहित्य नगरों और महानगरों से सृजित हो रहा है। यह नगर या महानगर साहित्य का विधायक तत्त्व साबित हो रहा है। साहित्य में नगर जीवन की त्रासदियाँ, विसंगतियाँ एवं विडंबनाएँ चित्रित हो रही हैं। महानगर के सुविधाभोगी लेखक शौकिया बनकर एक-आध बार गाँव में जाते हैं या वातानुकूलित कमरों में रहकर भूख, अभाव, गरीबी पर कलम घिसकर पीड़ितों का मसीहा बनने का दावा पेश करते हैं। इस संदर्भ में रेणु की कहानियाँ बार-बार हमारा ध्यानाकर्षण करती हैं। ये कहानियाँ न केवल अंचल विशेष का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक जीवन का यथार्थ व्यक्त करती हैं बल्कि ये भारत के यथार्थ का अंकन करती हैं। भारतीय लोक-जीवन की संपन्न संस्कृति का उद्घाटन करती हैं। 'तीसरी कसम' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। रामदरश मिश्र के शब्दों में—''तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम' में स्वीकार की मन:स्थिति और अस्वीकार की नियति का द्वंद्व और तज्जन्य ट्रैजिक प्रभाव है। यह कहानी ग्राम-परिवेश के अनेक रंगों और गंधों को अपने में समेटकर तथा गाँव की बदलती हुई सामाजिकता की ओर संकेत कर अपने पूरे व्यक्तित्व में शहर की तथा गाँव की तमाम कहानियों से अपना अलगाव स्थापित कर लेती है।'' (हिंदी कहानी : अंतरंग पहचान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2007, पृ. 89) ग्रामीण जीवन में आ रहे परिवर्तनों एवं शहरी जीवन के बदलावों के संकेत-सूत्र भले ही रामदरश मिश्र को रेणु की कहानियों में मिल जाते हैं परंतु कथालोचक मधुरेश के अनुसार भारतीय गाँवों के यथार्थ चित्रण का अभाव पाते हैं—''रेणु की कहानियों को आधार बनाकर स्वातंत्र्योत्तर भारत के गाँवों की कोई प्रामाणिक तस्वीर बना पाना किसी कदर मुश्किल है। दरअसल इस मोह के कारण ही गाँवों के क्रमश: जटिल और संश्लिष्ट हो जाते यथार्थ को वह देख ही नहीं पाते जहाँ भी रूढ़ियों और सामंती व्यवस्था की जड़ता आज भी उसी तरह बनी हुई है।'' रेणु ने रूढ़ियों और सामंती व्यवस्था की जड़ता पर तीव्र प्रहार भले न किया हो लेकिन बार-बार उसका चित्रण किया है। प्रेम कहानी मानी जाने वाली 'तीसरी कसम' में हिरामन के घर में भाभी और गाँव के अन्य लोगों के द्वारा नौटंकी देखने को बुरा मानना, डाकिन-पिशाचिन की आशंका व्यक्त करना, आदि प्रसंगों के माध्यम से सामाजिक संदर्भों की ओर इशारा तो किया ही गया है। 'लालपान की बेगम' में बिरजू की माँ के बहाने तत्कालीन परिवेश ही नहीं समाजशास्त्र भी उन्जीवित हुआ है। 'शकरकंद की गुड़वाली मीठी रोटियाँ' बनती हैं तो सामाजिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। अड़ोस-पड़ोस ही नहीं नाच देखने जाने से वंचित लोगों को बैलगाड़ी में बिठाकर उदात्त विचार और रेणु का रचनाकाल राजनीति में नेहरू युग था। नेहरूयुगीन यथार्थ की कहानियों में चित्रित हुआ है। इस

दौरान भारत कई दृष्टियों से टूटने लगा था। एक ओर असंतोष तो दूसरी ओर रूढ़िवादी परंपराओं से चिपके रहना तत्कालीन भारत का वैशिष्ट्य था। राजनीति में तमाम संकीर्णताओं का अबाध प्रवेश शुरू हो गया था। छल-प्रपंच, दाव-पेंच आदि को हथियार बनाकर राजनेता अपना स्वार्थ हासिल करने लगे थे। भूख, अभाव, गरीबी के बीच आम जनता कराह रही थी। गाँव ने अपना वैशिष्ट्य खोकर शहरी जीवन के दुर्गुणों को अपनाना शुरू कर दिया था। इसी क्रम में उसने अपनी पहचान को भी मिटाना शुरू कर दिया। ऐसी स्थिति में लंबे सामाजिक अनुभवों को आधार बनाकर रेणु रचना-कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। ह्रासमान हो रही जीवन मूल्यों के प्रति चिंता व्यक्त करते हुए रेणु ने स्वातंत्र्योत्तर भारत के जनपदीय यथार्थ का चित्रण किया है। चूँकि साहित्य का यथार्थ सामान्य यथार्थ से भिन्न होता है, इसलिए रेणु की कहानियों में चित्रित यथार्थ उनके रचना-काल के यथार्थ से थोड़ा भिन्न है। छल, कपट, मिथ्या, दंभ, उत्कोच के वातावरण में रेणु हिरामन का सहज, सरल, निष्कपट हृदय चित्रित करते हैं। अपने समय की प्रतिकूलता से लड़ने के लिए हथियार कारगर साबित होते हैं। साथ ही इन्हीं गुणों की दिनों-दिन क्षरणशीलता से कहीं न कहीं अपनी चिंता जाहिर कर रहे होते हैं। इस चोर बाजारी के माल को तौबा-तौबा करने वाले हिरामन का चित्रण प्रस्तुत हुआ है। सिपाही से लेकर अमला-अधिकारियों तक रिश्वतखोरी में पूर्ण आस्था व्यक्त करते समय 'सग्गड़ गाड़ी' छोड़कर अपने बैलों के साथ रात भर घने जंगलों में भागता-फिरता है। ऐसा नहीं है कि हिरामन ने भयार्थ होकर ऐसा किया है। वह स्वातंत्र्योत्तर भारत की अव्यवस्था से क्षुब्ध है। रेणु ने कहा है—"जेल? हिरामन को जेल का डर लेकिन उसके बैल? न जाने कितने दिनों तक बिना चारा-पानी के सरकारी...में पड़े रहेंगे—भूखे-प्यासे। फिर नीलाम हो जायेंगे।" (रेणु रचनावली-1, सं. भारत यायावर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 16) किसान को उसके बैल कितने प्रिय होते हैं, यह सभी जानते हैं। ऐसी संवेदना दारोगा और दूसरों के पास कहाँ? ऐसी संवेदना ही मानव-अस्मिता को बचाए रखती है।

'टेबुल', 'लफड़ा' जैसी कुछ कहानियों के अलावा रेणु की अधिकांश कहानियों का आधार ग्रामीण परिवेश है। उन्होंने चरित्रों को पुनर्जीवित करने का सफल प्रयास किया है। गाँव की पिछड़ी जातियों की जिंदगी के कटु अनुभवों का चित्रण हुआ है तो आत्मीय संबंधों को उकेरा गया है। मानवीय संवेदना को लक्ष्य बनाया गया है। रेणु की कहानियों में ये सारे वैशिष्ट्य पाये जाते हैं। एक बात और, ग्रामीण परिवेश को लेकर लिखी गई कहानियों में सिर्फ गाँव नहीं है, शहर भी मौजूद है। गाँव के परिवेश में शहर से होते हुए कभी नौटंकी के रूप में तो कभी 'पेट्रोमैक्स' के रूप में आधुनिकता उभरने लगी थी, भले ही मंद-मंद गति से क्यों न हो। 'रसप्रिया' कहानी

में भी इसे देखा जा सकता है—"पाँच साल पहले तक लोगों के दिलों में हुलास बाकी था, तपती दोपहरी मोम की तरह गल उठती थी रस की डली...अब तो दोपहरी नीरस ही रहती है, मानो कि उसके पास एक शब्द भी नहीं रह गया है।" माना कि कलाकार की कला के प्रति अपूर्व निष्ठा व समर्पण की भावना को उक्त कहानी में प्रदर्शित किया गया है परंतु परिवर्तित समय में संवेदनशीलता के अभाव तथा नये वातावरण में नवीन युगीन-यथार्थ को कैसे नजरअंदाज किया जा सकता था। हिरामन के स्वभाव के ठीक विपरीत हीरा का मथुरा मोहन कंपनी छोड़कर दि रौता संगीत नौटंकी कंपनी में आना और दि रौता कंपनी छोड़कर मथुरा मोहन कंपनी में लौटना युगीन यथार्थ ही है। अर्थ का दबदबा जारी है। जहाँ ज्यादा बोली लगे कलाकार उसी का हो जाता है। पूँजी कला को भी प्रॉडक्ट बना देती है। "बक्सा ढोने वाला आदमी आज कोट-पतलून पहनकर बाबूसाहब बन गया है।" (रेणु रचनावली-1, पृ. 161) क्या कोई दलाल कम भूमिका में दिखाई पड़ता है? आशय यह है कि रेणु ने युगीन यथार्थ को कहीं भी अनदेखा नहीं किया है। प्रेमचंद और नागार्जुन की रचनाओं में यथार्थ की संश्लिष्टता के साथ रेणु की यथार्थ चेतना की तुलना नहीं होनी चाहिए, क्योंकि रेणु के सरोकार और उनकी दृष्टि उपर्युक्त रचनाकारों से अलग थे। रेणु की दृष्टि थी कि संस्कृति बची रहेगी तो जीवन सुखद बन आर्थिक कष्टों में भी मानवीय संबंध नई ऊर्जा प्रदान करते रहेंगे। जीवन की नई अर्थवत्ता बनी रहेगी। जरूरत है तो सिर्फ विलुप्तप्राय: मानवता को बनाये रखने की। यह दृष्टि कभी 'ठेस' के माध्यम से अभिव्यक्त होती है तो कभी 'भित्तिचित्र की मयूरी' के मार्फत। इसलिए रेणु यथार्थ से पलायन नहीं करते बल्कि परिवेश व वातावरण को बड़ी शिद्दत के साथ चित्रित करते हैं। राजेंद्र यादव ने कहा है—"परिवेश-वातावरण-जीवित पात्र की तरह सामने खड़ा होकर अपना हक शायद अकेले रेणु में ही माँगता है।" (रेणु की श्रेष्ठ कहानियाँ, सं. राजेंद्र यादव, भूमिका, पृ. 6)

रेणु की एक छोटी कहानी है 'ठेस'। यह 1957 में लिखी गई थी। इस कहानी की चर्चा करने के पहले 'मँगनी की बैलगाड़ी' शीर्षक कहानी का उल्लेख करना अनुचित न होगा। गोदावरीश महापात्र ओड़िआ के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं। मँगनी अपनी बैलगाड़ी से केवल आजीविका नहीं चलाता था बल्कि रेणु के हिरामन की तरह तमाम मानवीय गुणों से संपन्न था। यंत्र सभ्यता का आगमन हुआ। सिंह साहब ने बस खरीद ली तो मँगनी की और उसके बैलों की स्थिति कारुणिक हो उठी। यंत्र सभ्यता की विडंबना तथा लोक-संस्कृति के विलोपीकरण में उसकी भूमिका को रेणु ने 'ठेस' में चित्रित किया है—"एक समय था, जबकि उसकी मड़ैया के पास बड़े-बड़े बाबू लोगों की सवारियाँ बँधी रहती थीं। उसे लोग पूछते ही नहीं थे, उसकी खुशामद भी करते थे।...अरे,

सिरचन भाई! अब तो तुम्हारे ही हाथ में यह कारगरी रह गई है सारे इलाके में।'' (रेणु रचनावली-1, पृ. 175)

रेणु के पात्र छोटे-छोटे सपने देखते हैं। जब ये छोटे सपने पूरे होते हैं तो आनंदोल्लास से भर उठते हैं। रेणु पात्रों के उस उल्लास को अत्यंत तल्लीनता एवं आत्मीयता से महसूस करते हैं और उसकी संगीतमय अभिव्यक्ति प्रस्तुत करते मिरदंगिया, मोहना की माँ, मोहना, हिरामन, पलटदास, बिरजू की माँ, मखनी फुआ, मुनरी, गोदन, सिंधाय, कालू कमार, सरसतिया, करमा, सिरचन, गनपत, आभारानी, सूर्यनाथ आदि सैकड़ों पात्रों के माध्यम से रेणु ने युग-जीवन को उभारा है, जीवन-सत्य को चित्रित किया है, संक्रमण काल को चित्रित किया है। संक्षेप में, रेणु ने अपनी कहानियों के माध्यम से मनुष्य को महत्त्व दिया है, मानवता को महिमामंडित किया है। ''सुनो हे मानुष भाई, सबार उपरे मानुष श्रेष्ठ, ताहार उपरे नेइ''—चंडीदास के कथन को चरितार्थ किया है। मनुष्यता बची रहे, तो भारतीयता अमर रहेगी। इसे रेणु ने हृदयबोध किया था। बनावटी मूल्यों की तुलना में जीवन की सहजता को श्रेष्ठ मूल्य के रूप में स्वीकार किया था। संक्षेप में, रेणु ने अपनी कहानियों में युगीन यथार्थ के सतरंगी बिंबों को अंकित किया है।

भीष्म साहनी की विश्वदृष्टि

प्राचीन काल से भारतीय साहित्य का सरोकार किसी भौगोलिक स्थिति तक सीमित नहीं रहा है। वन-कंदराओं में रहकर भी रचयिता की दृष्टि आस-पास के जनपदों तक बँधी नहीं रही। न ही किसी कालखंड के लिए उसने सृजन कर्म को परिसीमित किया। अपने समय और समाज से अनुभूत सत्य हासिल करते हुए सृजनरत साहित्यकार की दृष्टि समाज से विश्व तक व्याप्त होती है। अपने और पराये का भेद भूलकर सारी मानवता को ही नहीं, मनुष्य और प्रकृति की परस्परता की समझ के आधार पर सारे विश्व को कुटुंब मानता है, अपना मानता है। इसे बड़े कुटुंब के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्धारण करने की क्षमता विकसित करने का आग्रह करता है। उचित ही कहा गया है—

अयं निज परोवेति गणना लघु चेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम्॥

युगों से यही सोच भारतीय साहित्य को गतिशील बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' की संकल्पना जहाँ कहीं भी बाधित होती है साहित्यकार का अन्तर्लोक कराहने लगता है। वह इसके बाधक तत्त्वों को दुनिया के सामने उघाड़ने में कोई कोताही नहीं बरतता। सत्तासीनों की साजिशों का खुलासा करता है। भले ही परिणामस्वरूप उसे मृत्युदंड मिले अथवा आजीवन कारावास।

ऐसा भी नहीं होता है कि किसी रचनाकार की पहली रचना में विश्वदृष्टि का परिचय मिल जाता है। विश्वदृष्टि एक लंबी प्रक्रिया तथा अनवरत संघर्षशीलता का परिणाम है। रचनाकार के लंबे जीवनानुभव तथा उसके व्यापक 'विजन' से उसकी विश्वदृष्टि पुष्ट होती है। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के आधार पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने धर्म की विविध भावभूमियों का उल्लेख किया है। इन भावभूमियों के अनुसार

धर्म का वर्गीकरण भी किया है—कुल धर्म, समाज धर्म, राष्ट्र धर्म और पूर्ण धर्म। पूर्ण धर्म का अन्य नाम विश्व धर्म है। तुलसीदास के अनुसार विश्वधर्म के अधिकारी राम हैं, क्योंकि वे जड़-चेतन, मनुष्य-पशु, पेड़-पौधे, जीव-जंतु, आदि सबके प्रति समभाव पोषित करते हैं। वे समदर्शी हैं। ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, ब्राह्मण-शूद्र आदि में कोई अंतर नहीं करते हैं। रचनाकार की दृष्टि में उपर्युक्त गुणों के समावेश से उसकी विश्वदृष्टि संपन्न होती है। उल्लेख करना जरूरी है कि कुल से समाज, समाज से लोक और लोक से विश्व की यात्रा या उसका पालन करना अनिवार्य है। इस क्रम को लाँघकर बीच में एक-आध का पालन किए बिना विश्वधर्म तक पहुँचने का अथवा उसके अधिकारी बनने का दावा करना ढोंग ही साबित होगा। पुनः यह बताना जरूरी है कि रचनाकार की लोक चेतना, समाज चेतना उसकी विश्व दृष्टि में बाधक नहीं बल्कि साधक बनकर आती है।

भारत में आधुनिक काल के आगमन के पहले व्यापक मानव जीवन के आदर्शों का बड़ा महत्त्व रहा। बीसवीं शती में भी मानवता को सर्वोपरि माना गया। दरअसल, मानवता ही विश्वप्रेम और विश्वदृष्टि का मूलाधार है। संपूर्ण भारतीय वाङ्मय में मनुष्य और मनुष्यता की चिंता प्रमुखता के साथ उभरती है। मध्यकालीन कवि चंडीदास मानुषभाई को श्रेष्ठ मानते हैं तो विश्वकवि रवीन्द्रनाथ 'महामानवेर सागर तीरे' कहकर भारत को जानने का आग्रह करते हैं, आह्वान करते हैं—

"आओ आर्य, आओ अनार्य, आओ हिंदू हे मुसलमान
आओ अँगरेज, आओ ख्रिस्तान
हे ब्राह्मण, निर्मल मन से आओ
फेंक ग्लानिपथ भार दूर, आओ
माँ के अभिषेक हेतु, शीघ्र आओ
सबके स्पर्श से पावन किए गए तीर्थ जल से
यह मंगल कलश हुआ नहीं परिपूर्ण अब तक
भारत के इस महामानव के सागर तट पर।"

इतना ही नहीं रवींद्रनाथ की विश्वदृष्टि का परिचायक विश्व भारती का आप्तवाक्य है। शांतिनिकेतन में विश्वभारती की स्थापना करते हुए 1921 में उन्होंने सूत्रवाक्य प्रदान किया—'अथेयं विश्वभारती, यत्र विश्वम् भवत्येक नीडम्' अर्थात् यह विश्वभारती है जहाँ विश्व एक घोंसला के समान है। उनकी विश्वदृष्टि में राष्ट्रवाद की सीमाएँ नहीं हैं। 'अंध राष्ट्रवाद' के पोषक तत्त्व भी नहीं है। 'घरे-बाइरे' के रचनाकाल से राष्ट्रवाद के प्रति उनकी परिवर्तित दृष्टि पाई जाती है। जाति, धर्म, नस्ल, संप्रदायों में बँटे भारतवर्ष के अंधेरे कोणों को उन्होंने देखा ही नहीं था बल्कि उन अंधेरे कोणों को प्रकाश से

जगमगाने का प्रयास भी किया था। विदेशी वस्त्र जलाने का विरोध वे इसलिए करते थे कि उसकी वैकल्पिक व्यवस्था के बिना वह व्यर्थ सिद्ध होगा। 'श्रीनिकेतन' की स्थापना के पीछे रवींद्रनाथ की यह दृष्टि थी। कृषि, घरेलू उद्योग आदि के माध्यम से आत्मनिर्भर भारत का निर्माण उनका ध्येय था। केवल सत्ता के हस्तांतरण को उन्होंने कोई महत्त्व नहीं दिया। 'जॉन की जगह गोविंद' को बिठाए रखने के वे समर्थक नहीं थे। अंधविश्वास, जर्जर रूढ़ियों, सड़ी-गली मान्यताओं के वे प्रबल विरोधी थे। 'गोरा' उपन्यास में गोरा कहता है—''आज मैं भारतवर्ष का हूँ। मेरे अंदर हिंदू-मुसलमान-ईसाई किसी समाज का कोई विरोध नहीं है। आज इस भारतवर्ष की समस्त जातियाँ मेरी जाति हैं। सबका अन्न मेरा अन्न है।''

हिंदी में प्रेमचंद ने रवींद्रनाथ की तरह अपने समय और समाज में अंतर्निहित अंतर्विरोधों को भलीभाँति पहचाना था। साम्राज्यवादी ताकतों की साजिशों का खुलासा किया था। दमन, शोषण, अत्याचार और निर्यातन के विरुद्ध अपने रचना-संसार में आवाज उठाई। उन्होंने संपूर्ण आजादी की प्राप्ति की कामना की थी। प्रसाद तथा निराला की मुक्ति कामना भी इससे भिन्न नहीं है। इन रचनाकारों की विश्वदृष्टि में समानता, बंधुत्व और मानवता का सर्वाधिक महत्त्व परिलक्षित होता है। निराला 'काट अंध उर के बंधन स्तर, बहा जननि ज्योतिर्मय निर्झर' प्रार्थना करते हैं तो केवल भारत की बात नहीं कर रहे होते हैं पूरे 'जग' में व्याप्त अंधकार और बंधन के स्तरों को मिटाने का आग्रह कर रहे होते हैं। इसी तरह जयशंकर प्रसाद मानवता का जयघोष सुनना चाहते हैं—

''शक्ति के विद्युत्कण जो विकल बिखरे हों निरुपाय
समन्वय करे उनका समस्त मानवता विजयिनी हो जाय।''

उल्लेख करना जरूरी है कि किसी भी रचनाकार की विश्वदृष्टि का स्वरूप उसके कालखंड के अनुसार निर्मित होता है। दिक् और काल के परिवर्तन के साथ-साथ विश्वदृष्टि का ढाँचा भी बदलता रहता है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान मुक्तिकामी जनता की आशा-आकांक्षाओं का प्रतिफलन विश्व दृष्टि में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। स्वातंत्र्योत्तर काल में सत्ता की राजनीति से पीड़ित आमजन की अनुगूँज सुनाई पड़ना स्वाभाविक है। सांप्रदायिक विषमय वातावरण में शांति, सौहार्द्र और प्रेम की स्थापना की तीव्र आकांक्षा बलवती होना लाजिमी है। अतः विश्वदृष्टि की संकल्पना एक बँधी-बँधाई परिपाटी के तहत निर्मित नहीं होती है बल्कि यह एक सातत्य गतिशील अवधारणा के रूप में विकसित होती है।

आधुनिक हिंदी साहित्य में भीष्म साहनी (1915-2003) एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध नाम है। रावलपिंडी में जन्मे, लाहौर से साहित्य में एम.ए. की डिग्री हासिल

करने वाले भीष्म साहनी ने पंजाब, मुंबई, दिल्ली आदि में निवास करते हुए अपनी जनपक्षधरता को स्पष्ट किया है। बेरोजगारी, पत्रकारिता, इप्टा से संबद्धता, अध्यापकीय जीवन आदि के अनुभवों के साथ-सात 'विदेशी भाषा प्रकाशन गृह' मास्को से सात वर्ष तक जुड़े रहे। प्रवास के दौरान उन्हें रूसी भाषा का यथेष्ट अध्ययन करने का अवसर मिला। उन्होंने लगभग दो दर्जन रूसी पुस्तकों का अनुवाद भी किया है। इसके अलावा 'नई कहानियाँ' का संपादन, प्रगतिशील लेखक संघ तथा अफ्रो-एशियाई लेखक संघ से गहरे रूप से संबद्ध रहे। आशय यह है कि भीष्म साहनी के जीवन और कर्म के वैविध्य ने 'विजन' के निर्माण में अत्यंत सहायता की है। उनके सरोकार और उनकी संबद्धता ने उनकी दृष्टि को व्यापक तथा प्रशस्त करने में बड़ी भूमिका अदा की है।

भीष्म साहनी मूलतः कथाकार हैं. कहानी के क्षेत्र में 'पाली', 'निशाचर', 'शोभायात्रा', 'वाङ्चू', 'पटरियाँ', 'भटकती राख', 'प्रतिनिधि कहानियाँ' आदि कहानी-संग्रह उल्लेखनीय हैं। 'मय्यादास की माडी', 'तमस', 'बसंती', 'कड़ियाँ', झरोखे' जैसे उपन्यासों से हिंदी उपन्यास को नई गति मिली। इसी तरह 'हानूश', 'कबिरा खड़ा बजार में' और 'माधवी' नाट्यकृतियों से हिंदी नाट्य साहित्य विकसित ही नहीं समृद्ध हुआ है। 'आज के अतीत' आत्मकथा के माध्यम से भीष्मजी का जीवन खुली किताब की तरह खुलता है तो उनका समय और समाज भी साकार रूप में पाठकों के समक्ष चित्रित हो उठता है। 'तमस' उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध औपन्यासिक कृति है जिस पर 1975 का साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ था। 'चीफ की दावत', 'वाङ्चू', 'ओ हरामजादे', 'झुटपुटा' आदि न केवल भीष्म साहनी की बल्कि हिंदी कथा-दुनिया की महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं।

जिस प्रकार रवींद्रनाथ के 'बांग्लार माटि बांग्लार गान' में 'बांग्ला' भौगोलिक सीमा में आबद्ध नहीं है यह उदार मानवधर्म से सदा दीक्षित होने का प्रतीक बनकर आता है, नदी, पर्वतों से बांग्ला की सीमा बँधी हुई नहीं होती है, यह उस सीमा को लाँघकर विशालता की ओर उन्मुख है, ठीक उसी तरह भीष्म साहनी के यहाँ कोई भी शहर अपनी संकीर्णता में जीवित नहीं है। मसलन, 'अमृतसर आ गया है...' में अमृतसर पंजाब का ही नहीं है बल्कि सांप्रदायिक उन्माद के वातावरण से पीड़ित दुनिया के तमाम शहरों के नाम हैं। भीष्मजी की तमाम रचनाओं में से अधिकांश की पृष्ठभूमि भारत की भूमि है। पंजाब दिल्ली, अविभाजित भारत, सारनाथ आदि के बहाने दुनिया में घटित हिंसा, द्वेष, आगजनी, मार-काट, अंधी होड़ का चित्रण करते हुए विश्व प्रेम और मानवता के सामने आसन्न संकटों से सावधान किया है। मानव मूल्य के ह्रास से वे अत्यंत चिंतित दिखाई पड़ते हैं। मनुष्य बना रहे। छोटा मनुष्य बड़ा मनुष्य बने। यह उनका स्वप्न था। इसलिए उन्होंने आजीवन उस सपने को सच करने का प्रयास किया। अस्थि-चर्म और

हाड़-मांस का मनुष्य अपनी दुर्बलताओं—हिंसा, द्वेष, वैमनस्य की आँधी—को त्यागकर विश्व मानवता की ओर अग्रसर हो सके, ऐसा प्रयत्न भी परिलक्षित होता है। अत: उन्होंने भारत के दीन-हीन, अत्याचारित, पीड़ित लोगों की ही चिंता नहीं की है बल्कि संसार के तमाम निर्यातित एवं शोषित मनुष्य का पक्ष लिया है। उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना को प्रकट करते हुए रचनाकार ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद का विरोध जितना जरूरी है, उतना ही आवश्यक है सामंतवाद और पूँजीवाद का प्रतिरोध। उनके सामने यह बिल्कुल साफ था कि सामंती जड़ता और राजनीतिक स्वार्थपरता को हटाए बिना विश्वबंधुत्व की भावना या विश्व चेतना साकार नहीं होगी। ध्यातव्य है कि भीष्म साहनी प्रेमचंद की परंपरा के कथाकार हैं। प्रेमचंद की तरह उन्होंने ग्रामीण कृषक जीवन को तो नहीं उभारा, लेकिन साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के घनिष्ठ गठबंधन को यथार्थत: पहचान लिया था। सबसे बड़ी बात है कि उन्होंने पूँजी और सांप्रदायिकता के गठजोड़ को आमजन के सामने नग्न रूप में प्रस्तुत किया है। धर्म और जाति के नाम पर हिंसा भड़काने वाली शक्तियों की जमकर खबर ली है। इस संदर्भ में भीष्म साहनी ने राजीव रंजन से कहा था— "हमारे देश में बहुत से धर्म हैं और जातियाँ भी बहुत हैं। धर्म के आधार पर जातियों की गणना करना आज के हित में नहीं है। मध्ययुगीन कल्पना है। देश की प्रगति और विकास इस बात में है कि व्यक्ति की क्षमताओं का विकास हो।"

भीष्म साहनी की दो सशक्त कहानियों का उल्लेख करना बहुत जरूरी है। पहली कहानी का शीर्षक है 'वाङ्चू' और दूसरी का 'ओ हरामजादे'। सारनाथ की पृष्ठभूमि में चीनी शोधार्थी वाङ्चू के लगभग तीन दशकों के कालखंड को विविध आयामों के साथ चित्रित किया गया है। 'ओ हरामजादे' में यूरोप के दूरवर्ती इलाके को आधार बनाकर पंजाब के मूल निवासी लाल का अपनी जमीन से कटने का दर्द अंकित हुआ है। पहली कहानी में भारत और चीन हैं तो दूसरी कहानी में भारत और यूरोपीय देश। दोनों कहानियों में जीवन मूल्य को वैश्विक संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। जीवन मूल्य के महत्त्व को आकलित करते हुए कहानीकार ने आधुनिकता-बोध और यथार्थवादी विचारधारा के अंतर्विरोधों को भी उद्घाटित किया है।

'वाङ्चू' की कथा बहुत छोटी है परंतु इसका कलेवर वृहद् है। चीनी पर्यटक फाह्यान और ह्वेनसांग के समय में भारत 'सोने की चिड़िया' का देश कहलाता था। भारत में सुख और समृद्धि का वातावरण था। लेकिन, बीसवीं शताब्दी के भारत में हो या चीन में आधुनिकता के नाम पर जो जबर्दस्त मूल्य संक्रमण होता है उस पर कहानीकार की चिंता जाहिर होती है। इस कहानी में अतीत की सुखद स्मृतियाँ बिना वर्णन के आती हैं। वर्तमान की त्रासद कथा पर रचनाकार की गहरी समझ दिखाई पड़ती

है। जीवन के विविध स्तरों को बुरी तरह प्रभावित करने वाली राजनीति का पर्दा खोलते हुए भीष्म साहनी ने उसे नंगा किया है। बौद्ध भिक्षु वाङ्चू को पंडित जवाहरलाल नेहरू से न तो मिलने की दिलचस्पी है और न ही उनके आगमन में शामिल विशाल समावेश का अंग बने रहने का आग्रह है। एक आम बौद्ध भिक्षु द्वारा सर्वशक्तिमान राजनीति की वर्चस्व सत्ता का प्रतिरोध कहानीकार ने वाङ्चू के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। भीष्म साहनी की प्रगतिशील दृष्टि वाङ्चू की कथा को मार्मिकता प्रदान करती है। वाङ्चू भारत तथा चीन के युगबोध से पूरी तरह असंपृक्त है। भारत-चीन युद्ध के बाद भारत और चीन की बदलती परिस्थितियों का भी उसे कोई आभास नहीं है। भीष्म साहनी ने इस कहानी में स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"सामाजिक शक्तियों को समझे बिना तुम बौद्धधर्म को भी कैसे समझ पाओगे? ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र एक-दूसरे से जुड़ा है, जीवन से जुड़ा है। कोई चीज जीवन से अलग नहीं है। तुम जीवन से अलग होकर धर्म को भी कैसे समझ सकते हो?" कहा जा सकता है कि रचनाकार की जीवन दृष्टि उसकी विश्व दृष्टि का परिचायक है। इस जीवन दृष्टि में समाज को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। कहानीकार का मानना है—"जीवन और समाज से कटकर दर्शन और मृत्यु में कोई अंतर नहीं होता।"

'ओ हरामजादे' के लाला के माध्यम से रूमानी किस्म का देशप्रेम दिखाया नहीं गया है। इसके माध्यम से लाल की छटपटाहट व्यंजित होती है। अपनी भाषा, अपनी जमीन और अपनेपन की निरंतर खोज कहानी में अभिव्यक्त होती है। लाल के पास भौतिक साधनों का अभाव नहीं है लेकिन जीवन की सार्थकता के अन्वेषण में वह प्रयासरत है। उसके लिए यह अन्वेषण तभी संपूर्ण होगा जब उसे उसका जालंधर मिल जाए। लेकिन, जालंधर भी जालंधर नहीं रह गया है। जालंधर लाल के लिए महज एक जगह नहीं उसका समाज, परिवेश और उसका जीवद्रव्य है। कहानी के अंत में अत्यंत मार्मिक रूप से इसका चित्रण किया गया है—"यह मत समझना कि मुझे कोई शिकायत है। जिंदगी मुझ पर बड़ी मेहरबान रही है। मुझे कोई शिकायत नहीं है, अगर शिकायत है तो अपने आप से..." फिर थोड़ी देर चुप रहने के बाद वह हँसकर बोला, "हाँ एक बात की चाह मन में अभी तक मरी नहीं है इस बुढ़ापे में भी नहीं मरी है कि सड़क पर चलते हुए कभी अचानक कहीं से आवाज आए 'ओ हरामजादे!' और मैं लपक कर उस आदमी को छाती से लगा लूँ।" दूसरों के लिए 'हरामजादे' एक गाली हो सकती है लेकिन लाल के लिए यह एक प्यारा संबोधन ही नहीं, सामाजिक पहचान है। उसके लब्धप्रतिष्ठ और सफल इंजीनियर होने में वह सामाजिक पहचान नहीं है।

दोनों कहानियों में जीवन और समाज के प्रति जो गहरी संबद्धता है वह भीष्म साहनी की दृष्टि को व्यापकता प्रदान करती है। यह दृष्टि उन्हें अपने समकालीन रचनाकारों से विशिष्टता प्रदान करती है। विदेश यात्रा और प्रवास से उनकी विश्व चेतना अधिक परिपुष्ट होती है। जितनी बार उन्होंने विदेश यात्रा की अथवा प्रवास किया उन्होंने मानव मूल्यों को उतने ही निकट से जाना। मानव चेतना और विश्व चेतना की पुरजोर वकालत की। इसमें उनके प्रगतिशील विचारों ने भी बड़ी भूमिका निभाई। तभी तो भीष्म साहनी के समकालीन कथाकार निर्मल वर्मा लंबे प्रवास के बावजूद उस शिखर पर नहीं पहुँच पाए जहाँ भीष्म विराजमान होते हैं। बड़े रचनाकार की पहचान यह है कि उसका 'विजन' बड़ा हो। भीष्म साहनी के रचना-संसार से उनके सरोकार और दृष्टि का पता चलता है और इसके चलते उनका बड़ा पाठक वर्ग उनकी रचनाओं को बड़े चाव के साथ ग्रहण करता है। चूँकि भीष्म साहनी वैज्ञानिक समाजवाद के आधार पर मानववाद को स्वीकार करते हैं, इसलिए मेहनतकश लोगों की हिमायत करते हुए शोषणविहीन समाज की स्थापना का स्वप्न देखते हैं। समानता और स्वतंत्रता को महत्त्व देते हैं। उनका इन विचारों को कथा-सूत्र देने का ढंग भी अन्य कहानीकारों से भिन्न है।

भीष्म साहनी कहानी अथवा साहित्य की अन्य किसी विधा को परखने के लिए आधुनिक-बोध की कसौटी से सहमत नहीं हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि "यदि कहानी में अवसाद है, मूल्यहीनता का भाव है, अनास्था है तो वह कहानी आधुनिक, और...चूँकि आधुनिक है, इसलिए उत्कृष्ट है, इस प्रकार का तर्क मुझे प्रभावित नहीं करता। अपना भाग्य ढोते हुए इंसान का चित्र आधुनिक है, पर अपने भाग्य से जूझते हुए इंसान का चित्र असंगति है, अनास्था आधुनिक है, आस्था असंगत है, मृत्युबोध आधुनिक है, जीवनबोध असंगत और निरर्थक है, इस प्रकार के तर्क के आधार पर साहित्य को परखना और उसके गुण-दोष निकालना जिंदगी को भी और साहित्य को भी टेढ़े शीशे में से देखने की कोशिश है।" कहानी के संबंध में लेखक के इस विचार से उसकी दृष्टि का खुलासा होता है। साहित्य केवल जीवन-दर्शन नहीं है बल्कि वह हमें सचेत कराने वाला माध्यम भी है। साहित्य को जो लोग शब्दों की जादूगरी और मात्र कलारूप मानते हैं भीष्म साहनी उनसे मतभेद रखते हैं—"कहानी मात्र जीवन दर्शन ही कराती है, ऐसा नहीं है। वह निश्चय ही हमें सचेत भी करती है, हमारे अंदर दायित्व की भावना भी जगाती है, हमारी अनुभूतियों को अधिक संवेदनशील भी बनाती है, सौंदर्यबोध के स्तर पर हमारे लिए उत्प्रेरक का काम भी करती है।" साहित्य के संबंध में कहानीकार की यह दृष्टि व्यापक तथा सुदूर प्रसारी है।

भीष्म साहनी के नाटकों में से 'हानूश' की चर्चा कम होती है। लेकिन, यह नाटक न केवल बड़े कैनवेल का है बल्कि इसमें विश्वव्यापी चेतना है। आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व की कथा के आधार पर लिखे गये भीष्म साहनी के इस पहले नाटक में कलाकार की अदम्य सिसृच्छा तथा उसके परिवार में व्याप्त तनावों को रूपायित किया है। ताला बनाने वाले हानूश के मन में घड़ी बनाने की इच्छा सत्रह वर्षों के अनथक प्रयास से पूरी होती है। चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग की एक मीनारी घड़ी के बारे में नाटककार तरह-तरह की कहानियाँ सुनने के बाद कथा को नाट्यरूप प्रदान करता है। निर्मल वर्मा ने भीष्मजी को 1960 के आस-पास इस घड़ी की कहानियाँ सुनाई थीं। भीष्मजी ने उसे नाट्यरूप दिया है।

इस नाटक में भी धर्म और सत्ता की जुगलबंदी से आम आदमी की निर्यातित और शोचनीय स्थिति का चित्रण किया गया है। सामान्य अनुदान से वंचित आम कलाकार की निर्माण करने की इच्छा बाधित हो जाती है। परंतु, अपने आत्मविश्वास, रचनाशीलता, स्वाभिमान आदि की सहायता से वह अपने उद्देश्य में सफल होता है। इस नाटक में हानूश और लोहार पात्रों के माध्यम से रचनाकार ने सृजनधर्मिता को गतिशील बनाए रखने का आग्रह किया है। उदाहरण के तौर पर लोहार का कथन लिया जा सकता है—''घड़ी बनाने का काम नहीं छोड़ना, भले ही दुनिया इधर से उधर हो जाए। पैसे की वजह से बिल्कुल भी नहीं छोड़ना। हम लोग मर नहीं गए हैं। वजीफे का कहीं इंतजाम नहीं हुआ तो मैं लोहारों की जमात से तुम्हें पैसा इकट्ठा करके ला दूँगा।''

दुनिया के आम आदमी के दमन, शोषण, तनाव, संकट, उसकी संवेदनशीलता आदि को हानूश के माध्यम से प्रदर्शित करते हुए सृजन विरोधी स्थितियों का जो मुकम्मल चित्रण किया है। वह भी उसकी गहरी सूझ-बूझ का प्रतीक है। सामान्य जन की करुणा और संवेदना विश्वदृष्टि का परिचायक है। गिरीश रस्तोगी ने लिखा भी है—''एक विदेशी पात्र में उन्होंने विश्वजनीन मानवीय अनुभव और जीवन रस भर दिया है। हानूश एक सामान्य घड़ीसाज है लेकिन उसके माध्यम से वह जिस प्रकार एक संघर्षशील कलाकार, रचनाकार के अस्तित्व संकट की, उसकी दुर्दमनीय सिसृच्छा की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति करते हैं, वह महत्त्वपूर्ण है। इतिहास उसे बाधित नहीं करता, मानवीय करुणा से लेखक ने इस चरित्र को इतना समकालीन, प्रासंगिक और जीवंत बनाया है। न कहीं उलझाव, न भटकाव, न अनोखापन या अजूबापन।''

इसी तरह 'कबिरा खड़ा बाजार में' का भू-स्थल केवल काफी अथवा भारत तक सीमित न होकर संपूर्ण मानवजाति तक व्याप्त है। सिकंदर के प्रबल प्रताप के सामने भी कबीर का न झुकना सत्ता के समक्ष संत कवि का दासत्व न स्वीकारना है। उसके तमाम प्रलोभनों में न आना अडिग व्यक्तित्व का प्रतीक है। सिकंदर के किसी भी सवाल

का जवाब न देना कबीर की हेकड़ी नहीं बल्कि सत्ता के प्रति अनादर अथवा उपेक्षा है। नाटक के 'दो शब्द' में भीष्म साहनी लिखते हैं—"नाटक में उनके काल की धर्मांधता, अनाचार, तानाशाही आदि के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उनके निर्भीक, सत्यान्वेषी, प्रखर व्यक्तित्व को दिखाने की कोशिश की है।" सवाल यह है कि बीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में कबीर के व्यक्तित्व की आवश्यकता क्यों पड़ी? धर्मांध, जातिवादी, सांप्रदायिक दौर में कबीर जैसे संत और महात्मा दुनिया को सही दिशा-निर्देश कर सकते हैं। विश्वमानवता अथवा मानवमात्र की कल्याण कामना को इस नाटक में विशेष महत्त्व दिया गया है।

भीष्म साहनी ने राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों पर गहन चिंतन-मनन करते हुए अपनी विश्वदृष्टि को प्रसरित किया है। उन्होंने अपने काल की विकट समस्याओं से पीड़ित जनजीवन पर संवेदनशीलता के साथ विचार किया है। उनका जालंधर विश्व चेतना का बाधक नहीं बल्कि उसका मूलाधार है। स्थानीयता से वैश्विकता तक की यात्रा करता है भीष्म साहनी का रचना संसार। भारतीय जीवनमूल्य उनकी विश्वदृष्टि को पल्लवित करता है। उनकी प्रगतिशील दृष्टि परंपरा का अंध समर्थन नहीं करती है। उनकी वैज्ञानिक सूझ-बूझ उन्माद और हिंसा का विरोध करती है। वे जिन नगरों या कस्बों की चर्चा करते हैं वे केवल भारत के नहीं हैं, पूरे विश्व के हैं। पूरी दुनिया के सुख, दुःख, संघर्ष को रचना जगत् में उकेरने का प्रयास दिखाई पड़ता है। समाज से जुड़ाव को भीष्म साहनी ने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उनकी रचनाशीलता के केंद्र में मनुष्य है। यह मनुष्य हाड़-मांस का बना है। गुण-दोषों से समन्वित। फासीवादी विरोधी चेतना को प्रसरित करने में भीष्म साहनी का आम आदमी बड़ी भूमिका निभाता है। उनकी जीवनदृष्टि कल्पित नहीं बल्कि अनुभवाश्रित है। उनकी तमाम रचनाओं के आधार पर उपर्युक्त बिंदुओं के मद्देनजर उनकी विश्वदृष्टि की सविस्तार चर्चा अपेक्षित है।

• ● •

अनुभव की आँच में पकी कहानियाँ

सुधा अरोड़ा हमारे समय की प्रतिनिधि एवं चर्चित कहानी लेखिका हैं। इस कथाकार ने अपने लेखन कर्म से समकालीन कथा संसार में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। कहानी, उपन्यास, कल्पना आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं पर सृजनरत सुधाजी ने कहानी लेखन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सफलता हासिल की है। 'बगैर तराशे हुये', 'रहोगी तुम वहीं', 'तीन बटा चार' आदि कहानी-संग्रहों के माध्यम से कहानीकार की विशिष्टता स्वयंसिद्ध हो जाती है। सुधाजी के कथा लेखन की सबसे बड़ी खूबी यह है कि सामाजिक संबद्धता से उनके लेखन को खाद-पानी मिलता रहा है। कथा लेखन का बीज भी सामाजिक हलचलों तथा आंदोलन से प्राप्त करती है। इस कहानीकार की कहानियाँ अपने समय और अपनी भूमि से जुड़ी होती हैं। कभी इस महिला रचनाकार ने अपने किसी इंटरव्यू में कहा भी था—''कहानीकार होने की पहली शर्त उसका संवेदनशील होना है। आदमी को असंवेदनशील बनाने, बनाते चले जाने के तमाम दबाव गाहे-बगाहे उसके अवचेतन पर पड़ते हैं, पर एक रचनाकार तमाम अमानवीय, हिंसक और क्रूर स्थितियों के बीच से अपना रास्ता ढूँढ़ लेता है।''

सुधा अरोड़ा का तेरहवाँ कहानी-संग्रह 'बुत जब बोलते हैं' हमारी दुनिया को बिंबित करता है। इस संग्रह के माध्यम से कहानीकार ने जीवन के विविध रंगों को रूपायित किया है। 2005 से 2015 के बीच लिखी गई कहानीकार की ताजा कहानियों में उसके व्यापक अनुभव संसार का अनुभव मिलता है। कथाकार की कथादृष्टि तथा जीवनदृष्टि के सुन्दर सामंजस्य को भी यहाँ परिलक्षित किया जा सकता है। संग्रह की कहानियों से गुजरकर एक सुखद एहसास होता है। चूँकि कहानीकार कहानी लिखती नहीं, सुनाती है और वह भी बड़े मार्मिक ढंग से, इसलिये उसकी कहानी पाठकों को साथ ले चलने की पूरी सामर्थ्य रखती है। एक बात और भी है कि सुधा अरोड़ा के पचास से अधिक वर्षों के कथा लेखन और सामाजिक सरोकार के जीवनानुभवों को

स्पष्टतया देखा जा सकता है। इन कहानियों में सुधा अरोड़ा ने अपने समय और समाज में व्याप्त विषमताओं, विडंबनाओं, अंतर्विरोध तथा विसंगतियों को शिद्दत के साथ व्यंजित करने का सफल प्रयास किया है। अधिकांश कहानियाँ कल्पित न होकर हमारे समाज की सच्ची घटनाओं पर आधारित प्रतीत होती हैं अर्थात् ये कहानियाँ विश्वसनीय हैं।

'उधड़ा हुआ स्वेटर' कहानी हो, 'बुत जब बोलते हैं', 'काँसे का गिलास', 'काँच के इधर-उधर', 'खिड़की', या फिर 'भागमती पँडाइन का उपवास', तमाम कहानियाँ अलग-अलग मिजाज की हैं। ये कहानियाँ सतह के नीचे तक झाँकती नजर आती हैं। गहरे भावबोध से संपन्न हैं। समय के सच को व्यक्त करती हैं। अनुभव के आँच में पकी इन कहानियों में न तो कथ्य की पुनरावृत्ति है और न शिल्प की। अपनी पूर्ववर्ती कहानियों से उल्लेखित कहानियों में साफ तौर पर नया स्वाद और नया मिजाज मिलता है। लेकिन यह सायास नहीं अनायास घटित हुआ है। कहानीकार ने भूमिका (मुश्किल होते जा रहे समय में लिखना) में कहा है—''साहित्य के नितान्त अलहदा दौर से हम कैसे अपने समय की भाषा को आत्मसात करते हुये, अपने ही बीते हुये से खुद को अलग कर, एक अलहदा साँचे में इतनी आसानी से ढाल लेते हैं कि इस सूक्ष्म कायांतरण का कोई प्रगट अहसास तक नहीं होता।''

'उधड़ा हुआ स्वेटर' न केवल कहानीकार की बल्कि संपूर्ण समकालीन कथा साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। सूक्ष्म मानवीय संवेदनाओं की सहज अभिव्यक्ति को कहानीकार ने पूरी संजीदगी के साथ उकेरा है। 'प्रेम की अनुपस्थिति में प्रेम की व्याप्ति' पर लिखी गई इस कहानी में शिवा और आशीष के बुढ़ापे में एक अभूतपूर्व सौमनस्य एवं प्रेम को कथा सूत्र में पिरोया गया है। इसमें जीवनेच्छा प्रबल हो उठती है। इतना ही नहीं, एक ओर प्रेम का घोर अभाव है तो दूसरी ओर मृत पत्नी के प्रति आशीष कुमार का अतीव प्रेम जीवन तथा संसार को कुछ नयी ऊर्जा से भरता है। बदलते समय के यथार्थ की खुरदुरी जमीन को संकेतों के माध्यम से कहानीकार ने मूर्त रूप प्रदान किया।

'बुत जब बोलते हैं' एक बहुआयामी कहानी है। इसमें जितनी चिन्ता व्यक्ति की है उतनी समाज की भी। परिवार की चिन्ता है तो देश की भी। मातृत्व और संवेदना के व्यापक धरातल का चित्रण है तो पूँजीवादी बाजारवादी कुचक्रों से पीड़ित मानवजाति का हाहाकार भी। डॉक्टर पिता पूँजी की जकड़ से बँधा हुआ है और पुत्र सिद्धार्थ की आत्महत्या से भी वह दुखी प्रतीत नहीं होता जबकि माता ने अपनी प्रैक्टिस छोड़कर पूँजी की दुर्दम शक्ति को पराजित किया है। पूँजी ने मनुष्य को बुत बनाकर रख दिया है। इस इनह्यूनिटी (अमानवीयता) के विरुद्ध खड़ी होती है 'बुत जब बोलते हैं' शीर्षक

कहानी। इसमें भोले भंडारी को 'नीलकंठ' बनाने का उल्लेख है। इससे तमाम तरह की सामाजिक दुर्दशा तथा निर्यातन एवं उत्पीड़न सहने कथा-व्यथा संकेतित होती है। स्त्री के बहाने भारतीय समाज में व्याप्त विसंगतियों एवं असमानताओं को भी रूपायित करने का प्रयास किया है। संक्षेप में, यह एक बड़े रेंज की अविस्मरणीय कहानी है। इस कहानी की विशद् चर्चा आगे की जा रही है।

'काँसे का गिलास' एक अत्यंत मर्मस्पर्शी कहानी है। तीन पीढ़ियों में रिश्ते के बारे में सोच और सक्षम में निहित अंतर को सांकेतिकता में स्पष्ट किया गया है। दादी अपनी नातिन चिलकी को कहानी सुनाती है 'काँसे का गिलास'। काँसे का एण्टिक गिलास दादी की माँ का था। उनके लिये गिलास महज एक बर्तन न था। "उसमें उन्हें अपनी माँ, अपनी मायका, अपना लाहौर दिखता था।" वक्त के साथ-साथ रिश्ते भी बदलते हैं। नेहा की पीढ़ी के लिये कैरियर अहम है न कि कोई रिश्ता।

'काँच के इधर-उधर' में कहानीकार की वर्ग चेतना का साक्षात्कार होता है। जरूरतमंद मेहनतकश मजदूरों के साथ कहानीकार की संवेदना व्याप्त है। शोषकों के अत्याचार और उनकी चालाकियों को ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया गया है। इससे कहानीकार की कथा दृष्टि का फलक उभरता है। कथाकार एक गवाह के रूप में नहीं है बल्कि वह भोक्ता बनकर आती प्रतीत होती है।

'खिड़की' एवं 'एक माँ का हलफनामा' कहानियाँ आज के भूमंडलीकृत समय में अपनी सार्थकता सिद्ध करती हैं। प्रेम, विश्वास तथा पारस्परिक आस्था जैसे मानव मूल्यों को बचाये रखने की गहरी चिन्ता भी इन कहानियों के माध्यम से उजागर होती है। यहाँ अर्थ गांभीर्य का विशेष महत्त्व है। बदलते समाज, परिवर्तित हो रहे जीवन मूल्य और स्त्री जीवन के विविध संदर्भों को सुधा अरोड़ा ने अपनी कहानियों में अंकित किया है।

एक कहानी : तीन आख्यान के अंतर्गत 'भागमती पँडाइन का उपवास यानी करवा चौथ पर भरवा करेले', 'राग देह मल्हार' और 'कत्लगाह यानी माटी कहे कुम्हार से' समाहित है। पांडेजी, बेनू भट्ट तथा मनप्रीत भट्ट के माध्यम से मर्दवादी व्यवस्था में नारी की शोचनीय स्थिति का अंकन हुआ है। सुधा अरोड़ा की इन कहानियों में पाठक सीधे उतरता है और कथा रस में डूबता चला जाता है। कहानीकार के नारी-विमर्श में पुरुष का विरोध नहीं है लेकिन पुरुषवादी वर्चस्व का विरोध है। यहाँ नारी ठगी जाती है, शोषित होती है, पुरुष की चालाकियों का शिकार बनती है तो यहाँ ऐसी नारी भी है जो अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु राग देह मल्हार अलापने में पीछे नहीं हटती। भागमती, 'राग देह मल्हार' की मैं, और 'कत्लगाह यानी माटी कहे कुम्हार से....' की मोहिनि जैसे पात्रों के माध्यम से कथाकार ने दांपत्य जीवन और विवाहेतर संबंध का बारीक

विश्लेषण किया है। कहानी-संग्रह के 'परिशिष्ट' में आज के जटिल समय में प्रेम का एक साक्षात्कार समवेशित है। इसमें कथा की प्रेम संबंधी अवधारणा और दृष्टि का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है।

बालपन है तो बेहद जिद्दी स्वभाव मौजूद है। नौकरीजीवी माता-पिता अपने-अपने काम में व्यस्त होने के चलते उसे उनका पूरा स्नेह और समय नहीं मिल पाता है। इसके फलस्वरूप वह अत्यंत जिद्दी स्वभाव की बन जाती है। साथ ही अपनी आयु की तुलना में अधिक परिपक्व भी। उसकी गतिविधियों के माध्यम से कथाकार ने मनोविज्ञान की विभिन्न परतों को उद्घाटित किया है। दाई या नौकरानी की देख-रेख में पलने वाली मैथिली की मानसिक जटिलताओं एवं ग्रंथियों का सहज तथा स्वाभाविक चित्रण भी प्रस्तुत कहानी में पाया जाता है। एक अत्यंत संवेदनशील तथा दृष्टि संपन्न कथाकार ही मैथिली के मनोविज्ञान की गहरी पड़ताल करने में समर्थ होता है। कहना न होगा कि सुधा अरोड़ा इस गुण से विभूषित हैं। तभी तो पूरी कहानी पढ़ लेने के बावजूद कहीं भी कृत्रिमता नजर नहीं आती। अपनी 'आँखन देखी' को कहानी में ढालने का कौशल सुधाजी के पास है।

इस कहानी में घर के मुखिया दिवाकर का चरित्रांकन बड़ी सूझ-बूझ और बारीकी से प्रस्तुत किया गया है। चित्रा, मैथिली एवं ताराबाई की तरह दिवाकर भी वर्गीय चरित्र (Type Character) है। दिवाकर की खीझ, अवसादग्रस्तता, झल्लाहट, आत्मकेन्द्रिक, अहंवादिता आदि किसी भी महानगरीय मध्यवर्ग के पात्र की विसंगतियाँ हैं। उसके पुरुष अहं के निदर्शन कहानी में यत्र-तत्र परिलक्षित हो जाते हैं। कहानी के प्रारम्भ में दिवाकर द्वारा कप-प्लेट तोड़ना, मुँह फुलाये अखबार पढ़ना, एकमात्र बेटी पर झल्लाना, घर के किसी काम में हाथ न बँटाना, पत्नी चित्रा का ध्यान न रखना, बुखार पीड़ित पुत्री को तड़पते छोड़ कर खर्राटे भरना आदि प्रसंगों से सहृदय पाठकों के मन में आक्रोश जग उठता है। वह कहानी का 'हीरो' नहीं, 'एंटी हीरो' प्रतीत होता है। यह सच है कि दिवाकर अपने समय और समाज की विसंगतियों से आक्रान्त है। महानगरीय यंत्रणाबोध से दग्ध है। अज्ञेय की कहानी 'रोज' की काली छाया से कवलित है। लेकिन सदियों से चली आ रही मर्दवादी व्यवस्था की जीवन्त प्रतिमा भी है। कहानी में कथाकार ने नगर सभ्यता के समक्ष अपने पात्रों के घुटने नहीं टिकवाये हैं। यानी उसके पात्र खूँखार समय से पराजय स्वीकार नहीं करते हैं। बल्कि उसे चुनौती देते हैं। जीवन की एकरसता को तोड़ने का साहस जुटाते हैं। प्रतिकूलताओं में रहकर भी जीवन की 'मॉनोटॉमी' को तोड़ने के लिये रविवार की छुट्टी में बेटी को आया के पास छोड़ पति-पत्नी घर से निकल पड़ते हैं ताकि दांपत्य जीवन में थोड़ी-सी खुशी हासिल हो जाये। यह अलग बात है कि बस में घुसते ही पति-पत्नी के बीच मनोमालिन्य हो जाता है। चिर आकांक्षित

खुशी महानगर की अपार भीड़ में कहीं गायब हो जाती है। समय की विडंबनाओं और विसंगतियों को नकारने का जो प्रस्ताव हुआ, वह अनन्त संभावनाओं के द्वार को उन्मुक्त करता है। कहानी का अन्तिम वाक्य गौरतलब है—"हर साल अपनी इकलौती बेटी का जन्मदिन वे बड़ी धूमधाम से मनाते रहे हैं।" यह कथाकार की सबसे बड़ी विशेषता है।

मैथिली मैथ्यू में तब्दील हो जाती है। यह केवल सूचना नहीं है, सांस्कृतिक संक्रमण का नायाब दृष्टान्त भी। पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण करते हुए हम अपनी जड़ को भुलाते जा रहे हैं। 'आधुनिक' बनने की चाहत हमें कहीं का नहीं छोड़ रही है।

पुरुषशासित समाज व्यवस्था में स्त्री अपने जायज स्पेस बनाने के लिये संघर्षरत है। सुधा अरोड़ा की चित्रा में अधिकार और मातृत्व भावना का जबर्दस्त समन्वय है। मैथ्यू को ताराबाई के यहाँ छोड़कर दिवाकर के साथ खचाखच भरी भीड़ बस में चढ़ते ही उसकी ममता जाग उठती है—"कैसे बिन आवाज रोती है, बहुत नाराज होती है तो गुमसुम हो जाती है...एक रविवार ही तो मिलता है उसे हमारे साथ रहने के लिये...ऐसा कौन सा जरूरी काम है हमें। तीस किलोमीटर दूर अंग्रेजी फिल्म देखने जा रहे हैं, यह ऐयासी नहीं, तो और क्या है?" दिवाकर आग-बबूला होकर घर लौटने की बात कहता है तो चित्रा का जवाब होता है—"बैठो, बैठो, बस में तमाशा मत करो...अपने बच्चे के लिये कुछ महसूस करना भी गलत है।" मैथिली तेज बुखार से पीड़ित होती है तो उसका पूरा जतन चित्रा ही करती है। दूसरे दिन छुट्टी लेने की बात होती है तो पति 'इंस्पेक्शन' का जिक्र करते हुये सो जाना चाहता है। उसे समझाते हुये चित्रा ने जो कहा, उससे कहानीकार की व्यापक कथा दृष्टि का परिचय मिलता है। यहाँ चित्रा सधे हुये स्वर में कहती है—"तुम नहीं जाओगे तो नुकसान तुम्हारा ही होगा न। लेकिन मेरे न जाने से सवा सौ लड़कियाँ बैठी रह जायेंगी। इतनी गैर जिम्मेदार मैं नहीं हो सकती।" सुधाजी की स्त्री अपने स्वत्व के लिये ही नहीं लड़ती। वह अपने कर्तव्य को भी भली-भाँति संपादित करना जानती है। कहानी में मैथ्यू के प्रसंगों में बड़ी मार्मिकता है। इन प्रसंगों से गुजरकर पाठक अत्यन्त करुणा से भर उठता है। छोटी सी बेटी अपने माता-पिता के स्नेह से वंचित होकर न कुछ खाती है, न पीती है। पिता के थपथपाने या दुलारने अथवा गोद में उठाने के प्रयास पर उनका हाथ छटक देती है और चुपचाप नाक के सीध में चल पड़ती है। कितना दुखी है वह। कहानी में ऐसा ही एक और प्रसंग संयोजित हुआ है जहाँ पाठक ठिठककर रह जाता है। द्रवित हो उठता है। यूँ कहें कि आगे पढ़ने के पहले लम्बा 'गैप' लेता है। चित्रा बेटी मैथू को समझा-बुझाकर स्कूल जाना चाहती है तो "मैथू काँपते हाथों से पैरों के जूते पहनने की कोशिश कर रही थी।" फिर उसने कहा—"हम ताराबाई के घर जायेंगे तुम्हारे

साथ।'' महानगर की यंत्रणा से अभिशप्त होना मैथू की नियति बन गई है। ताराबाई के साथ वक्त गुजारना अथवा अपने आप से सूने घर में बात करना या मिसेज शर्मा के घर से भगाया जाना। साढ़े चार साल की उम्र में मैथू जिम्मेदारियाँ संभालना शुरू कर देती है। सचमुच, पाठक करुणाप्लावित हो उठता है मैथू के जीवन के बारे में सोचकर।

'महानगर की मैथिली' कहानी के आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि यह स्त्री संवेदना और स्त्री-विमर्श तक ही सिमटने वाली कहानी नहीं है। यह कहानीकार विमर्श के लिये नहीं रचती है। इतना जरूरी है कि उसकी रचना से विमर्श उभरता है। कई आयाम भी खुलते हैं। उदाहरणतया, इस कहानी में भी सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिदृश्य को प्रसंगतया उपस्थित किया गया है। वर्ग चेतना भी स्पष्ट होती है। मुंबई में रहने वाले मध्यवर्गीय परिवार की उलझनें अथवा दुरवस्था, कहानीकार ने विश्वसनीय तथा रोचकता के साथ प्रस्तुत किया है। परिस्थितियों की चपेट में आकर दिवाकर के परिवार की स्थिति यूँ बन जाती है—''हर बार महानगर का अर्थशास्त्र उसे मात दे जाता था।'' एक निहायत स्वार्थी व्यक्ति बन जाने के कारणों की खोज करते हुये कथाकार लिखती है—''गैर-कानूनी मकानों, अनियतकालीन नौकरी के गलत समझौतों, जिन्दगी की मशीनी रफ्तार और आवश्यकताओं के क्रूर अर्थगणित ने उन्हें एक असहाय, अव्यवस्थित नागरिक से उठाकर एक निहायत व्यावहारिक और स्वार्थी इंसान में तब्दील कर दिया था।''

दिवाकर और चित्रा का बार-बार मकान बदलने का प्रसंग मकान की समस्या को प्रस्तुत करना नहीं है। इसके माध्यम से महानगरीय जीवन यथार्थ को रूपायित भी किया गया है। महानगर के कई चेहरों से परिचित कराने का उद्देश्य भी नजर आता है। संवेदनहीनता और संवादहीनता महानगरीय जीवन की अब खूबी बनती जा रही है। लेकिन, कथाकार की दृष्टि से अंतरंगता और विश्वसनीयता गायब नहीं हुई है। तभी तो ''मुलंड वाले पिछले मकान की पड़ोसिन से मैथ्यू को खास मोह'' हो जाने का स्मरण उसे होता है। दरअसल, कथाकार की वर्गीय चेतना में मध्य वर्ग की विसंगतियाँ शामिल हैं तो निम्नवर्ग की अवसरवादिता भी मौजूद है। यद्यपि सुधाजी प्रतिबद्ध रचनाकार हैं तथापि उन्होंने निम्नवर्ग की कमजोरियों और चालाकियों को छिपाये रखने का प्रयास नहीं किया है। आया के बदले छोटी लड़की रखना और उसका भी उस घर में काम करने की बात करना जहाँ टी.वी. हो। आया द्वारा महीने भर का राशन पानी साफ करना, आया के चेहरे की रंगत बदल जाना और मैथ्यू का दिनोंदिन दुबली होती जाना आदि सामाजिक यथार्थ का मनोरम अंकन किया गया है।

बड़ी चिन्ता की बात यह है कि छोटी बच्ची की परवरिश बिलकुल सही ढंग से नहीं हो पाती है। नाक बहती रहती है, पेशाब करने के बाद देर तक गीले में ही खेलती रहती है। संयुक्त परिवार का विघटन और एकल परिवार की असुविधाओं की ओर पाठकों का ध्यान बरबस खींचा चला जाता है। देश के भविष्य का लालन-पालन इस ढंग से होता रहा तो देश निर्माण का ढाँचा कैसा होगा, यह सहज ही अनुमेय है। कहानी में यह कहा नहीं गया है। लेकिन पूरी कहानी में बिना कुछ कहे बहुत कुछ कहा गया है। इस दृष्टि से 'महानगर की मैथिली' व्यापक धरातल की कहानी सिद्ध होती है।

इस कहानी में महानगरीय बनाम ग्रामीण जीवन के बिंब भी अंकित हुये हैं। हर साल डेढ़ महीने की छुट्टी बिताने वाला दिवाकर का परिवार गाँव के प्रत्येक इंसान को संतुष्ट, सुखी और अवकाश प्राप्त पाता है। इसके विपरीत महानगर के बारे में चित्रा की राय है—"यह महानगर सिर्फ गरीबों के लिये दो जून की रोटी जुगाड़ कर सकता है या व्यापारियों, पैसे वालों और अफसरों के लिये है। नौकरीपेशा निम्न मध्य वर्ग यहाँ मरते दम तक अपनी परेशानियों से उबर नहीं सकता।"

प्रस्तुत कहानी में आधिकारिक कथा और प्रासंगिक कथा का सुंदर ताल-मेल हुआ है। चित्रा के स्कूल में उसकी सहकर्मी मिसेज माथुर के बहाने प्रासंगिक कथा का समायोजन हुआ है और भी प्रासंगिक कथायें हैं। ये कथायें आधिकारिक कथा को पुष्ट करती हैं।

कहानी में ताराबाई के चरित्र को सुंदर ढंग से तराशा गया है। बच्चों को रखने वाली ताराबाई तक अपने जीवन से प्रसन्न नहीं है। आत्मकेन्द्रित है। बस पैसा पहचानती है। ग्राहक को लुभाने वाली भाषा अपनाती है। मुंबइया हिन्दी या मराठी मिश्रित हिन्दी ताराबाई की केवल पाठकों को पसंद नहीं आती है बल्कि इसके प्रयोग से कहानी की विश्वसनीयता बनी रहती है। चित्रा और दिवाकर को अस्वस्थ करते हुये ताराबाई मैथ्यू का पूरा ध्यान रखने और किसी तरह की असुविधा न होने का वचन देती है—"सेठ, तुम फिकिर नईं करना। अब तुम लोग बस इस टाप तक भी नईं पउँचा हेएँगा, इधर मैथू का कथा-पुरान चालू हो जाएँगा।"

बहरहाल, सुधाजी की ताजा कहानी 'बुत जब बोलते हैं....' पर दो-चार बातें की जा सकती हैं।

बुत बोलते नहीं हैं। बुत चुप रहते हैं, बिल्कुल खामोश। कहानी में बुत कोई मूर्ति या प्रतिमा नहीं, बल्कि 'माँ' है, नारी है। पुरुषवादी वर्चस्व उसे बुत बनाये रखता है ताकि उसकी सत्ता बरकरार रहे। सत्ता को विरोध पसंद नहीं है। वह चापलूसों और

पिछलग्गुओं का दल खड़ा करती है। सत्ता चाहती है कि सिर्फ़ वह बोले अन्य सब सुनें। उससे कोई सवाल न करे। जुबान न खोले। आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व मुक्तिबोध ने समाज में व्याप्त भयानक चुप्पी के विषय में लिखा था—

''सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप है
उनके खयाल से यह सब गप हैं
मात्र किंवदन्ती।
रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध ये सब लोग
नपुंसक भोग-शिरा जालों में उलझे,
प्रश्न की उथली सी पहचान
राह से अनजान
वाक् रुदंती।''

—अंधेरे में कविता का आठवाँ भाग

वाक् रुदंती की यह स्थिति सदियों से बनी हुयी है। निर्यातन, शोषण तथा अत्याचार के सहारे उस चुप्पी को बनाये रखने का पुरजोर प्रयास बना रहता है। लेकिन, एक दिन ऐसा आता है जब बुत बनाये गये लोगों की ज्वालामुखी फूट पड़ती है। इस ज्वालामुखी के फटते ही वर्चस्व की सत्ता और क्रूरताएँ तबाह हो जाती हैं। उस स्थिति को सामने रखकर कहानीकार ने शीर्षक रखा है—''बुत जब बोलता है...।'' बुतों के बोलने में विरोध है, प्रतिरोध भी। प्रचलित व्यवस्था के विरुद्ध आवाज बुलंद हुई है तो संवेदना की परतों को उघाड़ने की ईमानदार कोशिश भी। व्यापक परिप्रेक्ष्य की ओर यह शीर्षक संकेत करता है। अतः कहानी का शीर्षक अत्यंत व्यंजनाधर्मी, प्रतीकात्मक तथा युगीन संदर्भों से युक्त है। प्रस्तुत कहानी में बुत सिर्फ़ माँ नहीं है। नीलकण्ठ महादेव या भोले भण्डारी, एयर इंडिया के महाराज, बौने बनाये गये दो इंसान आदि कई बुत हैं। ध्यान देने की बात है कि माँ प्रतिष्ठित डॉक्टर रह चुकी हैं। पिता भी बड़े डॉक्टर हैं। दोनों उच्च वर्ग से संबंधित हैं। अन्य लोग जो बुत बने हुये हैं या बनाये गये हैं निम्न वर्ग से हैं। सूटधारी सुपरवाइजर जो विवाह महोत्सव की देख-रेख करता है, मध्यवर्ग से संबंधित है। देसाई परिवार उच्चवर्ग या अभिजात्य परिवार का है। कहा जा सकता है कि यह कहानी बड़े वितान की रचना करती है। कहानी में वर्ग चेतना और स्त्री चेतना का कलात्मक समन्वय साधित हुआ है। यह कहानी को विशिष्ट बनाता है। आज कल स्त्री चेतना के नाम पर कुछ खास संपादक जो लिखवा रहे हैं स्त्री-विमर्श या 'बोल्डनेस' के नाम पर कहानी में जो कुछ परोसा जा रहा है, उससे सुधा अरोड़ा की कहानी की तुलना नहीं की जा सकती। इनकी स्त्री और 'बोल्डनेस' का स्वरूप बिलकुल भिन्न है। इस

बोल्डनेस में देह-विमर्श नहीं है। दृढ़ संकल्प तथा मजबूत व्यक्तित्व का सुंदर समन्वय है। स्त्री अस्मिता की जबर्दस्त मुठभेड़ है जो मर्दवादी व्यवस्था के लिये चुनौती है। लेकिन यह भी सच है कि यह स्त्री कहीं से भी संवेदनहीन नहीं है। मातृत्व की स्नेहधारा प्रवाहित करती है। बिना लाउडनेस दिखाये कभी शान्त रहकर तो कभी नपे-तुले शब्दों में भी कुछ जवाब देकर वह अपने निर्णय से अडिग रहना भी जानती है। अतः इस कहानी की 'माँ' के माध्यम से कहानी लेखिका ने यह स्पष्ट किया है कि स्त्री-विमर्श, स्त्री चेतना का एक भारतीय आधार है। भारतीय पाठ है। देशी संस्करण है जो किसी भी अर्थ में पाश्चात्य चिंतन से कमतर नहीं है। इसकी जो भारतीय जमीन है वह ठोस है और उसे और अधिक पुख्ता बनाया जा सकता है। असली बात चेतना की है जो सुधा अरोड़ा की कहानी से बार-बार सामने उभरती है। इस संदर्भ में कहानीकार की 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' शीर्षक कहानी का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें स्त्री अस्मिता का यथार्थ रूप अंकित किया गया है।

किसी भी कहानी में वर्णित कथा या घटना महज एक माध्यम बन कर आती है। मूल बात है कथा या घटना के बहाने रचनाकार अपने सरोकार और 'कन्सर्न' को सामने लाने का प्रयास करता है। उसकी कथा दृष्टि से जीवन दृष्टि का परिचय मिलता है। उसकी संबद्धता और प्रतिबद्धता के संकेत सूत्र भी कथा के बहाने उद्घाटित होते हैं। 'बुत जब बोलते हैं....' में सुधा अरोड़ा ने कई संदर्भों, आयामों एवं परिप्रेक्ष्यों को बड़ी शिद्दत के साथ चित्रित किया है। बदलते समय में स्त्री संघर्ष को व्यापक फलक पर अंकित किया है। इस कहानी में कथा नहीं के बराबर है। चिकित्सक दंपती के जीवन में सबकुछ ठीक-ठीक चल रहा था। रुपये-पैसे की कमी न थी। डॉक्टर पति अपने बड़े बेटे को डॉक्टर बनाना चाहते थे। बेटे को यह मंजूर न था। उसने आत्महत्या की। उसके सहपाठी के विवाहोत्सव में बुत बने शिव के प्रति माँ की अपार संवेदना, ममता और मानवीयता फूट पड़ती हैं तो माँ को बुत बने रहने के लिये विवश करने वाले पिता के प्रति तीव्र आक्रोश और विरोध का स्वर सुनाई पड़ता है।

कहानी का प्रारम्भ वातावरण के चित्रण के साथ होता है। लेकिन, वातावरण का विवरणात्मक और ऊबाऊ वर्णन नहीं हुआ है। बड़ा सांकेतिक है यह वर्णन, घर का वातावरण बोझिल है। खीझ, बौखलाहट आदि के साथ पापा के माध्यम से कहानीकार ने पारिवारिक जीवन की अशांति तथा त्रासद स्थितियों की ओर भी इशारा किया है। कहानी का पहला वाक्य—"इस घर में चूहे ही चूहे हैं", पाठकों के मन में उत्सुकता जगाता है। किस घर में? चूहे ही चूहे क्यों है? चूहे बाहर से घर में आते हैं। सामान नष्ट करते हैं। गंदगी फैलाते हैं। 'इस घर' में चूहे कैसे आ गये? आदि सवालों के साथ ही पाठक आगे बढ़ता है तो उसे दूसरा वाक्य मिलता है 'इंसान यहाँ रहते हैं?'

अर्थात् मनुष्य के रहने लायक नहीं रहा ये घर। दरअसल, 'पापा' के कथन से परिवार में व्याप्त तनाव तो जाहिर होता ही है, इसके साथ दाँत भींचकर कहने के पीछे 'माँ' के प्रति उनकी नाराजगी का पता भी चलता है। माँ को केवल अपने बड़े बेटे की तस्वीर की साफ-सफाई का ध्यान है। उसकी स्मृति में सदा डूबे रहने वाली माँ को घर की साफ-सफाई में कोई दिलचस्पी नहीं। सुधा अरोड़ा कहानी के शुरू के दो छोटे-छोटे अनुच्छेदों में संवेदना को सूक्ष्मता के साथ बड़े आत्मीय ढंग से अभिव्यक्त करती है कि पाठक अनायास ही कहानी से जुड़ता चला जाता है। यूँ कह सकते हैं कि पाठक स्वयं कहानी का अंग बन जाता है। यह कहानीकार की बड़ी सामर्थ्य है। यह सामर्थ्य यूँ ही नहीं हासिल हो जाती है। गहरे जुड़ाव और अनोखी प्रतिभा के माध्यम से ऐसी सामर्थ्य प्राप्त होती है।

उल्लेख किया जा चुका है कि 'बुत जब बोलते हैं....' एक बहुआयामी कहानी है। इसमें जितनी चिंता व्यक्ति की है उतनी ही समाज की भी। परिवार की चिंता है तो देश की भी। मातृत्व और संवेदना के व्यापक धरातल का चित्रण है तो पूँजीवादी बाजारवादी कुचक्रों से पीड़ित मानव जाति का हाहाकार भी। अतीत और वर्तमान तो हैं ही।

पापा यानी डॉक्टर बाबू अपने बेटे अभिजीत को नोटों का जत्था थमाते हुये रुपये गिन कर आलमारी के ड्रायर में डाल देने की हिदायत देते हैं। पहले यह काम माँ के जिम्मे था। 'माँ का गणित कमजोर है।' कहानी के केन्द्र में नोटों का जत्था ही है। भूमंडलीकरण के दौर में पूँजी का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। पूँजी ने मनुष्य को व्यक्ति में तब्दील कर दिया है। उसने तमाम रिश्ते-नातों को प्रोडक्ट बनाकर रख दिया है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था में जो बिकता है वह टिकता है। पूँजी और बाजार ने संवेदना, आत्मीयता, मानवता के तमाम गुणों को फालतू सामान की सूची में डाल दिया है। संवेदना छीज रही है। मानवता कराह रही है। लेकिन, पूँजी सर्वशक्ति संपन्न हो रही है। पापा का बड़े बेटे को डॉक्टर बनाने की जिद के मूल में जन सेवा की भावना नहीं है बल्कि अधिक से अधिक मात्रा में रुपये की कमाई है। इस जिद के चलते उन्हें बड़े बेटे को खोना पड़ा। माँ बुत बन गई। लेकिन पूँजी की कठोर मुट्ठी में आ चुके पापा को कोई पछतावा नहीं होता है। पूरी कहानी में एक भी शब्द नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि बेटे की आत्महत्या से पिता दुःखी है। यह है पूँजी का पराक्रम। उसके सामने तमाम इंसानी रिश्ते बौने और ठिगने प्रतीत होते हैं। व्यक्ति बस रह जाता है तो रुपये कमाने वाली एक मशीन। हमारे समाज और समाज की इस विसंगति और विडंबना को कहानीकार ने अत्यंत निपुणता के साथ बिंबित किया है। इसलिये, अभिजीत डॉक्टर बनने की इच्छा माँ के सामने जाहिर करता है तो माँ उसे कहती है—''पापा को बताना। खुश होंगे।'' पाँच शब्दों में इन छोटे-छोटे दो वाक्यों में पापा का सम्पूर्ण

व्यक्तित्व उभर कर प्रगट हो जाता है। पापा का ही क्यों पूँजी की जकड़ में आ चुके तमाम लोगों की अर्थ-लोलुपता साकार होती दिखाई पड़ती है। पूँजी मानवता को पूरी तरह से लील जाना चाहती है। ऐसे में समृद्धि और विकास का भला क्या काम है? बेहद खुशी की बात है कि माँ पूँजी के सामने घुटने टेक नहीं देती। उसने एक ही झटके में पूँजी के माया-जाल को छिन्न-भिन्न कर दिया है। स्मृति, मातृत्व और संवेदना के समक्ष रुपये, धनवैभव आदि को 'मूरी के पातन' सिद्ध कर दिया। माँ ने अपनी प्रैक्टिस छोड़ दी। घर में सिर्फ गरीबों को मुफ्त में इलाज किया। दवाई अपनी ओर से देती रही। पूँजी की शक्ति को पराजित करने को ऐसा नायाब तरीका बहुत कम कहानियों में मिलेगा। इस कहानी की माँ एक बड़ी उपलब्धि है। ममता और संवेदनशीलता की प्रतिमूर्ति है। लगभग बुत बन चुकी माँ ने अपने मृत पुत्र सिद्धार्थ की स्मृति में विवाहोत्सव में शिव की प्रतिमा बने बालक पर दयार्द्र होकर पाँच हजार रुपये दे दिये। पापा के पूछने पर कि लिफाफा कहाँ है, माँ ने स्पष्ट कहा—'मैंने कहीं दे दिया।' जवाब एकदम नपे-तुले शब्दों में। सुधा की नारी की बोल्डनेस देखते ही बनती है। आगे चलकर वह ज्वालामुखी बनती है। "वो मेरे पैसे थे। माय मनी" सुनकर माँ का दृढ़ व्यक्तित्व जाग्रत होता है। उसका जवाब पुरुष वर्चस्व को है तो पूँजीवादी व्यवस्था के लिये भी है—"हाँ, पैसे! तुम्हारे पैसे! शर्म आती है यह कहते हुये?...यही पैसे थे न तुम्हारे, जब नोटों के बंडल पे बंडल भर कर ले गये थे सिद्धू को मेडिकल में एडमिशन दिलाने।...तुम्हारे इन नोटों ने मेरे बेटे की जान ले ली।...बाप नहीं, हत्यारे हो तुम!" कहानी के अन्त में भी पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध है—"घर पहुँचकर मैंने नोट नहीं गिने।" ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि यहाँ 'मैं' नई पीढ़ी का है। सोलह साल का अभिजीत। अपनी माँ के अनुभव को अपने जीवन में उतारने वाला साहसी नवयुवक। सच है कि आज की उपभोक्तावादी सभ्यता पूरी दुनिया को अपनी चपेट में लेने के लिये उतावली हो रही है। लेकिन, माँ अथवा अभिजीत जैसे कुछ पात्र आज भी इस देश में हैं जो भारतीय जीवन मूल्यों की सख्त जमीन पर खड़े हैं और मानव विरोधी शक्तियों को मुँहतोड़ जवाब दे रहे हैं। इसकी कहानी का सौन्दर्य इसकी अन्तिम पंक्तियों में उद्घाटित होता है जहाँ मानव मूल्य के चिरंतन तत्वों की विजय दिखाई पड़ती है—

"मैं माँ के पास बैठा रहा।
माँ ने मुंदी हुई आँखें खोलीं।
मेरे कंधे पर उन्होंने हाथ रखा।
वह स्पर्श आज मैं महसूस कर पा रहा था।
मैंने उनकी हथेली को अपने हथेली से ढक दिया।"

आयातित अनुपयोगी विचारों को सिरे से अग्राह्य करते हुये अपने देश की माटी से उपजे मानव मूल्यों के प्रति एक अगाध लगाव, सम्मान एवं समझ का पूरा परिचय मिल जाता है। एक बात यह भी है कि ममत्व के समक्ष सबकुछ फीका पड़ जाता है। मानव जाति को बचाये रखने के लिये संवेदनशीलता को जिन्दा रखना भी जरूरी है। संवेदना बची रहेगी तो मानवता बची रहेगी। इसी तरह साहित्य भी बचा रहेगा। अतः आज के परिप्रेक्ष्य में इस कहानी की अर्थवत्ता असंदिग्ध है।

पूँजीवादी वर्ग शादी-ब्याह के मौके पर करोड़ों रुपये पानी की तरह बहा देता है। इस प्रतियोगिता में संपन्न राजनेता भी शामिल हैं। धन का प्रदर्शन करना मुख्य लक्ष्य होता है। कुछ 'खास' दिखाने की स्पर्धा में रहते हैं। 'एलिटनेस' का ध्येय रखकर दबदबा कायम रखना चाहता है। साज-सज्जा, खान-पान, स्वागत-सत्कार आदि में भी अपनी विशिष्टता की छाप दिखाने के लिये करोड़ों रुपये फूँक डालते हैं। परंतु, दूसरी ओर नीलकंठ या भोले भंडारी जैसे बुत बनने वाले को सिर्फ पाँच सौ रुपये। भयानक ठंड में नीली मिट्टी से सनी शिवजी का बुत बना करतब दिखाने वाले गरीब बच्चे का चित्रण करते हुये कहानीकार ने वर्ग चेतना को उभारा है। प्रसंगतया, बताया जा सकता है कि इस बच्चे की माँ बीमार है। यहाँ से मिलने वाले रुपये से वह बीमार माँ का इलाज करवाना चाहता है। कहानी की 'माँ' की सदाशयता थी—'क्या खाओगे?' बच्चे ने दक्षिण से लेकर गुजरात-राजस्थान और चीनी-इतालवी-थई, कन्टीनेन्टल भोजन में से किसी को चुने बिना जवाब दिया—'पूरी भाजी।' गरीब के लिये पूरी और भाजी किसी छप्पन भोग से कम नहीं होती। उस लड़के ने माँ से धीरे स्वर में पूछा था— "मेरा पैइसा नई कटेगा न? माई की दवा के लिये चहिये।" सचमुच कहानी का यह अत्यंत मार्मिक दृश्य है जिसे रचनाकार ने अत्यंत संवेदनशीलता और आत्मीयता के साथ चित्रित किया है।

राजसी ठाट-बाट में मनाये जा रहे विवाहोत्सव के बारे में कहानीकार की टिप्पणी है—"शादी है या नौटंकी! हर कोई अपनी अदाकारी के पैसे वसूल रहा है। एयर इंडिया के महाराज से लेकर सुंदरी बालाओं तक।" इस मौके पर बने बुतों को देखकर हमारे समाजार्थिक परिदृश्य (Socio-Economic-Scenario) तथा राजनीतिक परिदृश्य भी उजागर हो जाते हैं। देसाई परिवार में खड़े बुत सांकेतिक हैं। राजनीति के क्षेत्र में बुतों को ही स्थापित कर के मनमाने ढंग से राज किया जा रहा है। सामाजिक स्तर पर बुत खड़े कर सारा विरोध समाप्त किया जा रहा है। सत्ता को विरोध बिलकुल पसंद नहीं है। स्वार्थपरता की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है। 'मेरे क्या?' की भावना समाज से उदासीन बनाती जा रही है। पूँजी हो या सत्ता, उसके द्वारा खड़ी की जा रही बुत व्यवस्था पूरी मानव जाति के सामने बहुत बड़ा प्रश्न चिह्न खड़ा करती है। उत्तर-आधुनिक क्षेत्र में

यह एक बड़ी चुनौती भी है। सुधा अरोड़ा ने लगातार व्यंग्य-बाणों से बिंधे जाने वाली माँ की ज्वालामुखी के विस्फोट से दमन तथा उत्पीड़न करने वाली सत्ता को प्रोत्साहित किया है। अतः कहानीकार ने आज की व्यवस्था की कमेंटरी प्रस्तुत की है।

'बुत जब बोलते हैं....' इनह्यूमिनिटी (अमानवीयता) के विरुद्ध खड़ी होने वाली कहानी है। माँ के माध्यम से उस क्रूर अमानवीयता के रेशे-रेशे को उघाड़कर मानवता का विजय गान किया है।

बाजारवादी अर्थव्यवस्था ने अपसंस्कृति को फलने-फूलने का पूरा अवसर मुहैया कराया है। अपसंस्कृति के बढ़ते प्रभाव से कहानीकार चिंतित नजर आती है। रॉक म्यूजिक के नाम पर कानफोड़ू संगीत का वर्णन हो अथवा माँ पर पापा का अत्याचार, कहानीकार ने पाश्चात्य सभ्यता का खंडन किया। ''मुझे ममी मत बोला कर तू।'' ''माँ ममी से ज्यादा अच्छी लगती है।'' आदि वाक्यों के माध्यम से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। कहानीकार का भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम का भी पता चलता है।

इस कहानी का एक और भी संदर्भ है जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पिता और माता के बीच आई दरार और दूरी के मूल में अर्थ यानी रुपया है। इस दरार से बेटे पर क्या गुजरता है? उसकी मानसिक स्थितियाँ कैसी होती हैं? उन स्थितियों का मनोवैज्ञानिक चित्रण कहानीकार ने किया है। निम्नलिखित वाक्य पर ध्यान दें—''उफ, ऐसी अनोखी प्रजाति के माँ-बाप को हर वक्त झेलना बच्चों को कैसा लगता है, यह कोई मुझसे पूछे। साथ-साथ चले नहीं कि लगता है, एक पतली-सी डोरी पर चल रहे हैं। संतुलन नहीं साधा तो डोरी अब टूटी, तब टूटी। और यह डोरी ये बड़े नहीं साधते, हम बच्चों को ही साधनी पड़ती हैं।'' तरुण बेटे माँ-बाप के साथ राजा बेटे बनकर चलना नहीं चाहते। क्योंकि—''जोर से हँसने या झूम-झूम कर टेढ़ा चलने पर भी जहाँ पाबंदी हो। हर बड़े बुजुर्ग को झुककर प्रणाम करने की जगह गलती से 'हाय या हलो अंकल' बोल दिया तो अपनी खैर नहीं। पापा के साथ चलते हुये मुझे हमेशा 'अटेंशन' की मुद्रा में रहना पड़ता है।'' कहना न होगा कि सुधाजी ने तरुण या युवा मन की गहराई में उतरकर उसे बड़ी विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत किया है। एक और उदाहरण दिया जा सकता है जब पापा माँ को लगभग खींचते हुये गाड़ी में बिठाकर दरवाजा धांय से बंद कर देते हैं तब बेटा का ''मन हुआ कि माँ के कंधे पर हाथ रखूँ, पर पापा का तेवर देखते हुये मेरे हाथ जहाँ के तहाँ रुक गये।''

रोलाँबार्थ ने लिखा है—''लेखक की मृत्यु पर ही पाठक का जन्म संभव है।'' अर्थात् लेखक के 'स्व', 'अहम्' या 'मैं' की मृत्यु हुये बिना अपनी उद्दाम और विस्फोट प्रतिभा का विकास नहीं कर पाता है। इस कहानी को पढ़ कर ऐसा प्रतीत होता है कि कथाकार ने लंबी जद्दोजहद करने के बाद यह कहानी लिखी है। अपने 'स्व'

को तिरोहित करने के लिये लंबा संघर्ष किया है। बड़ी आसानी से 'बुत जब बोलते हैं....' कहानी नहीं लिखी जा सकती है। एक और बिंदु पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि कथा वाचक बेटा अभिजीत है जबकि मूल कथा माँ पापा के माध्यम से प्रगट होती है। ऐसी पद्धति से तटस्थता बनी रहती है। विश्वसनीयता कायम रहती है।

कहानी की गहन अनुभूति और संवेदना की प्रस्तुति के लिये भाषिक संरचना का महत्त्व होता है। कहानी की अंतर्वस्तु और समाज का पूरा ध्यान रखते हुये भाषा की बुनावट हुई है। भाषिक संरचना में परिवेश का भी ध्यान रखा गया है। सहजता इस कहानी की बड़ी खूबी है। सीधी और सहज भाषा, छोटे-छोटे वाक्यों की रचना से कहानी अधिक प्राणवंत होती है। भाषिक स्तर पर विविधताएँ दिखाई पड़ती हैं। सामाजिक स्तर, मनोदशा आदि के अनुसार भाषा निर्मित हुई है। ऐसा लगता है कि अनुभूति के लंबे संघर्ष के बाद कहानीकार ने अभिव्यक्ति की सहजता हासिल की है।

कहना न होगा कि ''बुत जब बोलते हैं....'' शीर्षक कहानी में जीवन-जगत, मनुष्य और समाज, विसंगतियों और अंतर्विरोधों के विविध परिदृश्य बड़ी शिद्दत के साथ अंकित हुये हैं।

'महानगर की मैथिली' में परंपरा और आधुनिकता का समन्वय भी परिलक्षित होता है। यह समन्वय संवेदना के धरातल पर है तो रचना विधान और शिल्प के स्तर भी हैं। परंपरा का अंधानुकरण नहीं है। माँ का महत्त्व शाश्वत है तो जीवन का दंश यथार्थ है।

इस कहानी में भाषिक वैविध्य भरपूर है। भाषा में प्रवाहधर्मिता है। न तो अंग्रेजी शब्दों या वाक्यों से परहेज है न ही देसी 'भाषा' से कोई हिचक है। बस स्वाभाविकता बनी रहे। नौकरीपेशा दिवाकर या चित्रा नगर जीवन की जीवन्त भाषा अपनाते हैं तो मैथू की भाषा में अल्हड़पन और मान-मनौवल का संकेत मिल जाता है। ताराबाई की जुबान यथावत कथा सूत्र में समाहित है। संवाद की जीवंतता भाषिक विशेषताओं के कारण बनी हुई है। सबसे बड़ी बात यह है कि पात्रानुकूल और प्रसंगानुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है। इससे कहानी में भाषिक सौंदर्य निखर जाता है। भाषिक संरचना की दृष्टि से भी यह कहानी खरी उतरती है। कहानी की अंतर्वस्तु और समय का पूरा ध्यान रखा गया है। फलस्वरूप न तो कहानी में भाषिक संरचना कहीं कमजोर हुई है और न ही विश्वसनीयता का अभाव परिलक्षित होता है। सहजता, स्वाभाविकता एवं आत्मीयता कहानी को विशेष महत्त्व प्रदान करती है।

'महानगर की मैथिली' मुंबई से संबंधित है तो 'दमनचक्र' का संबंध कलकत्ता महानगर से है। लंबे अर्से से कथाकार मुंबई में रहती आ रही है और कलकत्ता में बड़ी हुई, पढ़ी-लिखी तथा अब भी इससे संबंध बना हुआ है। आशय यह कि अनुभूति

को कथा-रूप देना इस कहानीकार का कथा-कर्म है। 'दमनचक्र' में पिता, पुत्र और पुत्री का परिवार है। मध्यवर्गीय पारिवारिक विसंगतियों के साथ-साथ सामाजिक तथा सांस्कृतिक अंतर्विरोधों का भरोसेमंद चित्रण मिलता है। इस कहानी में आप देखेंगे कि कहानीकार ने कथा कहने का ढंग अपनाया है। शुरू से लेकर लगभग अंत तक कहानी में एक तनाव व्याप्त है। संघर्ष जारी है। अंत:संघर्ष और बहि:संघर्ष दोनों मौजूद हैं। बीच-बीच में स्थानीय रंगत की खुशबू मिलती है। कथा वाचक की तटस्थता देखते ही बनती है। न तो वह अभिजन समाज के विरुद्ध है और न ही पूजा समिति के सदस्यों के समर्थन में है। जो सच है, यथार्थ है वह उसे पेश कर देती है अत्यंत प्रभावशाली तरीके से। कलकत्ता में दुर्गापूजा, कालीपूजा, लक्ष्मीपूजा, जगद्धात्री पूजा, सरस्वती पूजा आदि धूमधाम से मनाई जाती है। चंदे इकट्ठे किये जाते हैं। चंदे को लेकर झड़पें, संघर्ष आदि भी होते हैं। बित्ते भर मोहल्ले में दस पंडाल लग जाते हैं। आमजन हो या अभिजन कहाँ-कहाँ चंदा दे। पूजा समितियों के अपने-अपने तर्क हैं तो चंदा देने वालों के अपने तर्क हैं। बाहर का तनाव परिवार को अशांत करता है। पारिवारिक अशान्ति का बाहर प्रतिफलन होता है। ऐसे में दमन चक्रवर्ती उर्फ दमनचक्र यानी दामू जैसे नवजवानों को किन-किन विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, उसका जीवंत रूपायन इस कहानी में हुआ है। लेकिन, सुधा अरोड़ा की कहानी की सबसे बड़ी खूबी है रिश्तों को बचाये रखने में विश्वास। तमाम विरोधों और शिकायतों के बावजूद बहन (कथावाचक) अपने घायल भाई के पास अस्पताल पहुँचती है। आत्मीयता, स्नेह और सद्भाव की विजय होती है। एक बात और भी है कि पीढ़ियों की दरार (जनरेशन गैप) नई पीढ़ी में बढ़ती असंवेदनशीलता की प्रवृत्ति पर चिंता देखी जा सकती है। महानगर में लोग अपनी खुशी और मस्ती के लिये जुलूस निकाल रहे हैं। उन्हें दूसरों के दु:ख और असुविधाओं से कोई मतलब नहीं है। 'दमनचक्र' कहानी समाप्त हो जाती है तो कथाप्रेमियों की चिंतायें जारी रहती हैं। उनके मन में बेचैनी उफान भरने लगती है। अत: 'दमनचक्र' एक उल्लेखनीय कहानी है।

उल्लेख किया जा चुका है कि सुधा अरोड़ा का लेखन व्यापक संसार फलक से युक्त है। 'हंस' के दिसंबर 1996 में प्रकाशित 'काला शुक्रवार' बंबई (मुंबई) बम विस्फोट कांड पर आधारित है। रचनाकार की चेतना को झकझोर देने वाला अनुभव इस कहानी के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। विनाश की क्रूर ताडंव लीला में मानवता की हत्या होती है। हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई अथवा किसी अन्य सम्प्रदाय का क्यों न हो उसका प्रथम और अंतिम परिचय है कि वह मनुष्य है। कहानीकार ने बड़ी बारीकी से दंगाई वातावरण का अध्ययन प्रस्तुत किया है। सांप्रदायिक वैमनस्य फैलाने वाले मनुष्य विरोधी शक्तियों की पहचान कराई है। खूनी हिंसा, तनाव, आगजनी, मारकाट, उत्तेजना

से भरपूर वातावरण के लिये जिम्मेदार असली दोषी की शिनाख्त करते हुये लेखिका का मानना है—''कसूर किसका है भाई? हमारा, हम जो नेताओं की शतरंज के मोहरे बने हुये हैं। जटिल हैं हम। जान लेनी है तो हुकूमत में घुसो। उन्हें मारो, जो अपनी गद्दी की खातिर तुम्हें लड़वा रहे हैं। क्यों राह चलते बेगुनाह इंसान की जान ले रहे हो?'' दहशत भरे वातावरण में भी आहत लोगों का साथ देने के लिये खून देने वालों की बहुत लंबी क्यू थी। इसमें हिंदू, मुस्लिम, सिख सभी धर्म के लोग शामिल थे। कहानी का मीराज भी वहाँ था—''वहाँ जाकर एक बार फिर मीराज की इंसान में आस्था लौट आई थी। मीराज कह रहा था—''कोई भी इंसान बुरा नहीं होता।'' सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता और प्रतिबद्ध कहानीकार की यह रचना निश्चित तौर पर पाठकों के मन में उद्वेलन ले आती है। कथा-भाषा, अंतर्वस्तु, शिल्प, रचना विधान आदि की दृष्टि से भी 'काला शुक्रवार' एक महत्त्वपूर्ण कहानी है।

सुधा अरोड़ा जन पक्षधर कहानीकार हैं। स्वस्थ समाज निर्माण के बाधक तत्त्वों को आड़े हाथों लेना उनकी रचनाशीलता की बड़ी विशेषता है। समाज में धर्म के नाम पर कुसंस्कार तथा ढोंग फैलानेवाले तथाकथित धर्मध्वजाधारियों की असलियत को 'देह धरे का दंड' में उघाड़ा गया है। आश्चर्य की बात यह है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी का जितना अधिक विकास हो रहा है, मनुष्य उतना ही धर्म की संकीर्ण गलियों में आबद्ध हो जाता है। योगी सबसे बड़े भोगी बनते जा रहे हैं। धर्मगुरु हत्यारों का काम कर रहे हैं। इस कहानी में तनेजा परिवार के सदस्य स्वामी सदानंद के द्वारा ठगे जाते हैं। अपने को सिद्ध योगी, परम गुरु व श्रेष्ठ त्यागी बनने का वृथा दावा करने वाले असल में महापाखंडी और ढोंगी हैं। कहानीकार ने विशाखा के माध्यम से प्रतिवाद का स्वर बुलंद किया है। ईश्वर का परम भक्त और महान् ज्ञानी बनने का दावा ठोकने वाले की असलियत यह है कि वह परम कामुक और महाढोंगी है। कहानीकार की चिंता बिलकुल जायज है। मनुष्यताविरोधी विश्वासघाती तथाकथित स्वामियों और साधुओं के बारे में ''विशाखा को लगता है, वह अकेली एक जंगल में भटक गई है। चारों ओर भेड़िये ही भेड़िये हैं, चाहे वह गेरूए कपड़े में हो या सफेद कपड़ों में, लंगोटनुमा धोती में हो या सूट-बूट टाई में। भेड़िये-ही-भेड़िये। चारों ओर। नत्थू सिर्फ अंधेरे गलियों से नहीं कहीं से भी कोई भी, चेहरा पहनकर आ सकता है।'' सुजाता हो या फिर उसकी बहन विशाखा अथवा कोई और हो, उन्हें छेड़ना, कुकर्म करना अथवा मतलब निकालना इन धर्म गुरुओं का मानो अधिकार है। दुःख और घोर चिंता का विषय यह है कि परिवार के बुजुर्ग अंधभक्ति में डूबे, कुसंस्कार से लिपटे वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ हैं। मासूम बच्चियों को शिकार बनाना इन गुरुओं का स्वभाव बन चुका है। कहानीकार ने इसे सधी हुई भाषा-शैली में असरदार तरीके से कथासूत्र में पिरोने का ईमानदार प्रयास

किया है। निस्संदेह 'देह धरे का दंड' शीर्षक कहानी धार्मिक ढकोसलों पर कुठाराघात करती है।

सुधा अरोड़ा के कथा-सृजन की सबसे बड़ी विशेषता यह कि वे कहानी की शुरुआत में ही पाठकों को 'इनवॉल्व' कर देती हैं। कहानी की सहयात्रा करते हुये पाठक आगे बढ़ते हैं। कहानी के साथ जुड़ते चले जाते हैं। 'काँच के इधर-उधर' कहानी में भी यह वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है। इस कहानी में ही नहीं, सुधाजी की अधिकांश कहानियों में संवेदनात्मक गहराई है। फलस्वरूप उनकी कहानियाँ बेजान नहीं, जीवंत प्रतीत होती हैं। 'काँच के इधर-उधर' शीर्षक कहानी में बुर्रा, मक्खी, रानी मधुमक्खी आदि के प्रसंग अधिक सांकेतिक हैं। पुनः इस कहानी में कथाकार की सामाजिक प्रतिबद्धता और वर्गीय चेतना के तमाम प्रमाण उपलब्ध हैं। बिना सामाजिक संबद्धता के ऐसी कहानी नहीं लिखी जा सकती है। गगनचुंबी इमारतों (टॉवरों) के निर्माण कार्य में जुटे रेशमा के पिता मजदूरी करते थे। बोल न पाते थे। बड़ा ही ईमानदार, कोई बुरी लत न थी। चालीसवीं मंजिल से यह मजदूर चौंतीसवें माले पर गिरकर वहीं भगवान को प्यारा हो गया। ठेकेदार अपनी ओर से जी-जान लड़ा देता है कि मजदूर के परिवार को हर्जाने के तौर पर एक भी पैसा न मिले। अनपढ़ मजदूरों से अंग्रेजी कागजों पर अंगूठा लगवा लिया जाता है। एक लंबी लड़ाई लड़ी जाती है कि मजदूर के परिवार को कुछ क्षति-पूर्ति मिले। मूका के दोनों बच्चों—रेशमा और सीमा को कुछ राहत मिले। पूरी कहानी पढ़कर पाठक महसूस करेंगे कि सच्ची घटना पर ही यह कहानी आधारित है। कहानी में छः साल की बच्ची चिलकी का अनन्य चरित्र-चित्रण हुआ है। कहानीकार का मातृत्व और संवेदना की व्याप्ति से कहानी विशिष्ट बन पड़ी है। नगरीकरण की आंधी ने गरीबों तथा मजदूरों को पूरी तरह से विस्थापित कर दिया है। मधुमक्खी के छत्तों के बहाने कथाकार ने सांकेतिकता के माध्यम से मजदूर वर्ग के यथार्थ का चित्रण किया है—''यह एक सुयोजित मिशन था जिसके तहत मक्खियाँ अपने महीनों के बुने छत्ते और जमा किये गये शहद के प्राकृतिक खजाने से बेदखल कर दी गई थी।'' मजदूर परिवार की दुर्दशा का चित्रण भर कर के कहानीकार अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं मान लेती हैं। अपनी शक्ति सामर्थ्य और संवेदना उड़ेलने वह अभावों से भरपूर संसार को न्याय दिलाने लिये संघर्ष करती है। मजदूर के बच्चे की प्रतिभा को उद्‌घाटित करते हुये वह प्रसन्न होती है तो तकलीफों से भरे रहने पर भी अदम्य जिजीविषा देखकर वह पुलकित होती है। कहानी में बच्चों का मनोविज्ञान अंकित हुआ है तो तथाकथित 'एलिट' वर्ग की प्रच्छन्न मानसिकता का उद्‌घाटन भी हुआ है। कथा-सूत्र मजबूत है। उत्सुकता बनाये रखने में कहानी पूर्णतया समर्थ है। भाषिक वैविध्य से कहानी में जीवंतता बनी रहती है। सामाजिक अंतर्विरोधों और विसंगतियों का मनोज्ञ रूपायन हुआ है। इस

कहानी में चित्रित यथार्थ हमारे समय का सच है। अतः निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 'काँच के इधर-उधर' एक असाधारण प्रतीकात्मक कहानी है।

'हंस' के जून 2014 में प्रकाशित 'उधड़ा हुआ स्वेटर के बारे में' कहानीकार की मान्यता है कि 'प्रेम की अनुपस्थिति में प्रेम की व्याप्ति' की कहानी है। 2007 में इस कहानी का बीज पड़ा था जो 2014 में फल के रूप में हासिल होता है। सात-आठ वर्षों तक कहानी का 'प्लॉट' कहानीकार के मत्थे रहा। आज के युवा कथाकारों को इस तथ्य से बहुत कुछ सीख लेनी चाहिये। फास्ट कल्चर के जमाने में हड़बड़ाहट में साहित्य सृजन के प्रति अत्यधिक आग्रह को त्यागना या रोकना चाहिये। बहरहाल इस कहानी को वृद्ध जीवन की कथा मात्र मानकर इसके आयतन को सीमित न किया जाय।

सुधा अरोड़ा ने 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी', 'करवाचौथी औरत', 'एक औरत तीन बटा चार', 'रहोगी तुम वही', 'सत्ता संवाद' जैसी अनेक छोटे आकार की मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं। ये कहानियाँ स्त्री जीवन से संबंधित हैं। ये कहानियाँ पाठकों तथा आलोचकों द्वारा समाहित तथा उच्च प्रशंसित हुई हैं। हिंदी के वरिष्ठ कथाकार एवं चिंतक मुद्राराक्षस ने 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' पर दीर्घ विवेचन देते हुये स्थापित किया है कि सुधा अरोड़ा की कहानियाँ "छोटे आकार में महागाथा है।" उनकी सटीक स्थापना भी है—"निश्चय ही यह स्त्री-विमर्श हिंदी कथा-लेखन का अगला अध्याय शुरू करता है। यह इस बात की भी चुनौती है कि हिंदी कहानी को कविता सुलभ सौंदर्यबोध की जमीन से हटाकर समझने की कोशिश करनी होगी।" सुधाजी की अपेक्षाकृत लंबी कहानियों में भी अनावश्यक विस्तार का अभाव है। स्फीत नहीं है। ऐसे में छोटी कहानियों में रचनाकार की सान्द्रता एवं प्रभावोत्पादकता अधिक होना स्वाभाविक है। इसमें स्त्री चाहे किसी भी पृष्ठभूमि से क्यों न हो वह भारतीय परंपरा की देवी के रूप में महिमामंडित होना नहीं चाहती है। वह विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की नारी है जो न तो देवी है और न दानवी। वह मानवी बन कर रहना चाहती है। सहचरी बनना चाहती है।

'करवाचौथी औरत' में सविता निर्जला व्रत रखती है। कुतिया फ्लॉपी को सड़ा हुआ खाना परोसकर घर की चहेती को भी भूखा रखना चाहती है। परिवार में बेटियाँ और पापा इसके खिलाफ हैं। हास्य और व्यंग्य का अद्भुत मेल कहानी में मिलता है। पूरा परिवार कुतिया के लिये चिंतित है, सविता के लिये नहीं। कहानी के अंत में सविता की प्रार्थना है—"हे गोरैया माता, अगले जन्म में अगर मुझे मनुष्य योनि में जन्म न मिले तो पशु योनि में मुझे किसी पालतू घर की कुतिया बना देना ताकि मैं करवाचौथ के दिन अपना जूठा मुँह किसी सुहागन की लाल साड़ी में पोंछ सकूँ।"

'एक औरत : तीन बटा चार' अथवा 'रहोगी तुम वही', 'सत्ता संवाद' हो अथवा कोई अन्य छोटी कहानी, पाठक इनसे गुजर कर स्तब्ध रह जाते हैं। उनके रौंगटे खड़े हो जाते हैं। स्त्री पर नित्य नये रूप में चल रहे दमन व शोषण के चक्र से वह बुरी तरह पीड़ित हो रही है। उसकी मौन चीख जारी है। वह लड़ती जा रही है। हारती या जीत हासिल करती है, इसका कोई मतलब नहीं है। मतलब है तो उसके जुझारूपन का। संघर्षरत है। सुधा अरोड़ा की स्त्री के इस रूप को उपर्युक्त कहानियों में देखा जा सकता है। 'रहोगी तुम वही' और 'सत्ता संवाद' एक-दूसरे की पूरक कथायें हैं। ध्यान देने की बात है कि दोनों छोटी कहानियों में स्त्री ही है। उसके वक्तव्यों से गुजरकर पाठकों के अंत:करण में उद्वेलन होता है। पुरुष सत्तात्मक तंत्र में नारी की आवाज तक कुंद कर दी जाती है। वहाँ स्त्री अपनी अस्मिता को बनाए रखने की पूरी निष्ठा सहित ईमानदारी के साथ जुड़ी रहती है। सुधा अरोड़ा की स्त्री का यह रूप निश्चित रूप से उनके समकालीनों से अलहदा है।

'रहोगी तुम वही', 'सत्ता संवाद' दो छोटी कहानियाँ हैं। इन दोनों कहानियों को अलग-अलग नहीं, साथ-साथ पढ़े जाने की जरूरत है। 'रहोगी तुम वही' में पुरुष का दंभ, घमंड, उसकी मर्दवादी सोच-समझ, स्त्री को निहायत मूर्ख समझने, नीचा दिखाने की मनोवृत्ति आदि स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। 'सत्ता संवाद' में वक्ता स्त्री है जबकि 'रहोगी तुम वही' में वक्ता पुरुष है। ध्यान देने की बात यह है कि दोनों कहानियों में पुरुष के 'गुण-धर्म' हैं। स्त्री नौकरी से संसार चलाती है। पुरुष बैठे-बैठे रोटियाँ खाता है। लेकिन यह भी नहीं कि घरेलू कामों में कुछ मदद कर दे। मदद न भी करे तो कोई बात नहीं, लेकिन जब-तब उसकी जेब में प्रेम पत्र मिल जाते हैं। इन कहानियों से गुजरकर पाठक का मन ऐसे निठल्ले पुरुषों के प्रति आक्रोश से भर उठता है। स्त्री के प्रति उसका संवेदनात्मक जुड़ाव गहराने लगता है। केवल संवादों से पूरी कहानी लिखी गई है। जबर्दस्त भाषा है। प्रभावशाली शब्द चयन हैं। 'नावक के तीर' की तरह असर करती है यहाँ कहानीकार की भाषा-शैली।

सुधाजी ने अपने को दुहराया नहीं है, रिपिट होने नहीं दिया है। कहानियाँ विविध रंगों, सेड्स और भावबोध की हैं। अस्तु, सुधा अरोड़ा के कथा-संसार के सरोकार और उनकी कथा-दृष्टि से रू-ब-रू होने के लिए कहानियों की बड़ी भूमिका है। कहा जा सकता है कि सुधा अरोड़ा अपनी पीढ़ी की ही नहीं, हिंदी कथा दुनिया की एक महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं।

• ● •

नारी, दलित और सत्ता : शिवमूर्ति की कहानियाँ

"मेरे मन में कहानी सर्वप्रथम सूत्र रूप में कौंधती है...कोई घटना, संवाद और दृश्य को देखकर...खासकर उसकी परिणति या मूलभूत वक्तव्य परिदृश्य के रूप में पहले उभरता है...फिर शुरू होती है उन परिदृश्यों को तारतम्य देने की प्रक्रिया...फिर बुनावट की प्रक्रिया...कथा में विश्वसनीयता और स्वाभाविकता लाने का कार्य...प्राय: अंतिम ड्राफ्ट में पहले ड्राफ्ट का पाँचवाँ भाग ही शेष रह जाता है...उसका बहुत कम अंश तलछट में रह जाता है।...मगर एक बात स्पष्ट कर देना चाहूँगा...चरित्र ही मेरी कहानी का आद्यंत है, मेरी कहानियाँ मुख्यत: चरित्र प्रधान हैं। मेरी कहानियों में जो कुछ भी किया गया है सब कुछ उन चरित्रों को 'बताने' के लिए...मेरी कहानियाँ उन चरित्रों के बारे में बतियाती हैं...इसके अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं कर पातीं।"

—शिवमूर्ति : मंच, जनवरी-मार्च 2011, पृ. 154

"काहे आपकी मती भरिष्ट भई है सिकरेटरी बाबू।...हम गरीबन का भी दुनिया मा इज्जत-आबरू के साथ परा रहे देव। हाथ जोड़ित हैं। चेल जाब।...उद्धार जाकर अपनी माई-बहिन का कर दाढ़ीजार। उन्हीं को पढ़ा अपना यह 'परेमसागर'।"

—केशर कस्तूरी, अकालदंड, पृ. 38

"मन में सवाल उठने लगे—क्या मिला उसको उन्हें आगे बढ़ाकर? वे बेरोजगार रहते, गाँव में खेती-बारी करते। वह कंधे से कंधा भिड़ाकर खेत में मेहनत करती। रात में दोनों सुख की नींद सोते। तीनों लोकों का सुख उसकी मुट्ठी में रहता। छोटे से संसार में आत्मतुष्ट हो जीवन काट देती। उन्हें आगे बढ़ाकर वह पीछे छूट गई। माथे का सिंदूर और हाथ की चूड़ियाँ निरंतर दुख दे रही हैं उसे।"

—केशर कस्तूरी, सिरी उपमा जोग, पृ. 67

आज का दौर भूमंडलीकरण का है। पिछले तीन दशकों से भारतीय समाज को भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण की आँधी ने बुरी तरह से प्रभावित किया है। भारतीय समाज बाजारवाद और उपभोक्तावाद का शिकार बनता जा रहा है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था के चपेट में आकर अपनी जड़ों को उखाड़ने में भी पीछे नहीं रहा है। मानव-समाज में निरंतर घुलते जहर की परवाह किए बिना आज का व्यक्ति पूँजी की दासता स्वीकार कर रहा है। बहुत पहले मार्क्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र में कहा था कि अपने उत्पादों के बाजार की तलाश बुर्जुआ को पूरे भूमंडल में दौड़ाती है। इसे अपना बसेरा सर्वत्र बनाना है, इसे सर्वत्र बसना है, इसे अपना संपर्क सर्वत्र फैलाना है। पूँजीवादी शक्तियों के इस माया-जाल को भूमंडलीकरण के नाम से जाना गया। इसे मुहिम के तहत चलाया गया। अस्सी के दशक में शुरू हुई यह मुहिम नब्बे के दशक तक स्थापित हो चुकी थी। भूमंडलीकरण, बाजार, निजीकरण, मुक्त बाजार, मुक्त पूँजी आदि के लुभावने नारे सर्वत्र गूँजने लगे। बड़े-बड़े दावे किये गये कि पूरे भूमंडल में खान-पान, बोली-बानी, पहनावा-ओढ़ावा आदि में बड़ी भारी समानता होगी। पूरी वसुधा में एकता कायम होगी, सारे भेद मिट जायेंगे और खुशहाली तथा समृद्धि छाई रहेगी। परंतु, सारे दावे झूठे साबित हुए। छद्म नारा बना लूटो, नहीं तो लूट लिये जाओगे। फलस्वरूप, लूट-पाट, अराजकता, शोषण-दमन, अत्याचार आदि को फलने-फूलने के ढेर सारे अवसर मिले। भारतीय संदर्भ में देखें तो एक ओर 'मॉल-कल्चर' विकसित हुआ तो दूसरी ओर जीवन की आधारभूत सामग्री से वंचित आमजन अभिशप्त जिंदगी बिताने के लिए विवश हो गया। जीवन की स्थितियाँ तेजी से बदलने लगीं। द्रुतगति से परिवर्तित होने वाले समय और समाज की नब्ज को पहचानने का प्रयास समकालीन साहित्य करता है। यह प्रयास समकालीन कहानी संसार में भी दिखाई पड़ता है। शहरीकरण, औद्योगिकीकरण, महानगरीय जीवन स्थितियों के दुष्प्रभावों को समकालीन हिंदी कहानी में बड़ी मात्रा में चित्रित किया गया और आज भी किया जा रहा है। लेकिन, शहर की चमक-दमक से काफी दूर, उपेक्षित, अवहेलित, दमित, पीड़ित, निर्यातित जीवन बितानेवाले ग्रामीण समाज को जीवंतता प्रदान करनेवाले एक-आध कहानीकार ही नज़र आते हैं। इस दिशा में शिवमूर्ति का स्थान अद्वितीय है।

अक्सर आलोचकों की यह शिकायत रहती है कि हिंदी कथा-साहित्य में गाँव अनुपस्थित रहता है। जो गाँव रहता भी है वह स्मृति के आधार पर रचा-बसा गाँव जहाँ न कोई जीवन है और न स्पंदन। प्रेमचंद और रेणु की विरासत में कथा-संसार में स्पंदनहीन गाँव का होना बड़ी चिंता का विषय है। समकालीन कहानी के कुछ ही रचनाकारों ने भारतीय ग्राम समाज के चित्र अंकित किये हैं। इनमें से शिवमूर्ति, महेश

कटारे, कैलाश बनवासी, पुन्नी सिंह, सत्यनारायण पटेल जैसे कुछ ही कहानीकारों के नाम लिये जा सकते हैं। दरअसल, स्मृतियों से वर्णित गाँव में जीवंतता नहीं होती है। गाँव की स्थितियों में रचने-बसने के बाद, उनसे गहरी संपृक्ति के बाद गाँव का चित्रण हो तो वह विश्वसनीय तथा जीवंत प्रतीत होता है। कहना न होगा कि शिवमूर्ति भारतीय समाज की ग्रामीण संरचना में जीने, रचने-बसने, अंगों से निभाने, अंतर्दृष्टि से संपन्न होने के बाद ग्रामीण विसंगतियों, तनावों, अंतर्द्वन्द्वों, अंतर्विरोधों, संघर्षों आदि को अंकित करने वाले कहानीकार हैं। इस दृष्टि से शिवमूर्ति अपने समकालीन कथाकारों से विशिष्ट हैं। यद्यपि पाठक शिवमूर्ति की कहानियों में प्रेमचंद और 'रेणु' के लेखन की ढेर सारी समानताएँ पाते हैं, खास करके ग्राम-जीवन के संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों में, तथापि शिवमूर्ति की कहानियों की लीक शिवमूर्ति की ही है। आर्थिक, सामाजिक असमानता और उसका विरोध प्रेमचंद करते हैं तो शिवमूर्ति की कहानियों के पात्र भी करते हैं। अंतर्विरोधों, विसंगतियों का यथार्थ चित्रण 'रेणु' की तरह शिवमूर्ति की कहानियों में भी हुआ है। लेकिन, शिवमूर्ति ने अपने ढंग से किया है। उन्होंने अपने लेखन के लिए जितना महत्त्व अनुभूति की प्रामाणिकता को दिया है उतना विचार को नहीं दिया है। वैयक्तिक स्तर पर तरुणावस्था से आर्थिक संकट, आजीविका जुटाने के लिए सिलाई सीखी, बीड़ी बनाई, कैलेंडर बेचा, बकरियाँ पालीं, ट्यूशन पढ़ाया और भी बहुत कुछ करना पड़ा अर्थात् व्यापक जीवनानुभव हासिल है शिवमूर्ति को। उनकी संघर्षशीलता ने उन्हें कभी पराजित होने नहीं दिया है। संघर्षरत रचनाकार की कथा-दुनिया में उनके अनवरत संघर्ष के चित्र हमें प्रेरित करते हैं लड़ने के लिए, जूझने के लिए, अन्याय का विरोध और प्रतिरोध करने के लिए भी।

शिवमूर्ति का रचना-काल दीर्घ है। 1968-1969 में प्रकाशित उनकी पहली कहानी 'पानफूल' से लेकर आज तक व्याप्त है। लगभग पैंतालीस वर्षों के रचना-समय में शिवमूर्ति की रचनाओं की सूची अति संक्षिप्त है। 1991 में 'केशर-कस्तूरी' शीर्षक कहानी-संग्रह के अलावा 'तद्भव' के अंक—24, अक्टूबर—2011 में 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर' तथा 2013 में 'बनाना रिपब्लिक' कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं जिन्हें 'कुच्ची का कानून' के अंतर्गत रखा गया है। कुल दस कहानियाँ हैं। 'त्रिशूल', 'तर्पण और 'आखिरी छलांग' शीर्षक तीन उपन्यास भी प्रकाशित हुए हैं। शिवमूर्ति की चर्चा करते समय संख्या कोई महत्त्व नहीं रखती है। परिमाण की अहमियत नहीं रह जाती है। उनकी एक-एक कहानी को जो ख्याति प्राप्त हुई है, विश्वसनीयता हासिल हुई है वह अन्यत्र दुष्प्राप्य है। 'कसाईबाड़ा' शीर्षक अकेली कहानी का उदाहरण पेश किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि इस दौर में कोई कथाकार नहीं है जिसकी तुलना शिवमूर्ति

से की जा सकती है। 'कसाईबाड़ा' के हजार मंचन हो चुके हैं। 'भरतनाट्यम्', 'कसाईबाड़ा', 'तिरिया चरित्तर' पर फिल्में बन चुकी हैं। संक्षेप में, शिवमूर्ति के रचना-संसार की लोकप्रियता, विश्वसनीयता और ग्रहणशीलता उनके समकालीन रचनाकारों की ही नहीं समकालीन हिंदी कथाकारों की भी तुलना नहीं की जा सकती है। इस रचनाकार को कथालोचन में अपेक्षित महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ है।

शिवमूर्ति की कहानियों में उत्तर भारत के ग्रामीण जीवन के बहाने संपूर्ण भारतीय ग्राम-जीवन की मुकम्मल तस्वीर पेश करती हैं। इनमें पिछले पैंतालीस-पचास वर्षों के भारतीय गाँवों की बदरंग तस्वीर आँकी गई है। भारतीय गाँवों के नये समाजशास्त्र को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पारिवारिक तथा सामाजिक विघटन है तो सवर्णों का दलितों पर अत्याचार और दमन भी। आजाद भारत के गाँववाले खास करके दलित-पीड़ित वर्ग के लोग अपनी आजादी के लिए तरस रहे हैं। विकास की योजनाओं के बहाने इन्हें गरीब से दरिद्र बनाकर छोड़ दिया गया। पीढ़ियों से दमित और शोषित वर्ग को और भी दमन तथा शोषण के चक्रव्यूह में समाप्त हो जाना पड़ता है। सामाजिक, आर्थिक स्तर पर शोषित होना पड़ा। यौन-शोषण का शिकार बनीं निचले तबके की स्त्रियाँ। शिवमूर्ति ने गाँव के 'फूल, धूल और शूल' को उकेरकर उसे अपनी कहानियों में यथार्थ रूप से अंकित किया है।

शिवमूर्ति की कहानियों में अभिशप्त मानव-जीवन का दस्तावेज है तो उसे अभिशप्त बनाने वाली क्रूर, निर्मम, शोषक शक्तियों की चालाकियाँ और साजिशें भी। कुपोषण, बीमारी से ग्रसित जन-जीवन का आर्त्तनाद है तो अंधविश्वास और रूढ़ियों से पीड़ित आमजन का भी चित्रण हुआ है। दलित समाज और नारी-जीवन की त्रासदियों को शिवमूर्ति ने जिस सामर्थ्य और संवेदन के साथ चित्रित किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। न्याय की गुहार लगाकर यह समाज व्यथित है, क्लांत और श्रांत भी। ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय की आकांक्षा को शिवमूर्ति की कहानियाँ समर्पित हैं। न्याय न मिला तो शिवमूर्ति के पात्र भाग्यवादी बनकर बैठे नहीं रहते हैं। न्याय के लिए लड़ते हैं, जूझते हैं। जरूरी नहीं कि उन्हें इस संघर्ष से विजय मिले। जरूरी यह है कि वे संघर्षशील हैं। अपनी संघर्षशीलता जारी रही तो जीत होगी। आज नहीं तो कल। दमनकारी शक्तियों को जवाब देना महत्त्वपूर्ण होता है। ये शक्तियाँ नारी और दलित को न जीने देती हैं और न मरने। इनकी पहुँच लंबी होती है। सत्ता इनके साथ होती है। अन्याय के आधार पर इनका वर्चस्व जारी रहता है। लेकिन, शिवमूर्ति के लड़ाकू पात्र चाहे जो हों 'बेचारे' नहीं हैं। न्याय और अधिकारों से वंचित होने पर भी सत्ता को चुनौती देते हैं। शक्ति संपन्न वर्ग को ललकारना भी वे नहीं भूलते। 'कसाईबाड़ा' की शनिवारी,

'तिरिया चरित्तर' की विमली, 'अकालदंड' की सुरजी, 'केशर-कस्तूरी की केशर आदि तमाम स्त्री-पात्र अन्याय, दमन, शोषण का मुखर विरोध करती हैं। शनिचरी अपनी बेटी को वापस लाने के लिए गाँव के मुखिया के घर से सामने आमरण अनशन करती है। मुखिया ने उसे वेश्यावृत्ति के लिए बेच दिया था। मुखिया ने शनीचरी को जहर खिलाकर मार डाला तो 'लीडर' ने शनिचरी की जमीन धोखे से अपने नाम कर ली। सत्तालोलुप और धन के लोभी मुखिया और लीडर फिर भी आत्मीय न थे। लेकिन 'तिरियाचरित्तर' की विमली की हालत अधिक गंभीर है। उसका ससुर छल से उसका बलात्कार करता है। पंच के 'न्याय' के नाम पर गरम करछुल से दागकर उसे कलंकिनी बना देता है। अपनों की, आत्मीयों की शिकार बनती नारी की यातना की व्यथा-कथा प्रस्तुत करने में शिवमूर्ति की तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। केशर की स्थिति भी कुछ हद तक विमली जैसी ही है। क्रूर, हिंसा और अमानवीय समाज-व्यवस्था में शिवमूर्ति की नारी कराहती—घुटती है पर ऐसी शोचनीय स्थिति में भी अपना प्रतिरोध व्यक्त करना नहीं भूलती—''मुझे पंच का फैसला मंजूर नहीं। पंच अंधा है। पंच बहरा है। मंच में भगवान का 'सत' नहीं है। मैं ऐसे फैसले पर थूकती हूँ—आ-क-थू...! देखूँ कौन माई का लाल दगनी दागता है?'' (केशर कस्तूरी, तिरिया चरित्तर, पृ. 143) इसी तरह मनतोरिया की माई से रहा नहीं जाता है तो पंच की न्याय व्यवस्था का पर्दाफाश करती है—''ई अंधेर है। दगनी दागना है तो विसराम और बोधन चौधरी के चूतर पर दागना चाहिए। कोई काहे नहीं पूछता कि बोधन की बेवा भौजाई दस साल पहले काहे कुएँ में कूदकर मर गई थी। गाँव की औरतें मुँह खोलने को तैयार हो जाएँ तो विसराम की घटियारी के वह एक छोड़ दस 'परमान' दे सकती हैं। वही आदमी बेबस बेकसूर लड़की को दागेगा? और वही बोधन बड़का पग्गड बाँधकर दगनी की सजा सुनायेंगे? यही नियाव है? ई-पंचायत नियाव करने बैठी है कि अँधेर करने?'' (वही, पृ. 142) स्वातंत्र्योत्तर भारत की न्याय व्यवस्था, प्रशासन हो या आज के न्यायालयों में यही सब होता आ रहा है। 'खाप पंचायत' के माध्यम से पंचों की मूर्खता को भी मानो मनतोरिया की माई बिलकुल निडर होकर उजागर कर रही है। विसराम तथा पंच के आसन पर बैठे लोग सत्ता के प्रतीक हैं। सत्ता को चुनौती देना और उसकी काली करतूतों पर ऊँगली रखना आज की माँग है। इस कहानी में ही नहीं शिवमूर्ति की अन्य कहानियों में भी पुरुष को सत्ता के रूप में दिखाया गया है। अतः इन कहानियों को नारी-विमर्श या पुरुषवादी वर्चस्व की तुलना में सत्ता विमर्श की दृष्टि से पढ़ा जाना अधिक प्रासंगिक है। 'अकाल दण्ड' की सुरजी के साथ सिकरेटरी भला कौन-सा न्याय करता है। आज सारे नैतिक और आदर्श कहे जानेवाले मूल्यों का क्षरण हो रहा है। फलस्वरूप, तमाम

विकृतियाँ उत्पन्न हो रही हैं। इनका सामना नारी को ही करना पड़ता है। इनसे जूझना पड़ता है। उसके श्रम, संघर्ष और त्याग का कोई मूल्य नहीं देता मर्दवादी समाज तंत्र। वर्चस्व की सत्ता से उसे बार-बार दग्ध होना पड़ता है। उसकी संवेदना को उसकी दुर्बलता समझकर पुरुष के भीतर बैठा पशु उसे नोचता जाता है। संवेदनहीनता के अभाव में उसे विकट और भयानक स्थितियों से गुजरना पड़ता है। 'कसाईबाड़ा' की शनिचरी, 'अकालदंड' की सुरजी, 'सिरी उपमा जोग' की लालू की माई, 'तिरियाचरित्तर' की विमली, 'केशर कस्तूरी' की केशर आदि इसके उदाहरण हैं। ये सभी बाल-विवाहिताएँ हैं। इससे समस्याएँ अधिक घनीभूत होती हैं।

गाँव की मानसिकता को उघाड़ने में, सत्ता की पोल-खोल करने में शिवमूर्ति की नारी ही आगे आती है। सत्ता-तंत्र की कारगुजारियों को उघाड़ने की उम्मीद बाल-विधवा बिरजा जैसी नारियों से ही है। बिसराम का सारा भेद उसे मालूम है। बिसराम ने अपने को निर्दोष साबित करने के लिए शिवाले पर होने तथा मछली के चिखना से अनजान होने का बहाना पंच के सामने करता है। इसका भेद बिरजा खोलना चाहती है। शिवमूर्ति ने लिखा है—"बाल विधवा बिरजा बैठी सोच रही थी अगर वह कह दे कि मछली का चिखना तो उसी से बनवाया था बिसराम ने। शिवाले से लौटते समय लेते हुए आया था—तो? अभी सारी पंचायत उलट जाएगी...लेकिन तब उससे भी पूछा जा सकता है। कितने साल से वह बिसराम का चिखना बनाती रही है। आगे से चिखना बनाना बंद हो जाएगा सो अलग।" (वही, पृ. 140)

'अकालदंड' की सुरजी न केवल संघर्ष करती है बल्कि उसे विद्रोह करना भी आता है। वह बिलकुल ठंडे दिमाग से अपने अंदर के क्रोध, आक्रोश को शांत करती है जिसका वर्णन शिवमूर्ति के शब्दों में यूँ है—"अंदर का दृश्य बड़ा भयानक है। सिकरेटरी बाबू पलंग पर नंग-धड़ंग पड़े छटपटा रहे हैं। सुरजी ने हासिए से उसकी देह का नाजुक हिस्सा अलग कर दिया है और पिछवाड़े के रास्ते भागकर अंधेरे में गुम हो गई है।" (पृ. 59) नब्बे के आसपास लिखी इस कहानी में लेखक ने 'पोएटिक जस्टिस' का जो चित्रण किया है वह अत्यंत मनोरम तो है ही, प्रतीकात्मक भी। वर्चस्व की सत्ता को पूर्णतया समाप्त करने की पहल नारी करती है। उस पहल को सफल भी नारी ही बनाती है। यह नारी निम्नवर्ग की है उसमें गजब का आत्म-विश्वास और दृढ़-संकल्प है।

'कसाईबाड़ा' की शनिचरी नारी को 'प्रॉडक्ट' की तरह बेचने वालों के राज को उजागर करती है। 'आदर्श विवाह' के नाम पर युवतियों को खरीदने-बेचने वाले लोगों तथा सत्ताधारियों की खबर लेती है। परधानजी से कहती है—"मोर बिटिया वापस कर

दे बेईमनवा, मोर फूल ऐसी बिटिया गाय-बकरी की नाईं बेचि के तिजोरी भरै वाले। तोरे अंग-अंग से कोढ़ फूटि कै बदर-बदर चूई रे कोढ़िया....'' (वही, पृ. 8) यह शनिचरी गाँधीजी के आमरण अनशन का रास्ता अपनाती है। अपने न्याय और अधिकार के लिए प्राण न्यौछावर कर देती है।

सत्तासीनों की विकारग्रस्तता और स्वार्थपरता का खुलासा सुगनी भी करती है। वह शनिचरी से कहती है—''काकी, अपना परधान कसाई है। इसने पैसा लेकर हम सबको बेच दिया है। शादी की बात धोखा थी। हम सबको, पेशा करना पड़ता है, रूपमती को भी। अमीरों के घर सोने भेजा जाता है।'' (वही, पृ. 9) कहना न होगा कि सदियों से चला आ रहा 'प्रॉस्टीट्यूशन ट्रेड' (वैश्या व्यापार) से एक वर्ग खूब फल-फूल रहा है. नारी के स्वाभिमान, उसकी अस्मिता, उसके सम्मान के साथ खेलते हुए सत्तासीन वर्ग बहुविध शोषण करता आ रहा है। 'बनाना रिपब्लिक' शीर्षक कहानी को छोड़कर अन्य सभी कहानियों में शिवमूर्ति ने नारी-शोषण के तमाम संदर्भों को बड़ी शिद्दत के साथ प्रस्तुत किया है। एक बात और भी है, शिवमूर्ति ने अपनी कहानी की दुनिया में नारी को नारी के रूप में, मनुष्य के रूप में चित्रित किया है। उनकी नारी हाड़-मांस की बनी हुई है। दोष-गुण सहित। इसलिए शिवमूर्ति की नारी पाठकों को विशेष रूप से 'अपील' करती है। प्रेरित करती है। जीवंत लगती है। उपभोक्तावादी सभ्यता में परिवार, गाँव, समाज आदि पूरी तरह से टूट रहे हैं। बँट रहे हैं। विखंडन की स्थितियों का चित्रण कथा-साहित्य में भरपूर है। शिवमूर्ति की कहानियों में यह चित्रण कुछ विशेष अर्थ रखता है। उनके यहाँ यह टूटन मूल्य के टूटने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। संयुक्त परिवार को परिवार का एक प्रकार मात्र नहीं माना गया है। संयुक्त परिवार एक मूल्य है, अवधारणा है। उसके विघटन से उत्पन्न दुष्परिणामों की ओर कथाकार इशारा करता है तो उसकी सीमाओं को भी सूचित करता है। 'भारतनाट्यम', 'सिरी उपमा जोग', केशर, कस्तूरी जैसी कहानियों में उन्होंने पारिवारिक विघटन से उत्पन्न दयनीय दशा का चित्रण किया है। पारस्परिक प्रेम, सौहार्द्र तथा सूझ-बूझ के अभाव से ऐक्य बाधित होता है। मानवीय गरिमा को चोट पहुँचाती है। पारिवारिक संबंधों में गाँठ बढ़ती जाती है। 'भरतनाट्यम' का ज्ञान भयानक मानसिक यंत्रणा का शिकार बनता है तो उसकी पत्नी पर भी मानसिक निर्यातन जारी रहता है। उसकी किसी इच्छा की पूर्ति नहीं होती है। सबसे दुःखद स्थिति ज्ञान की बेटियों की है। इन्हें जूठे ग्लास के फेन से तृप्त होना पड़ता है। यह इसलिए कि वे लड़कियाँ हैं। रुग्ण मानसकिता की शिकार होकर जीवन बिताना पड़ता है।

पारिवारिक विघटन के साथ जर्जर आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। टूटन और हताशा की स्थितियों में भी यह कहानीकार जिजीविषा का मंत्र प्रदान करता

हैं। आर्थिक विसंगतियों से पीड़ित युवा-वर्ग के सारे महत्त्वपूर्ण स्वप्न बिखरते जाते हैं। फलस्वरूप, पीढ़ी-संघर्ष भी उत्पन्न होता है। बुजुर्ग और नई पीढ़ी में कोई तालमेल तक नहीं हो पाता है। एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को समझ तक नहीं पाती। फलस्वरूप, समाज में अराजकता फैलने में काफी समय नहीं लगता है।

शिक्षित बेरोजगार के प्रति लोगों तथा अपने आत्मीयों का जैसा बरताव रहता है, वह चिंतनीय है। 'भरतनाट्यम' के ज्ञान के आधार पर कहानीकार ने शिक्षित बेरोजगार की मनःस्थितियों का चित्रण किया है। परिवार तथा समाज में उसकी उपेक्षा होती है। उसके पिता तक उसमें हजारों कमियाँ निकालते रहते हैं। उनकी कटूक्ति होती है—
"साला चलता कैसे है, शोहदों की तरह! चलता है तो चलता है, साथ में सारी देह क्यों ऐंठे डालता है? दरिद्रता के लच्छन हैं ये, घोर दरिद्रता के। माँगी भीख भी मिल जाए इस हरामखोर को तो उसकी पेशाब से मूँछ मुँड़ा दूँगा...और देखता कैसे है? शनिचरहा! इसकी पुतली पर शनीचर वास करता है। सोने पर नजर डालेगा तो मिट्टी कर देगा। ससुर, जम्हाई ही लेता रहेगा या चारपाई भी छोड़ेगा? देख लेना, यह चारपाई भी दो महीने से ज्यादा नहीं चलेगी।" (वही, पृ. 68) माँ, भाभी तथा नातेदारों की उपेक्षाभरी दृष्टि सदा ही ज्ञान पर लगी रहती है।

इस कहानी के माध्यम से शिवमूर्ति ने अपने समय के सच को उज्जीवित किया है। शिक्षा का व्यापारीकरण, शिक्षकों का शोषण, नौकरी के क्षेत्र में धोखाधड़ी, बाहरी दबाव आदि का भी खुलासा किया है। भ्रष्टाचार की सर्वव्यापकता से परिचित किया है। पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में पत्नी पुत्र की प्राप्ति हेतु अपने पति के भाई से संबंध रखती है, तीन पुत्रियों का पिता ज्ञान पूरी तरह से टूटा हुआ है। उसे भारत सरकार की ठीक-ठाक नौकरी मिलती है पर अपने स्वाभाविक आक्रोश और क्रोध को छिपा न पाकर अपने बॉस की नाक पर कसकर घूँसा जमा देता है। सरकारी कार्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार, चाटुकारिता और अकारण भय-प्रदर्शन जारी है। संक्षेप में, स्वातंत्र्योत्तर भारत का बेहतरीन वृत्तचित्र है 'भरतनाट्यम'। जीवन जगत् की प्रतिकूल परिस्थितियों और विसंगतियों का मनोरम चित्र है 'भरतनाट्यम'। इस कहानी की बस एक कमी है कि इसके कथा-नायक को 'बहुत अच्छा' बनाने का प्रयास किया गया है। खास करके पत्नी के भाग जाने पर पति ज्ञान की यह सोच दृष्टव्य है—

"चली गई, चलो, जहाँ भी रहे, सुखी रहे...लेकिन भागना ही था तो एक दिन पहले भाग जाती। मैं टूटने से बच जाता...घूस देने से...पथभ्रष्ट होने से...पता मालूम होता तो ये ब्रोजियर, ब्लाउज वगैरह पार्सल कर देता...लिखता कि बेटा होने पर खबर करे। मैं खिलौने लेकर आऊँगा।" (वही, पृ. 92) ऐसा लगता है कि ज्ञान को यहाँ 'महान' बनाया जा रहा है। कहाँ गया उसके 'अंदर सोया गँवार' अथवा क्रोध,

पत्नी-प्रेम? बस, यही एक-आध सवाल के अलावा यह कहानी बड़े रेंज की है। इसमें दलित चेतना और समाज का द्वन्द्व है तो शासन तंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार का चित्रण भी है। जाति-पाँति और संप्रदायवाद की विसंगतियाँ व्यक्त हुई हैं तो आज के ज़माने में आदर्श, नैतिकता आदि को संबल बनाकर चलने वाले बेरोजगार नवयुवक का अंतःसंघर्ष भी व्यक्त हुआ है। बहुआयामी जीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है।

'भरतनाट्यम' कहानी का पाठ 'सिरी उपमा जोग' के साथ हो तो अधिक प्रभावशाली पाठ हो सकता है। यह इसलिए कि 'सिरी उपमा जोग' की लालू की माई का सारा सपना लालू के बप्पा से संबंधित है। उसकी महत्त्वाकांक्षा उसे घृणा के केंद्र में लाती है तो 'भरतनाट्यम' में पुरुष ज्ञान की महत्त्वाकांक्षा अपनी पत्नी से संबंधित है। दोनों कहानियों में संवेदना का जो स्वर फूटता है वह अत्यंत स्वाभाविक है। परंतु क्रूर यथार्थ के बारे में सोचकर हृद्तंत्रियाँ झनझना उठती हैं। ऐसा यथार्थ सचमुच जितना करुणादायक है उतना ही डरावना।

2011 में प्रकाशित 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर!' शीर्षक कहानी में शिवमूर्ति ने मामा और मामी के दांपत्य जीवन के अनुपम चित्र अंकित किये हैं। मामी अपने पिता-माता की अकेली संतान थी। मामा के लिए घरजवाईं बनकर रहना संभव न था। लेकिन, गौना हो चुका था। मामी के अदम्य साहस, प्रेम और सूझ-बूझ के चलते अलग-अलग रहकर भी दांपत्य जीवन बना रहा। लेखक के शब्दों में—"अपने दांपत्य को भी धैर्य और मुस्कान से संभाल लिया मामी ने। माँ-बाप की सेवा भी जरूरी थी और पति का सान्निध्य तथा संतति वृद्धि भी। मामी न किसी जिम्मेदारी से भागना चाहती थीं न किसी जरूरत से वंचित रहना चाहती थीं। इसके लिए उन्होंने अलग राह खोजी। शाम को गाय-बैलों को चारा-पानी देकर, माँ-बाप को खिला-पिलाकर पहर रात बीते लाठी लेकर निकलती मामी। साँप, बिच्छू और सियार भेड़ियों को धता बताती आधी रात के पहले-पहले जा पहुँचतीं मामा के माचे पर। पहर डेढ़ पहर का अभिसार और चौथे पहर मायके के लिए वापसी। अंधेरी रात हो या चाँदनी, जाड़े की ठिठुरन हो या बरसात के गरजते बरसते बादल। मामी के लिए पति का सेज हमेशा डेढ़ दो घंटे की दूरी पर रही।" (तद्भव, अंक 24, पृ. 59) स्पष्ट करना जरूरी है कि अभिसारिका मामी का चित्रण कहानीकार का उद्देश्य नहीं है। न ही यह कहानी का चरमोत्कर्ष है। दरअसल, यह तो कहानी की शुरुआत है। हिंदी कथा-जगत् में वृद्ध-जीवन से संबंधित सार्थक कहानियाँ बहुत कम हैं। उस कमी को 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर!' पूरी करती है। वृद्ध-जीवन की समस्याओं, आत्मीय जन की स्वार्थपरता और घोर संवेदनहीनता को बड़ी बारीकी तथा कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस कहानी में भी शिवमूर्ति

भारतीय गाँव की असली तस्वीर को आकर्षक ढंग से पेश करते हैं। अंतर्वस्तु और शिल्प के धरातल पर कहानी पूरी तरह से खरी उतरती है। कथा-सूत्र को कहीं भी शिथिल नहीं होने देते। रेणु और काशीनाथ सिंह की तरह शिवमूर्ति भी अपनी कहानियों में नये-नये प्रयोग करते हैं। कभी भाषिक स्तर पर तो कभी कथा क्रम में। शब्द-चयन तथा कथा-संयोजन, अवधी तथा लोकभाषा के समुचित प्रयोग, शगुआ तथा अनय लोकगीतों का समावेश उनकी रचनाधर्मिता को धारदार बनाते हैं। संप्रेषणीयता, चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता आदि से युक्त शिवमूर्ति की भाषा सहज ही पाठक को लुभाती जाती है। यूँ कहें कि पाठक को बाँधे रखती है। कहानी पूरी पढ़ लेने के बाद भी कहानी समाप्त नहीं होती। पाठक सोचने-विचारने, उद्वेलित होने के लिए मजबूर हो जाता है। समाप्ति से प्रारंभ होता है। यहीं शिवमूर्ति के कथा-लेखन की सफलता है और सार्थकता भी।

'नया ज्ञानोदय' के फरवरी, 2013 वाले अंक में शिवमूर्ति की एक उम्दा कहानी प्रकाशित हुई है—'बनाना रिपब्लिक'। बाबा साहब अंबेडकर के प्रयास से हों अथवा हमारी संसद की 'सदिच्छा' से, बहुत सारी सीटें अब अनुसूचित जाति और जनजातियों के लिए आरक्षित कर दी गई हैं। उद्देश्य यह कि समाज के सभी तबकों को समुचित मात्रा में प्रतिनिधित्व करने का मौका मिले। दलितों तथा हरिजनों के हाथों में भी नेतृत्व आये। यह सच है कि भारतीय जनतंत्र में दलितों का प्रतिनिधित्व बढ़ने लगा है। लेकिन इस सच की सचाई को यानी सच में छिपे यथार्थ की परतों को शिवमूर्ति जिस बारीकी से उघाड़ते हैं उसकी जितनी प्रशंसा की जाए कम होगी। पंचायती व्यवस्था में पंचायत के चुनावों में अपनाये जानेवाले समाज हथकंडों, चालाकियों, छल-कपट आदि को अनुभूति संवेदना और विचार के तालमेल के आधार पर 'बनाना रिपब्लिक' के कथासूत्रों को सँजोया गया है।

परधानी का चुनाव जीतना सत्ता-सुख के सपने को पूरा करना है। ईमानदारी, सचाई, नैतिकता को स्वाहा करते हुए पाँच वर्षों में लाखों कमाना है। जनसेवा का ढोंग करते हुए अपने घर भरना है। जाति, धर्म, नस्ल आदि के आधार पर लोगों को बाँटकर कुर्सी हथियाना है। जनतंत्र के नाम पर इस नाटक का खेल दशकों से मंचित होता आ रहा है। शिवमूर्ति ने समग्र भारत में चुनाव के दौरान अपनाये जाने वाली तरकीबों का यथार्थ चित्रण किया है जो क्षेत्र सामान्य वर्ग के लिए था, उसे दलितों के लिए आरक्षित कर दिया जाता है। ठाकुर साहब जग्गू यानी जगत् नारायण को अपना मोहरा बनाकर चुनावी दंगल में उतारना चाहते हैं। शुरू-शुरू में जग्गू झिझकता है। लेकिन ठाकुर उसे जो पाटी पढ़ाता है वह अचूक होती है—''सालाना पन्द्रह-बीस लाख तक खर्च करने का चांस

रहता है। मनरेगा की मद से तो चाहे जितना निकालो। बस कागज का पेट पूरा करते रहो। नीचे से ऊपर तक सबका मुँह बंद करने के बाद भी रुपये में चार आना कहीं गया नहीं। पाँच साल में पचीस लाख की बचत।'' (नया ज्ञानोदय, अंक-120, फरवरी 2013, पृ. 71)

पंचायती चुनाव अन्य चुनावों से अधिक पेचीदा होता है। कई तरह के समीकरणों से यह चुनाव लड़कर जीता जाता है। इसमें ढेर सारी गाँठें भी होती हैं। एक गाँठ सुलझी नहीं कि दूसरी उलझ जाती है। मुंशीजी जैसे लोग बाहर से हितैषी तो अंदर से शकुनि बने रहते हैं। मतदाताओं को लुभाने के लिए चुनाव के पहले हफ्तों तक उम्मीदवारों की ओर से भंडारा चलता है। भोजन-पानी तो मुफ्त में मिलता ही है, देशी-विदेशी शराब का भी इंतजाम रहता है। पदारथ मुंदर हो या ठाकुर का उम्मीदवार जग्गू लाखों रुपये खर्च करते हैं चुनाव में विजय हासिल करने के लिए। शिवमूर्ति ने चुनाव से पहले, चुनाव के दौरान तथा मतों की गिनती के दौरान की 'माइन्यूट्स' को सिर्फ वर्णित नहीं किया है बल्कि कहीं तल्ख टिप्पणी की है तो कहीं व्यंग्य-विनोद किया है।

सत्ता का नशा बड़ा विचित्र होता है। यह यूँ नहीं छूटता। मुहर बनाकर जिस जग्गू को रखना चाहते थे ठाकुर साहब, उसी जग्गू में चेतना साकार होती है। वह ठाकुर के षडयंत्र, कि जग्गू के पिता की जमीन को गिरवी रखें, अपने नाम कर लें, को निष्फल बनाता है। विजय का प्रमाणपत्र पाते ही जुलूस दलित बस्ती की ओर जाता है, ठाकुर के यहाँ नहीं। पासा बदल जाता है। ठाकुर अपने लाभ-लोभ के चलते खुद दलित बस्ती में जाते हैं। उनके हाथ से पानी पीते हैं। दलित चेतना की विजय होती है। परधानी का चुनाव ही नहीं जीतता है जग्गू बल्कि सत्ता के प्रभाव में आकर वह भी अपनी अस्मिता को भुला देना चाहता है। चुनाव के पहले ही उसने सोच लिया था—''उसे तो अपना नाम भी पसंद नहीं। जगत् नारायण तो फिर भी ठीक था, लेकिन लोगों ने उसे भी काटकर बांडा कर डाला...जग्गू। परधानी मिल जाय, हीरो होंडा मिल जाय और नाम बदल जाय, या एक कायदे का 'सरनेम' मिल जाय...जिससे थोड़ा रुआब झरे। 'टाइगर' कैसा रहेगा?'' (वही, पृ. 74) जग्गू को कायदे का 'सरनेम' मिल जाए, इसमें कोई बुराई नहीं। अपना नाम बदलकर 'टाइगर' बनकर 'ठाकुर-बाभन' की तरह अपने और दूसरे लोगों का शोषण करे, दमन करे, उन पर अत्याचार करे तो यह कैसी दलित चेतना? कहानीकार ने बिना कुछ कहे इस ओर संकेत किया है। सत्ता का स्वाद अभी चखा भी नहीं लेकिन उसके नफे से मदहोश होने लगा है।

'सिरी उपमा जोग' के अलावा शिवमूर्ति की सभी कहानियाँ 'लंबी कहानी' के अंतर्गत आती हैं। लंबी कहानी में कथा-संकेतों को बाँधकर रखना, शिल्प को शिथिल

होने न देना सर्वाधिक समर्थ कहानीकार के लिए ही संभव है। कहना न होगा कि शिवमूर्ति की इस दिशा में भारी सफलता मिली है। उनकी एक-एक कहानी में उपन्यास के तत्व भरे पड़े हैं। जिस प्रकार निराला की लंबी कविता 'महाकाव्यात्मक कविता' कही जाती है ठीक उसी प्रकार शिवमूर्ति की कहानियों में 'उपन्यासात्मक कथा' समावेशित है।

शिवमूर्ति ग्रामीण परिवेश के चितेरे तो हैं ही वे भारतीय जन-जीवन के भी गहन चितेरे हैं। उनकी कहानियाँ, भले ही चंद संख्या में हैं लेकिन उनकी प्रसिद्धि, लोकप्रियता और विश्वसनीयता की दृष्टि से अत्यंत प्रभावशाली हैं। अब समय आ गया है कि उनकी कहानियों के व्यापक संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों को उद्‍घाटित किया जाए। नारी-विमर्श, दलित-विमर्श, सत्ता विमर्श और भी कई विमर्शों की दृष्टि में शिवमूर्ति की कहानियाँ अप्रतिम हैं। विरल हैं। उम्मीद की जा सकती है कि शिवमूर्ति की कहानियों पर नये सिरे से विचार होंगे।

• ● •

हाशिए के वृत्तांत का संवेदनात्मक धरातल

सा हित्य की राजनीति खतरनाक होती है। यह औसत को श्रेष्ठ बना देती है तो प्रतिभाशाली को तिरस्कृत करवाने में अपनी भूमिका अदा करती है। रचनाकार पद और प्रतिष्ठा का अधिकारी हो तो उसकी प्रायोजित चर्चा करवाई जाती है, रचना की महानता स्थापित की जाती है। प्रतिनिधि रचनाकर सिद्ध किया जाता है। इसके विपरीत गाँव-कस्बे का प्रतिभाशाली रचनाकार गुमनामी का शिकार बनता है। चूँकि उसकी रचनाओं पर चर्चा-परिचर्चा आयोजित करने-करवाने से कोई 'तात्कालिक लाभ' हासिल नहीं होता है, अतः ऐसे रचनाकार विस्मृति के गर्भ में चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में रचनाकार की तुलना में साहित्य की ही अधिक हानि होती है।

विश्वेश्वर एक ऐसा नाम है जिसे हिंदी समाज भुलाता जा रहा है। मुझे नहीं लगता कि नई पीढ़ी इस नाम से परिचित भी होगी। लेकिन यहाँ उल्लेख किया जा सकता है कि इस कहानीकार ने सत्तर के दशक में कहानी लिखना शुरू किया था। 'दूसरी गुलामी' (1972) कहानी-संकलन के माध्यम से उन्हें प्रसिद्धि मिली। उस समय की तमाम प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिकाओं—'सारिका', 'धर्मयुग' आदि में उनकी कहानियाँ प्रकाशित होती रहीं। 'प्रतिनायक', 'मरने की जगह', 'लाक्षागृह', 'वैशाख का कोई एक दिन' जैसे कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए। प्रचलित व्यवस्था की विडंबनाओं और अंतर्विरोधों को उन्होंने शिद्दत के साथ कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। शोषण और दमन, अत्याचार और आतंक, यातना और त्रास के विरुद्ध उनकी कहानियाँ आवाज बुलंद करती हैं। व्यवस्था की सचाई और तंत्र की असलियत का उद्घाटन उनके कथा-संसार का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है। हताशा, निराशा एवं पराजयबोध उनकी कहानी का स्वभाव नहीं है। अपार संघर्षशीलता, जिजीविषा और मानवता के प्रति गहरी आस्था उनकी कहानियों में बार-बार प्रतिध्वनित होती हैं। 'महतारी' आपके समक्ष हैं। इसके कुछ जरूरी बिंदुओं पर विचार करना समुचित प्रतीत होता है।

'महतारी' पढ़ने के बाद तत्काल जो विचार मन में आया वह यह कि यह कहानी प्रेमचंद और रेणु की परंपरा की है। विश्वेश्वर के समकालीन कथा संसार में 'कथा' गायब थी। विवाहेतर संबंधों पर कहानी आधारित थी। व्यक्ति महत्त्वपूर्ण और समाज गौण हुआ करता था। सामाजिक प्रतिबद्धता और सरोकार का कहानी में कोई महत्त्व नहीं रह गया था। ऐसी स्थिति में 'महतारी' का पाठ विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाता है। संवेदनात्मक गहराई की दृष्टि से भी यह कहानी उल्लेखनीय है।

सबसे पहले कहानी का शीर्षक 'महतारी' हमारा ध्यानाकर्षण करता है। महतारी का सामान्य अर्थ होता है माता। यह शब्द केवल स्थानिक रूप में प्रयुक्त होता है। कहानी नायिका अकेली है। उसका न कोई परिवार है और न ही कोई संतान। फिर वह महतारी कैसी? इसका जवाब पूरी कहानी के पाठोपरांत प्राप्त होता है।

'महतारी' की कथा शहर की होकर भी शहर की नहीं है। कहानीकार ने 'शहर का एक नितांत उपेक्षित कोना' को कथा के केंद्र में स्थापित किया है। यानी हाशिए को केंद्र में लाने का प्रयास किया है। उस नितांत उपेक्षित कोने में पुलिया के पास कहानी नायिका भानमती ने अपनी दुनिया बसाई। मंडी में मजूरी करनेवाली भानमती है तो गाँव की, लेकिन पेट पालने के लिए अपनी पोटली लिए शहर आ पहुँची है। गाँव से पलायन और शहराभिमुखी भानमती स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्रामीण जीवन की सचाई प्रस्तुत करती है। इस सचाई को कहानी के मध्यभाग में ढोल बजानेवाला स्पष्ट रूप से बयान करता है—''भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है, जहाँ के किसान भूखे-नंगे सोते हैं और काम की तलाश में खेतों से खदानों, गाँवों से शहरों की ओर भागते हैं।'' ठेकेदार द्वारा लाए गए सैकड़ों मजदूरों की स्थिति भी यही है जो बहुमंजिली इमारतें बनाने के लिए लाए गए हैं। ध्यान देने की बात है कि तीसरे दशक में प्रेमचंद की मुन्नी संकेत कर चुकी थी—''अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।'' कृषि-प्रधान देश में किसान खेती छोड़ शहर की चकाचौंध से लुभाकर वहाँ मजूरी करने के लिए विवश हो जाए तो देश की आर्थिक स्थिति चकनाचूर होगी ही। कहानीकार की चिंता स्पष्ट है—''गाँवों में तो सूखे पड़े हैं। भयंकर अकाल। महामारी! किसान शहरों की ओर भाग रहे हैं। हमारा भाग तो जबर है कि यह ठेकेदार मिल गया। नहीं तो रोजी-मजूरी के ही लिए भटकते-फिरते।'' विकास का ढोल पीटने वालों और झूठे आँकड़े पेश करने वालों के समक्ष ग्रामीण जीवन का यह यथार्थ गंभीर चुनौती ही नहीं पेश करता है बल्कि ऐसे 'महानुभवों' की कलई खोलकर रख देता है। यह कैसी विडंबना है कि किसान मजदूर बनकर भी 'हमारा भाग तो जबर है' मान रहा है। बिना कहे सब कुछ कहने की पूरी सामर्थ्य इस कहानी में परिलक्षित होती है।

'महतारी' कहानी से पता चलता है कि विश्वेश्वर एक प्रतिबद्ध रचनाकार हैं। उनकी पूरी प्रतिबद्धता मजदूर वर्ग के प्रति है। इस वर्ग की जीवनचर्या, इसका जीवन राग, काम से लौटते वक्त चेहरे पर व्याप्त भाव, शंकालु प्रवृत्ति आदि का जो जीवंत चित्रण किया है, वह बिना संबद्धता से संभव नहीं है। बिल्डिंग बनाने या पत्थर तोड़ने के लिए लाये गये झोपड़पट्टी के नब्बे प्रतिशत में से साठ प्रतिशत बंधुआ कृषि मजदूर थे। लगातार पड़ते आ रहे अकाल के चलते अपने स्वामियों से मुक्त होकर ठेकेदार से बंध जाते हैं। कहानीकार ने इनका चित्रण किया है—''उनके चेहरे पर शताब्दियों के शोषण की गहरी छाप होती। वे बेहद 'दीन' नजर आते। कष्टों और दीनता की उनके चेहरों पर उभरी हुई छाप, सवेरे काम पर जाते हुए या शाम-रात को भजन-कीर्तन करते हुए, ताश के पत्ते फेंकते हुए या गांजे की चीलम थामे हुए भी स्पष्ट झलक पड़ती थी। शहर की हर वस्तु, हर व्यक्ति के प्रति वे शंकालु बने रहते।'' कहना न होगा कि इन दीन-हीन मजदूरों के अव्यक्त भावों को उघाड़ने में कहानीकार को पूरी सफलता मिली है।

इस कहानी की मूल संवेदना भानमती का जीवन संग्राम है। भानमती भी ग्रामीण जीवन के अभावों का शिकार हो शहर पहुँचती है। दिहाड़ी करती है। मिट्टी खोदकर, जंगल से लकड़ियाँ बटोरकर उसने शहर से दूर पुलिया के पास झोपड़ी खड़ी कर दी। भानमती के लिए यह झोपड़ी महल से कम न थी। गाँव-घर में रहते हुए अपनी जवानी में भी जो काम वह पूरा न कर पाई थी, उसे उसने शहर में कर दिखाया। वह खुश ही नहीं, अत्यंत प्रसन्न है। कहानीकार गरीबों की उस मनःस्थिति से भली-भाँति परिचित है जिसमें थोड़ी-सी खुशी हासिल करने के बावजूद गरीब और मजदूर कितने आनंदित हो उठते हैं। भानमती भी अपनी 'उपलब्धि' पर गर्वित है। उसमें गजब का आत्मविश्वास भर जाता है। झोपड़ी के इर्द-गिर्द के आठ-दस फुट की जगह को बुहारना, गोबर से लीपना, अंदर तथा बाहर की दीवारों को पोतना और चमकाना, तुलसी चौरा बनाकर रोज पानी डालना आदि से भानमती की कर्मठता और जिजीविषा का सुंदर परिचय मिलता है। बुढ़ापे में भी एक अलग उत्साह का आभास होता है। इसी क्रम में सोलह वर्ष बीत जाते हैं। चारों ओर की खाली जमीन, पुलिया, सियार के हुआँ-हुआँ, निशाचरों की अजीब आवाजें, घुप्प अँधेरा आदि के साथ सोलह वर्ष आत्मीयता के साथ जुड़ी रही। फलस्वरूप, आस-पास के इलाके के प्रति उसके मन में अधिकार का बोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

भानमती को बेदखल करने के लिए सेठ, मुनीम और साहब की टीम आकर धमकाती है, डराती है। लेकिन भानमती भला कहाँ डरने वाली थी? उसने ऊँचे स्वर में फटकारना शुरू कर दिया—''कौन माई का लाल पैदा हुआ है मेरी कुटिया हटाने

वाला, उसे मैं भी देख लूँगी। मेरा भी नाम भानमती है...तिल-तिल खप कर मैंने 'घर' बनाया है। एकेक धमेला माटी के लिए मैं 'पाहतीकुन' उठती रही हूँ। एकेक 'काबा' पैरे के लिए मैं किसानों से केलौली करती रही हूँ। पाँव पड़ती, हाथ जोड़ती रही हूँ। कलप-कलप कर....''। और भी उसका स्वर तेज होता है और वह गरजती है—''बताये देती हूँ, तिल-तिल खपकर मैंने यह कुटिया बनाई है। इसे कोई हाथ लगाने आयेगा तो उसके लरिका-बच्चा सहित सबको खा जाऊँगी। सबको निगल जाऊँगी—हूँ-ऊँ-ऊँ-ऊँ...! देखती हूँ, कौन माई का लाल उसे छूता है—उसके 'बारा' नहीं बजा दूँगी।'' आत्मसंघर्ष से उपजे इस स्वर में बयानबाजी की गंध नहीं है। इसमें गहरा लगाव का भाव है। अपने से अलगाने की कोशिश को पूरी तरह से नाकामयाब करने की दृढ़ इच्छा शक्ति तभी उत्पन्न होती है यदि कोई उससे गहरे रूप से जुड़ा हुआ हो। भानमती उस निर्जन तथा बेजान इलाके से अत्यंत संबद्ध है। उसकी पवित्रता बनाए रखने के लिए कृत संकल्प है। स्वच्छता पर सर्वाधिक बल देते हुए रातोंरात बन गई सैकड़ों झोपड़ियों में रहनेवालों से साफ कहती है—''कमाने-खाने का हक सभी को है। परंतु इस जमीन पर कचरा करने का हक मैं किसी को नहीं दूँगी। टट्टी-पोखार के लिए दूर जाना होगा। वो उधर...दक्खिन दिसा में जंगल है।''

भानमती को विकास से कोई परहेज नहीं है। विकास जरूरी है। लेकिन, विकास के नाम पर विनाश की लीला से उसका विरोध है। विकास मुट्ठीभर लोगों के लिए हो और जन-जंगल स्थापित हो, लोगों का सैलाब उमड़ता चला जाए और दाने-दाने को मोहताज हों तो फिर यह कैसा विकास है? इमारतें बनती जाएँ और जंगल साफ हो जाए। कंक्रीट का जंगल फैल जाए और गरीब बेदखल हो तो भानमती को ऐसे विकास की आकांक्षा नहीं है। कहानीकार ने भानमती का चरित्र बड़े जतन से निर्मित किया है। पूरी कहानी में भानमती के चरित्र का महत्त्व अंकित हुआ है। पहले ही दिन से झोपड़वासियों पर उसका वर्चस्व कायम हो जाता है। उसने साफ कह दिया था—''यह 'जगा' मेरी है...मुझसे पूछे बिना यहाँ का एक पत्ता तक नहीं हिलना चाहिए।'' भानमती का व्यक्तित्व इतना प्रभावी था कि कोई उसे बेदखल करने नहीं आया और न ही झोपड़वासियों से उसकी कोई अनबन हुई। उसमें नेतृत्व की अद्भुत क्षमता भी है। जाहिर है कि यह क्षमता उसने अपने जुझारू जीवन से हासिल की है। अन्याय से वह समझौता नहीं करना जानती। दमन का वह पुरजोर विरोध करती है। झोपड़वासियों के लिए एकमात्र सहारा था एक कुआँ। उसमें किसी ने मरा हुआ कुत्ता फेंक दिया तो पानी अनुपयोगी हो गया। आरा-घर के सामने सेठजी का नल लगा हुआ था। सेठजी ने चंपा आदि को भगा दिया। यह घटना 'ठाकुर का कुआँ' की याद दिलाती है। लेकिन,

भानमती यहाँ घुटने नहीं टेकती है। मोर्चा संभालती है। झोपड़ के निवासियों के साथ मिशन पर निकलती है—''सब जने को ले चल! तमाम बस्ती वालों को बोल दे, ऊँहा दो कोस शहर से पानी लाने की जरूरत नहीं...कोई रोकेगा, तो उससे निपटने के लिए भानमती अभी जिंदा है...।'' सेठ ही नहीं अन्य सभी 'बड़े' लोगों की पोल जानती है भानमती। इसलिए, उसके सामने किसी का वश नहीं। वह न्याय के लिए, अधिकार के लिए लड़ रही है। यह सेठ जो पानी भरने मजदूरों को नहीं दे रहा है। वह प्रकृति और पर्यावरण का भी घोर शत्रु है। कहानीकार की पर्यावरणीय चिंता भानमती के माध्यम से व्यक्त होती है—''हमारा जंगल तेजी से साफ हो रहा है और सेठ का पेट दिन दूनी, रात चौगुनी तरक्की कर रहा है...जंगल कटा जा रहा है, इसलिए हमें पानी के लाले पड़े हैं...वो सेठ भानमती को रोक कर तो देखे...उसकी खटिया नहीं निकाल दूँगी...अरथी नहीं सजा दूँगी...।'' इसके पश्चात् विशाल जनसमूह का नेतृत्व देते हुए भानमती माँ रणचंडी बन चुकी थी। अत: भानमती हिंदी कहानी की एक अविस्मरणीय पात्र बनने की पूरी योग्यता रखती है। भानमती के दमदार चरित्र के चलते 'महतारी' कहानी लंबे अर्से तक याद की जाएगी।

इसमें कथा संयोजन एवं देश-काल तथा वातावरण का संकलन सफलतापूर्वक किया गया है। घटनाओं को रोचक ढंग से कथा-सूत्रों में पिरोने को कहानी में पठनीयता बनी रहती है। 'महतारी' शीर्षक कहानी में पूँजी और व्यापार (बाजार) की साँठ-गाँठ को भी प्रदर्शित किया गया है। सेठ और ठेकेदार की मिलीभगत से गरीब तथा मजदूरों का जीवन बुरी तरह से प्रभावित होता दिखाया गया है। पूरी कहानी में लेखक मजदूर वर्ग का पक्षधर रहा है। उसके जीवन के सुख-दु:ख एवं इस वर्ग की सामर्थ्य और सीमाओं को भी रेखांकित किया गया है। इस वर्ग के गुण तथा दोषों को चित्रित कर लेखक ने कहानी की विश्वसनीयता बनाए रखी है। सहजता और स्वाभाविकता इस कहानी में शुरू से अंत तक बनी हुई है। हाशिए के वृत्तांत को संवेदनात्मक धरातल पर प्रस्तुत करने में कथाकार सफल रहा है। ग्रामीण एवं कस्बाई जीवन के बदलते परिदृश्य को कहानीकार ने पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित किया है।

इस कहानी से गुजरकर ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा पर विश्वेश्वर का जबर्दस्त अधिकार है। पात्रों के लहजे और टोन तक को वे जिस गहराई और विश्वसनीयता से प्रस्तुत करते हैं, उसकी तुलना नहीं है। पात्रों की मन:स्थिति और परिवेश के अनुकूल भाषिक प्रयोग प्रशंसनीय है। लोक में प्रचलित बोली-बानी का स्वाभाविक प्रयोग कहानी को विशिष्ट बनाता है। अत: विश्वेश्वर अपनी कथा-भाषा के चलते अपने समकालीनों से विशिष्ट जान पड़ते हैं।

सच है कि हिंदी कहानी में दबे-कुचले और शोषितों के निर्यातन और दमन को आधार बनाकर कहानी लेखन की लंबी परंपरा रही है। लेकिन, उसी परंपरा में 'महतारी' की भूमिका उल्लेखनीय है। इसकी महत्ता कहानी नायिका की संघर्षशीलता और अदम्य जिजीविषा के चलते स्वयंसिद्ध है। पुनः रचनाकार की कथाभूमि का निर्माण आयातित नहीं बल्कि अपनी जानी-पहचानी जमीन है। पाठकों से निवेदन है कि इसे सिर्फ कहानी के रूप में पढ़ें न कि किसी 'वाद' की कहानी के रूप में। कहानी, खास करके कोई भी महत्त्वपूर्ण कहानी केवल कहानी होती है। वादों और आंदोलनों से पूर्णतया मुक्त होती है। यदि ऐसा हो सका तो रचनाकार की कथा-दृष्टि का वितान स्पष्ट होगा। उसकी चिंता और सरोकार से पाठक रू-ब-रू होंगे। ऐसी स्थिति में रचना की अर्थवत्ता प्रतिपादित होगी।

विद्रूप और विसंगतियों से भिड़ने वाली कहानियाँ

समकालीन हिंदी कहानी को मुकम्मल पहचान देने वालों में असगर वजाहत का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। वजाहत ने उपन्यास, यात्रा आख्यान, नाटक, आलोचना आदि विधाओं में भी अत्यंत सफलता हासिल की है। 'कैसी आग लगाई' उपन्यास हो अथवा 'जिन लाहौर नई देख्या' नाटक या हिंदी-उर्दू की प्रगतिशील कविता संबंधी आलोचना, बहुमुखी प्रतिभाशाली लेखक असगर वजाहत हर विधा में चर्चित रहे हैं। लेकिन, यहाँ हमारी चर्चा उनके कहानी-लेखन तक सीमित होगी। उनकी कहानियों के संदर्भ में उनकी दृष्टि, उनके विचार और सरोकार पर विचार किया जाएगा। उनकी कहानियों के आधार पर युगीन संदर्भों और परिप्रेक्ष्य को भी उद्घाटित किए जाने का प्रयास किया जाएगा। उल्लेख किया जा सकता है कि 'मैं हिंदू हूँ', 'दिल्ली पहुँचना है', 'स्विमिंग पुल', 'सब कहाँ कुछ', 'डेमोक्रेसिया' आदि कहानी संग्रहों के माध्यम से इस कहानीकार की कथा-दृष्टि और प्रासंगिकता स्वयंसिद्ध हो जाती है। यह अलग बात है कि हिंदी कथालोचन ने कहानीकार की रचनाओं पर अपेक्षित न्याय नहीं किया है। लेकिन असगर वजाहत की कहानियों के सुधी पाठक उनकी रचना सामर्थ्य से भली-भाँति परिचित हैं।

वजाहत की कहानियों से गुजर कर यह तत्काल प्रतीत होता है कि वे घटनाएँ गढ़ते नहीं, कहानी लिखते नहीं बल्कि कहानी सुनाते हैं अथवा उनकी कहानी पाठक से संवाद करती है। इसी क्रम में उनकी कहानी सीधे पाठक से जुड़ती चली जाती है। कहानीकार की चिंता और चेतना से परिचित होते हुए पाठक कभी स्वयं बेचैन होता है तो कभी 'डिस्टर्ब' होता है। यानी उनकी कहानी असली प्रभाव उत्पन्न करती है। घटना, चरित्र, परिस्थितियाँ सभी विश्वसनीय तथा वास्तविक प्रतीत होती हैं। पाठक की बेचैनी और उसके 'डिस्टर्ब' होने की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब रचनाकार रचना-प्रक्रिया के दौरान उन स्थितियों से गुजरा हो। इस संदर्भ में वजाहत स्वयं लिखते

है—"दरअसल लिखने के बारे में मुझे परिस्थितियाँ या विचार बहुत प्रेरित करते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई विचार मन में तेजी से घुसता है और फिर वह मुझे चैन नहीं लेने देता जब तक कि आप अपनी बात को कागज पर न उतार लें।" कहना न होगा कि कहानीकार को विचार अपने समय और समाज से संबद्ध होने के पश्चात् प्राप्त होते हैं। ये विचार किसी कल्पलोक से उत्पन्न नहीं होते। सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों, घटनाओं तथा परिघटनाओं से जुड़ते तथा जूझते जो अनुभव संसार निर्मित होता है उसे असगर वजाहत कथासूत्रों में पिरोते हैं। फलस्वरूप, उनका कथा संसार पाठकों के लिए विश्वसनीय तथा वास्तविक प्रतीत होता है।

असगर वजाहत सत्तर के हो चुके हैं। पिछले पचास वर्षों से साहित्य सृजन करते आ रहे हैं। एक दीर्घ लेखकीय अनुभव के धनी वजाहत का कथा संसार विविधताओं से भरपूर है। विषय, भाषा-शैली तथा प्रस्तुतिकरण में एकरसता नहीं बल्कि वैविध्यपूर्ण सरस अभिव्यक्ति है। अत्यंत छोटे आकार की कहानी है तो लंबी कहानी भी। कहीं संवाद शैली का प्रभावी ढंग से उपस्थापन है तो कहीं कहानी आख्यान शैली में आगे बढ़ती है। कहीं शोणित व्यंग्य का सार्थक प्रयोग हुआ है तो कहीं पत्रात्मक शैली के आधार पर कहानी की संरचना हुई है। लोकतंत्र की बदहाली, मीडिया, बाजार, हिंसा, सांप्रदायिकता, राजनीति, भ्रष्टाचार, धर्मांधता आदि ज्वलंत समस्याओं को कहानी के साँचे में ढालकर रचनाकार ने अपनी जागरूकता का उदाहरण प्रस्तुत किया है। एक बात और भी है कि यह कथाकार प्रगतिशील होते हुए भी अन्य प्रगतिशील रचनाकारों के ढर्रे पर कहानी नहीं लिखता। उसका कहन औरों से भिन्न है। उसका अंदाज विशिष्ट है। गंभीर से गंभीर मुद्दे को सहज और अनायास कहने की कला में उसे महारत हासिल है। उपर्युक्त कारणों से असगर वजाहत हमारे समय के महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं।

खुशी की बात है कि वजाहत की कहानी चीख-चिल्लाहट और शोर से मुक्त है। उन्हें अपने परिवेश का ज्ञान ही नहीं, पूरी समझ भी है। उस परिवेश से मुठभेड़ करते हुए आगे बढ़ते हैं। वे सधे हुए कदमों से अतिकथन से बचते और मितकथन के माध्यम से पूरी जिम्मेदारी के साथ मूल वजह की खोज करते हैं। परिस्थितियों का तटस्थ विश्लेषण करते हैं बिना किसी पूर्वाग्रह के।

असगर वजाहत की कहानियों की अंतर्धारा के रूप में व्यंग्य परिलक्षित होता है। यूँ देखा जाए तो हर काल खंड में व्यंग्य की प्रयोजनीयता असंदिग्ध रही है। कबीर से लेकर भारतेंदु से होते हुए श्रीलाल शुक्ल और हरिशंकर परसाई की रचना दुनिया में व्यंग्य की यात्रा ने हिंदी साहित्य को अत्यंत समृद्ध किया है। इस व्यंग्य यात्रा विशेषत: परसाई के व्यंग्य लेखन ने असगर वजाहत को विशेष प्रेरणा दी है। हाँ, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुंद गुप्त की भूमिका भी नहीं भुलाई जा सकती है। असगर साहब

की कहानियों में निहित व्यंग्य अंतर्विरोधों, विसंगतियों और असमानताओं को उघाड़ता तो है ही, उनकी दूरदृष्टि का भी परिचय देता है। व्यवस्था, विचार, विषय आदि के क्षेत्रों में व्याप्त विसंगतियों को व्यंग्य के माध्यम से उजागर करने में इस कहानीकार को सफलता हासिल हुई है। उल्लेख करना अनुचित न होगा कि यह रचनाकार अपने लेखन के माध्यम से सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक असमानताओं और अंतर्विरोधों को दूर करना चाहता है। इनसे अनभिज्ञ जन को सचेत करना भी चाहता है। इसकी अर्थवत्ता पाठकों के सामने उद्घाटित होती है।

प्रचलित सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अव्यवस्था एवं व्यापक विनाश से समाज तथा राष्ट्र को बचाने अथवा राष्ट्र की सेहत में तनिक अंतर लाने का प्रयास हर सृजनशील व्यक्तित्व का होता है। दिन-ब-दिन संकुचित होते जा रहे जनतंत्र तथा बाजारवादी, उपभोक्तावादी संस्कृति से जूझकर वह अपने जीवनानुभवों को बाँटने के लिए कला अथवा साहित्य का सहारा लेता है। असगर अपने अनुभवों और चिंताओं को कहानी, उपन्यास अथवा नाटक के माध्यम से शिद्दत के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनकी अनेक कहानियों में लचर होती जनतांत्रिक व्यवस्था पर गहरा व्यंग्य है। इस पूरी व्यवस्था में घुन लग चुका है। कहानीकार इसे महसूस करता है। छोटी-सी कहानी 'स्विमिंग पूल' में रचनाकार ने भ्रष्ट शासन व्यवस्था से पीड़ित आम जनजीवन की दुर्दशा का चित्रांकन करते हुए अपने सरोकार को स्पष्ट किया है। कहानी की समस्या यह है कि "घर के सामने नाला बहता है, उसमें से बदबू आती है, उसमें सुअर लोटते हैं, उसमें आसपास वाले भी निगाह बचाकर गंदगी फेंक आते हैं, नाले को कोई साफ नहीं करता। सैकड़ों बार शिकायतें दर्ज कराई जा चुकी हैं। एक बार तो किसी ने मरा हुआ इतना बड़ा चूहा फेंक दिया था। वह पानी में फूलकर आदमी के बच्चे जैसा लगने लगा था।" (असगर वजाहत की चुनिंदा कहानियाँ, सं. पल्लव, पृ. 13) सैकड़ों बार शिकायतें दर्ज होने के बावजूद कोई अच्छा परिणाम न निकला। जनतंत्र की शोचनीय स्थिति पर लगातार निगरानी रखने वाले वजाहत वीआईपी कल्चर पर व्यंग्य करते हुए कहानी की समाप्ति निम्नलिखित शब्दों में करते हैं—"आज मैंने वी.आई.पी. को नाले में तैरते देखा था। वे बहुत खुश लग रहे थे। नाले में डुबकियाँ लगा रहे थे। किलकारियाँ मार रहे थे। उछल-कूद रहे थे, जैसा लोग स्विमिंग पूल में करते हैं।" (वही, पृ. 15) जनतंत्र की असह्य विकृतियों को उघाड़ने में कहानीकार पीछे नहीं है। जनतंत्र आमजन के लिए न होकर अभिजनों की स्वार्थसिद्धि का साधन बन रहा है। आज भी किसानों तथा आमजनों से भले ही सब्सिडी हटा दी जाए, लेकिन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के स्वत्वाधिकारियों के लाखों करोड़ टैक्स मुआफ करने में सरकार तत्पर रहती है। इस कहानी में वी.आई.पी. का नाले में तैरना हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था के असली चेहरे

को प्रदर्शित करता है। निम्न तथा मध्यवर्ग के लिए नाला स्विमिंग पूल है और भविष्य में भी बना रहेगा। तमाम गंदगियों में जनता डुबकियाँ लेती रहे। ऐसा अनुकूलन हो सके, इसलिए वी.आई.पी. नाले में तैर रहे हैं, डुबकियाँ ले रहे हैं। यह अक्सर देखा गया है कि असली समस्या से आँखें हटाकर जनता को झूठ और आश्वासनों में डुबोए रखना 'राष्ट्र के सेवकों' की रणनीति बनती जा रही है। लघु आकार की कहानी में भी वजाहत तमाम संकेतों के माध्यम से वृहत्तर परिप्रेक्ष्य की रचना करते हैं। कम शब्दों में अधिक कहने का कथा-कौशल कोई असगर वजाहत से सीखे।

आज पूरा देश तमाशों में डूबा हुआ है। जनतंत्र भी तमाशा बन चुका है। धूमिल ने 'पटकथा' शीर्षक लंबी कविता में लिखा है—

''दरअसल, अपने यहाँ जनतंत्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है।
हर तरफ धुआँ है
हर तरफ कुहासा है
जो दाँतों और दलदलों का दलाल है
वही देशभक्त है
अंधकार में सुरक्षित होने का नाम है
तटस्थता।''

धूमिल की चिंता के साथ असगर वजाहत की चिंता को मिलाकर देखा जाए तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि रचनाकार देश के स्वास्थ्य में सुधार लाने के बारे में कितने चिंतित रहते हैं। 'तमाशे में डूबा देश' कहानी में देश की बिगड़ती सेहत पर कहानीकार का सूक्ष्म पर्यवेक्षण विद्यमान है। जनतंत्र के नाम पर सत्ता का सबसे अधिक दुरुपयोग, दोहन, शोषण और मनमानापन जारी है। जनतांत्रिक व्यवस्था केवल नेताओं, जनप्रतिनिधियों की कठपुतली बनकर रह गई। उनके कुत्तों या पिल्लों की रक्षा मनुष्य की रक्षा से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण साबित हो रही है। पुलिस, मीडिया, बाजार, प्रशासन आदि की दृष्टि में आम आदमी का कोई महत्त्व नहीं है। देश का दुर्भाग्य है कि जो जितना बड़ा हत्यारा है, वह उतना बड़ा राष्ट्रसेवक है। मंत्री पुत्र के पिल्ले बेबी रतन और बेबी गौरी (मैडम लूसी और सर जनसन की औलादें) की चोरी की घटना का उल्लेख करते हुए कहानीकार ने मीडिया, पुलिस, सेना, राजतंत्र, विश्व तंत्र आदि की ऐसी समीक्षा की है कि पाठक झंकृत हो उठता है। पूरा देश और दुनिया अपहृत पिल्लों

की 'बाइट' में डूबा है। अमेरिका अपना 'विश्वधर्म' पालन करने में जुट जाता है। मीडिया अपनी टीआरपी बढ़ाए जा रहा है। 'ऑपरेशन टूथ' जारी है। पूरे देश की चिंता है बेबी रतन और बेबी गौरी की सुरक्षा की। लेकिन तीन बच्चों की माँ अपने पति के गुमशुदा होने की रपट लिखाने जाती है तो उसकी प्रार्थना तक नहीं सुनी जाती। कहानी में नाटकीयता के तत्त्व भरे पड़े हैं। रतन और गौरी के अपहरणकर्ता को लेजर बम से मार गिराने के बाद पूरा देश उत्सवधर्मिता में डूबा हुआ पाया जाता है। उसी दिन थाने में सिरकटी लाश पहुँचाई गई। उस औरत के पति की लाश थी। कहानीकार की टिप्पणी सहृदयों को हिलाने वाली होती है, गंभीर रूप से प्रभाव छोड़ती है—"औरत रो रही थी, पर मौज, मस्ती, आनंद, उल्लास, जश्न, गीत-संगीत के माहौल में उसकी आवाज़ कोई नहीं सुन रहा था।" (वही पृ. 96) सबसे दुखद और चिंता का विषय है असंवेदनशीलता का प्रसार—"उसके बच्चे अपने फटे-पुराने कपड़ों में सहमे, सिकुड़े मुँह खोले मंच पर होने वाले तमाशे में डूबे हुए थे। वे न अपनी माँ को देख रहे थे, न बाप की सिरकटी लाश को।" (पृ. 96) पूँजीवादी तथा बाजारवादी अर्थव्यवस्था ने मानवता तथा संवेदना को किस हद तक गला घोंटकर मार डाला है, उसका नायाब उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है। प्रसंगतया कहानीकार ने समय तथा समाज की विद्रूपताओं की ओर भी इशारा किया है। अमेरिकी साम्राज्यवाद का भूगोल अमेरिकी मानचित्र तक सीमित नहीं रह गया है। अमेरिकी मानसिकता पूरी दुनिया को ग्रसित करने लगी है। अमेरिकी जीवनशैली तथा भोजन सामग्री के प्रचार-प्रसार तथा बढ़ते उपभोग से अपने मुल्क के लोग अपने जीवनमूल्यों तथा जड़ से उखाड़े जा रहे हैं। कहानी में पूँजी और सत्ता की गठजोड़ और मिलीभगत के चित्र अंकित हुए हैं। एक बहुआयामी कहानी है 'तमाशे में डूबा देश'।

इसी क्रम में 'सदन में शहीदे-आजम' शीर्षक कहानी का पाठ भी दिलचस्प होगा। लोकतंत्र और जन-प्रतिनिधियों के माध्यम से लेखक ने हमारी राजनीतिक स्थिति का जो खाका खींचा है एवं सर्वत्र व्याप्त घोटालों और भ्रष्टाचार पर तल्ख टिप्पणी की है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अद्भुत कल्पना के आधार पर रची गई इस कहानी में माननीय सांसदों की असलियत को बड़ी बारीकी से पेश किया गया है। अपने को देशसेवक एवं राष्ट्रसेवी कहलाने वाले भगत सिंह का संसद में आते ही सभी मेज के नीचे छिप जाते हैं, क्योंकि संसद में फैलने वाली दुर्गंध को दूर करने के लिए वे बम फेंकने आये थे। संसद में बदबू अर्थात् हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था पूरी तरह सड़ने-पचने की स्थिति में आ गई है। यह वह लोकतंत्र है जिसे असंख्य बलिदान देकर हासिल किया गया था। कितने शहीदों के खून बहने, घर उजड़ने, कालापानी काटने, फाँसी के फंदे पर लटकने, सूनी गोद होने, माँग उजड़ने के बाद मिला था। महात्मा गाँधी, सुभाषचंद्र बोस,

शहीदे आजम आदि के उत्तराधिकारी उनके सपनों को कुचलने जुटे हैं। इस स्थिति को असगर वजाहत बदबू के रूप में चित्रित करते हुए समय के यथार्थ को उकेरते हैं— "रेल की पटरियाँ गंधाती हैं, गेटवे ऑफ इंडिया से लेकर इंडिया गेट तक बदबू-ही-बदबू है। नौकरशाही से दुर्गंध आती है। आई.पी.सी. से सड़ी गंध आती है। शिक्षा-व्यवस्था की हालत तो गंदे नाले जैसी है।" (पृ. 58) राज्य की न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका का एक-एक अंग दुर्गंध से भर चुका है। भ्रष्टाचार का कैंसर राज्य के स्वास्थ्य को खोखला कर चुका है। सत्ता डेमोक्रेसी—डेमोक्रेसी का खेल कर रही है। 'राजे ने अपनी रखवाली की' भाँति सत्ता को केवल अपनी सुरक्षा की चिंता है। झूठ का प्रचार इस ढंग से किया जा रहा है कि वह सच प्रतीत हो रहा है। विज्ञापन, होर्डिंग आदि के माध्यम से झूठ को सच में तब्दील करने के लिए आम जनता द्वारा जमा किए गए अरबों में लुटाए जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में कहानी 'मुख्यमंत्री और डेमोक्रेसिया' याद आती है।

'मुख्यमंत्री और डेमोक्रेसिया' की पहली पंक्ति से ही कहानीकार का चुटीला व्यंग्य शुरू होता है—"अकाल हो या बाढ़, दंगे हो या स्टेम्पीड मुखमंत्री सुखमंत्री रहते हैं।" भयानक बाढ़ के चलते सर्वनाश छाया हुआ है। महामारी लोगों को चट कर रही है। लेकिन 'मुखमंत्री' परम प्रसन्न हैं। किसी तरह की कोई परेशानी नहीं है—"आप इसे परेशानी कहते हैं। हम तो कहते हैं साल भर बाढ़ रहे। जनता की सेवा करने का मौका मिलता रहे। मुखमंत्री कोष में पैसा आता रहे।" (वही, पृ. 54) इस कहानी में विद्रूपताओं का बार-बार साक्षात्कार होता है। इस चुनौती भरे समय में ऐसी कहानियों की बार-बार जरूरत महसूस होती है। वजाहत के विचार और उनके कथ्य इन कहानियों की बार-बार जरूरत महसूस होती है। वजाहत के विचार और उनके कथ्य इन कहानियों में ऐसे घुल-मिल गए हैं कि इन्हें अलगाना खटकता है। ये कहानियाँ हमारे समय में लगातार हस्तक्षेप करती हैं। भाषा सहज और वाक्य सरल होने पर भी मुश्किल तथा जटिल विचारों की भी कैसे सार्थक अभिव्यक्ति हो सकती है, इसे इन कहानियों के माध्यम से परखा जा सकता है।

सत्ता का चरित्र ही मनुष्य विरोधी होता है। मनुष्यता की बात तभी सोची जा सकती है यदि सही अर्थ में जनतंत्र कायम हो। यदि ऐसा न हो तो विभिन्न स्तरों पर संघर्ष जारी रखना पड़ता है। कहानीकार अपनी रचना के बहाने राजनीति, सरकारी तंत्र और वर्ग संघर्ष का पर्दाफाश करता है। इससे उसकी सामजिक-राजनैतिक चेतना का भी परिचय मिलता है। समकालीन जीवन की जटिलताओं को प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। 'दिल्ली पहुँचना है' शीर्षक कहानी का मुख्य सरोकार यह है कि सत्ता की मनमर्जी को कैसे रोका जाए। 'संघर्ष

हमारा नारा है' के समर्थकों से ही उसकी उच्छृंखलता और मनुष्यविरोधी शक्तियों को पराजित किया जा सकता है। उपनिवेशकाल से पुलिसिया अत्याचार और आतंक से आमजन त्रस्त रहा है। आजाद भारत में भी पुलिस की नृशंसता जारी है। इस कहानी में आम लोगों का प्रतिरोध तथा आतंक से मुक्ति के उपाय के बारे में विश्वसनीय चित्रण किया गया है। अपना डंडा लहराते हुए गालियाँ बकनेवाले सिपाही की कैसी दशा होती है, उसके बारे में वजाहत के शब्द हैं—''फिर पता नहीं चला कि उसकी टोपी, डंडा, कमीज, हाफ पेंट, जूते और मोजे कहाँ चले गये, क्योंकि यदि बीस हाथ डंडा छीनने के लिए बढ़े हों, दस हाथों ने टोपी उतारी हों, सात-आठ आदमी कमीज पर झपटे हों, तीन-चार लोगों ने जूते और मोजे उतारे हों, तो इस काम में कितना समय लगा होगा! अब सिपाही सिपाही से आदमी बन चुका था। उसके चेहरे पर न रोब था, न दाब। सामने खड़ा था बिल्कुल नंगा।'' (वही, पृ. 74) कहा जा सकता है कि तंत्र या सत्ता का मुकाबला संघबद्ध प्रयास और समवेत संघर्ष के जरिये ही संभव हो सकता है। जब तक उसकी काली करतूतों के नग्न यथार्थ को उखाड़ा न जाए, तब तक समानता स्थापित नहीं हो सकती है। आज के दौर में विरोध समाप्तप्राय है। प्रतिरोध स्वप्नवत् है। आत्मकेंद्रित समय में 'सिपाही से आदमी बनने' की कल्पना हवाई नहीं बल्कि कहानीकार की कथा-दृष्टि का परिचायक है।

'दिल्ली पहुँचना है' की तरह 'केक' भी असगर की प्रारंभिक कहानियों में से एक है। इसमें कहानीकार ने यथार्थ के नये रूप को व्यक्त करने का सार्थक प्रयास किया है। उत्तर-पूँजीवादी समय में प्रूफ-रीडर डेविड दो सौ पचहत्तर रुपए इक्कीस पैसे की नौकरी करता है। उसके मन में अपने बॉस 'वासु' के प्रति गहरा आक्रोश है। उसे पता है कि ''पूरी मशीनरी सड़-गल चुकी है। ये आदमी नहीं कुत्ते हैं कुत्ते'' इसलिए गाँधीजी का घोर समर्थक मानता है—''अब सोचता हूँ कि वह (अहिंसा) चुतियापा है। वाइलेंस इज दी बेस्ट पॉलिसी। लटका दो पाँच सौ आदमियों को सूली पर। अरे, इन सालों का पब्लिक ट्रायल होना चाहिए, पब्लिक ट्रायल।'' (वही, पृ. 76) निर्धन के लिए हलुआ-पूड़ी की तरह डेविड के लिए केक है। प्रेमचंद के हल्कू के सपने की तरह डेविड का भी सपना है कि वह केक बनाए। महानगरीय जीवन यथार्थ की गहराई में पहुँचकर कहानीकार ने उसे अत्यंत कुशलतापूर्वक चित्रित किया है। महानगर दिल्ली के अलक्षित इलाके में तंगहाली में जीवन गुजारा करने वालों के मार्मिक चित्र के साथ कहानीकार ने आत्मचेतस निम्न मध्यवर्गीय चरित्र का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। गाँव से शहर या नगरोन्मुखी प्रवृत्ति के बरबस पुनः ग्रामोन्मुखी होने में शायद भला हो सकता है। सुकून मिल सकता है। परजीविता से आत्मनिर्भरता की संभावना गाँव में ही बन सकती है। ऐसी कल्पना कोई बनी बनाई परिपाटी में नहीं समा पाती है। अपनी जमीन

पर और अपनी ही शर्त पर बेहतर जीवन जिया जा सकता है। अपनी जड़ और अपने को बचाया भी जा सकता है। लेखक का मानना भी है—''इस आदमी के पास गाँव में थोड़ी-सी जमीन है जहाँ गेहूँ और धान की फसल होती है। इसको चाहिए कि अपने खेत के पास एक कच्चा घर बना ले। उसके सामने एक छप्पर डाल ले, बस उस पर लौकी की बेल चढ़ानी पड़ेगी। देहात में आराम से एक भैंस पाली जा सकती है। कुछ दिनों बाद मुर्गीखाना खोल सकते हैं। खाने और रहने की कोई फिक्र नहीं रह जायेगी। ठाठ से काम करें और खायें।'' (वही, पृ. 88) महानगरीय यंत्रणा से मुक्ति के उपाय अथवा मुक्ति की संभावना की तलाश तो है ही, जो कुछ भी बचा हुआ है उसे बचाए रखने का प्रयास हो तो तमाम अव्यवस्थाओं एवं भयानक प्रतिकूलताओं में भी उम्मीद की किरण ढूँढ़ी जा सकती है। असगर वजाहत की कथा दृष्टि की सबसे उल्लेखनीय खासियत है कि यह रचनाकार न केवल नग्न यथार्थ को कथासूत्रों में पिरोता है बल्कि संवेदनाओं एवं संभावनाओं की खोज भी करता है। इसलिए तमाम प्रतिकूलताओं के बीच भी उनकी कहानियाँ हमें निराश नहीं करती हैं बल्कि हमें जागरूक बनाती हैं। खुली आँखों से देखने का आग्रह करती हैं। साथ ही हममें जीवन के प्रति आस्था और विश्वास का भाव पनपने देती हैं। इस दृष्टि से असगर वजाहत अपने समकालीनों से विशिष्ट हैं। यह विशिष्टता उनके कथा प्रसंगों, वर्णन शैली, प्रस्तुतिकरण, कथा-भाषा आदि के संदर्भों में भी पाई जाती हैं। बार-बार नए-नए प्रसंगों से उनकी कहानी जूझती हुई भी दिखाई पड़ती है। वे उच्च, आभिजात्य तथा पूँजीपति वर्ग एवं सत्तासीन वर्ग के पाखंडों और आडंबरों का ही खुलासा नहीं करते बल्कि मध्यवर्गीय प्रदर्शनप्रियता और दोगलेपन पर भी करारा व्यंग्य करते हैं। 'अपनी-अपनी पत्नियों का सांस्कृतिक विकास' इस आशय की कहानी है। कहानी की शीला दीक्षित डबल एम.ए. हैं। उनके पति अर्थशास्त्र में पीएच.डी. तथा प्राध्यापक हैं। विद्वान हैं। शीलाजी महिला-शक्ति, महिला नैतिकता, महिला-साहस और महिला सौंदर्य का प्रतीक थीं। लो-बजट वाली आर्ट फिल्म में काम करने के लिए उसके पति उसे अनुमति नहीं देते हैं। पक्का पुरातनपंथी और जड़ व्यक्ति हैं जिन्हें आधुनिक विचार छू तक नहीं पाए हैं। मलकानी साहब की पत्नी शीला चौके में ही रहती हैं और पकौड़े, चटनी आदि बनाकर पति तथा अतिथियों के लिए भिजवाती है। सवाल यह है कि यदि मलकानी और शीला के परिवार में आधुनिक विचारों का प्रवेश नहीं हो सका है तो फिर स्त्री-सशक्तिकरण का नारा वृथा दंभ के अलावा क्या होगा? असगर बिना कहे कहानी के माध्यम से गंभीर संकटों की ओर इशारा कर देते हैं। उस इशारे से उनकी नारी दृष्टि का परिचय मिलता है तथा नारी-विमर्श का स्वर उभरता है। इस संदर्भ में 'लकड़ियाँ' शीर्षक कहानी का पाठ किया जा सकता है। दरअसल यहाँ लड़कियों की बात है। लेकिन कथाकार ने 'लकड़ियाँ'

शीर्षक रखकर बहुत कुछ कहना चाहा है बिना कुछ कहे। बड़ी अच्छी कहन शैली में रोचक ढंग से आधी आबादी की गंभीर समस्याओं की ओर कहानीकार ने इशारा किया है। दस खंड चित्रों में लेकिन बमुश्किल दो हजार शब्दों में कहानीकार ने स्त्री जीवन की गंभीर समस्याओं तथा भयानक स्थितियों का जो खाका खड़ा किया है, ऐसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस कहानी का एक-एक वाक्य इतना मारक है कि बिना उद्वेलित किए नहीं छोड़ता मसलन,

(क) ''श्यामा की जली हुई लाश थाने पहुँची तो वहीं पहले से ही दो नवविवाहित लड़कियों की जली हुई लाशें रखी थीं।'' (वही, पृ. 41)

(ख) ''लालची ससुराल वालों ने मुझे दहेज के लालच और अपने लड़के की दूसरी शादी के लालच में मुझे जला कर मार डाला (वही, पृ. 42)

(ग) ''पति परमेश्वर होते हैं। वे जलते नहीं, केवल जलाते हैं।'' (वही, पृ. 45)

थाना, अदालत, प्रेस, प्रधानमंत्री सचिवालय, बाजार, अपना स्कूल, विवाह करानेवाले पंडित के घर, भगवान के घर, मानवाधिकार समिति में श्यामा की लाश पहुँचती है। श्यामा सर्वत्र अपना पक्ष रखती है, न्याय माँगती है। मानवाधिकार के अलावा सभी किसी न किसी बहाने श्यामा में दोष पाते हैं अथवा ससुराल का समर्थन करते हैं। मानवाधिकार समिति के सामने वह खामोश रहती है, क्योंकि दायर किए गए अधिकांश मुकदमों में अपराधी बच निकलने की बात वे लोग कहते हैं। कहानी का अंतिम वाक्य गौरतलब है—''बोलो श्यामा, बोलो...जब तक तुम नहीं बोलोगी, हमारी आवाज कोई नहीं सुनेगा।'' (वही) अर्थात् मानवाधिकार वालों को भी अपनी चिंता है। अपनी अस्मिता को बचाए रखने के लिए वे श्यामा से सुनना चाहते हैं, बुलवाते हैं। संवेदना यहाँ भी शुष्क है। इसी संवेदना की तलाश करती हैं असगर वजाहत की कहानियाँ। हाँ, यह सच है कि नारी-विमर्श का झंडा उठाकर नारेबाजी और जुमलेबाजी में विश्वास नहीं करती हैं।

असगर वजाहत के कथा-साहित्य की अत्यंत महत्त्वपूर्ण विशेषता है सांप्रदायिकता का तीव्र विरोध। उन्हें पता है कि सांप्रदायिकता की विष ज्वाला मानव जाति तथा मानवता को लील जाने को तत्पर रहती है। पूँजी, सत्ता, धर्म, राजनीति आदि सांप्रदायिकता को फलने-फूलने में सदैव उपयोग करते आए हैं। अफवाह, दुष्प्रचार आदि के माध्यम से हो अथवा जाति, वर्ण या धर्म की दीवार खड़ाकर विखंडनवादी शक्तियाँ अपना हित साधन करती आई हैं। सबसे बड़ा आश्चर्य यह कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी जितनी तेजी के साथ विकसित हो रहे हैं मनुष्य की धर्मांधता, संकीर्ण मनोवृत्तियाँ, जातिवादी, संप्रदायवादी सोच उतनी ही तेजी से फैलती जा रही है। समाज में रूढ़ियों, अंधविश्वासों और परंपरावादिता का माहौल पनपने लगा है। इससे मनुष्यता के लिए संघर्ष और जटिल

हुआ है। मानवता के सामने गहरा संकट उत्पन्न हो रहा है। ऐसी स्थिति में अर्थात् सांप्रदायिक उन्मादों में अराजक शक्तियों के हाथ मजबूत हो जाते हैं। ये शक्तियाँ स्वार्थकेंद्रित तो होती हैं, प्रगतिविरोधी भी होती हैं। किसी भी प्रगतिशील रचनाकार के लिए ऐसी स्थितियाँ असहनीय हो उठती हैं। वह मनुष्य और मनुष्यता के साथ खड़ा होता है, मानवविरोधी शक्तियों को ललकारता है। असगर ऐसे ही रचनाकार हैं जो हिंसा, बरबादी, दमन, शोषण, निर्यातन, अत्याचार आदि के विरोधी हैं। पूँजीवादी व्यवस्था इन स्थितियों को बढ़ावा देती हैं। धार्मिक पाखंड को बढ़ावा देने वालों का अगर कोई विरोध करता है तो उसे समाज विरोधी या राष्ट्रविरोधी करार दिया जाता है। कहना न होगा कि सांप्रदायिक ताकतें धर्म को विकृत कर रही हैं। असगर की 'गुरु-चेला संवाद', 'मैं हिंदू हूँ', 'शाह आलम कैंप की रूहें', 'सारी तालीमात', 'मुश्किल काम' आदि अनेक कहानियों में सांप्रदायिक विभीषिका का चित्रण भर नहीं बल्कि उनके मूल कारणों को पहचानने का भी प्रयास है। मूल बात है कि यदि विनाशकारी ताकतों को पहचाना जाए तो उनकी काली करतूतें भी समझ में आ जाएँगी। अफवाह और झूठ के प्रचार तंत्र से आमजन प्रभावित न होगा।

धार्मिक कट्टरता और सांप्रदायिक दंगों को रोकने के उपाय तथा सांप्रदायिक दंगों को फैलानेवाले लोगों की खोज आदि से संबंधित 'गुरु-चेला संवाद' निस्संदेह हमारे समय की महत्त्वपूर्ण कहानी है। पूरी कहानी संवाद शैली में रची गई है। चेला के सवालों के जवाब गुरुजी अपने ढंग से देते हैं। इन उत्तरों में रचनाकार की दृष्टि समाहित है। विडंबना यह है कि हमारे धार्मिक नेता हों या राजनेता, सेठ-साहूकार हों अथवा तथाकथित देश भक्त सांप्रदायिक दंगों की आग में घी डालते हैं। घृणा का ऐसा जबर्दस्त तंत्र कायम करते हैं कि मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति चरम अवस्था में पहुँच जाती है। दंगा रोकने का नाटक करते हैं फिर भी दंगा न रुकने का रहस्य चेला जानना चाहता है तो गुरु का जवाब सुनें—"यही तो रहस्य है बेटा...इसे समझ जाओगे...और किसी दंगे में मार दिये जाओगे।" (वही, पृ. 31) दंगा रोकने का काम वैज्ञानिकों, धार्मिक लोगों, समाजशास्त्रियों, राजनेताओं में से किसी ने भी अपने शास्त्र के अनुकूल स्वीकार नहीं किया। परंतु हमें यह समझना चाहिए कि दंगों में मरने वाले न हिंदू होते हैं और न मुसलमान। न तो वे सिख होते हैं और न जैन। वे सिर्फ मनुष्य होते हैं। दंगे में केवल मनुष्य कराहता है या मरता है। 'मुश्किल काम' कहानी में दंगाइयों का संवाद प्रस्तुत है। दंगा में हत्या करने वाले संख्या के आधार पर अपनी बड़ाई करते हैं कि किस दंगे में कितने लोगों को वे मौत के घाट उतारे थे। इस कहानी में आततायी औरत, बच्चे, बूढ़े, जवान, रिक्शेवाले, मजदूर आदि की हत्या को आसान नहीं, मुश्किल काम कहते हैं। तीन पृष्ठों की इस छोटी-सी कहानी में बच्चों को मारना बहुत मुश्किल काम कहा गया है, क्योंकि "बच्चों

को मारते समय...अपने बच्चे याद आ जाते हैं।'' (वही, पृ. 19) खुशी की बात है कि इन हत्यारों और आततायियों में अभी भी थोड़ी-सी इंसानियत बची हुई है। इसी आशा के कण से मानवता की पौध को हरा-भरा किया जा सकता है।

मनुष्य को धर्म की रस्सी में बाँधकर उसे अपने ढंग से परिचालित किया जाता है। सांप्रदायिक दंगे फैलाकर दिल्ली दरबार पर कब्जा किया जाता है। 'मैं हिंदू हूँ' में कहा भी गया है—''अब तो दिल्ली दरबार पर कब्जा जमाने का साधन बन गए हैं सांप्रदायिक दंगे। संसार के विशालतम लोकतंत्र की नाक में वही नकेल डाल सकता है जो सांप्रदायिक हिंसा और घृणा पर खून की नदियाँ बहा सकता हो।'' (वही, पृ. 35) इस कहानी में सैफ का सुंदर ढंग से चरित्र चित्रण किया गया है। उसके हिंदू होने की इच्छा को परिस्थितियों को कहानीकार ने बड़ी बारीकी से अंकित किया गया है। दंगा पीड़ित कर्फ्यूग्रसित इलाके के वातावरण को मूर्त किया गया है। झूठे प्रचार के माध्यम से सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने वाले तत्वों को उजागर किया गया है। इस कहानी का एक मार्मिक स्थल है जहाँ स्पष्ट कहा गया है कि दंगा-फसाद—''ये सब गुंडे बदमाशों के काम हैं...न हिंदू लड़ते हैं और न मुसलमान...गुंडे लड़ते हैं।...अजी हाजी अब्दुल करीम का फायदा है जो चुंगी का इलेक्शन लड़ेगा और उसे मुसलमान वोट मिलेंगे। पंडित जोगेश्वर को है जिन्हें हिंदुओं के वोट मिलेंगे—अबे तो हम क्या हैं? तुम वोटर हो—हिंदू वोटर, मुसलमान वोटर, हरिजन वोटर, कायस्थ वोटर, सुन्नी वोटर, शिआ वोटर—यही सब होता रहेगा इस देश में? हाँ क्यों नहीं? जहाँ लोग जाहिल हैं, जहाँ किराए के हत्यारे मिल जाते हैं, जहाँ पॉलीटीशियन अपनी गद्दियों के लिए दंगे कराते हैं वहाँ और क्या हो सकता है?'' (वही, पृ. 39)

सांप्रदायिक वैमनस्य नहीं, सौमनस्य और सौहार्द की भावना का प्रचार तथा प्रसार असगर वजाहत की रचनाधर्मिता है। 'शाह आलम कैंप की रूहें' इस तरह की कहानी है। दस छोटे-छोटे खंडों में कहानी का ताना-बाना बुना गया है। इस कैंप में आधी रात के बाद तमाम रूहें आती हैं। माँ, नेता, शैतान, बच्चे, बूढ़े और भी कइयों की रूहें आती हैं। महात्मा गाँधी की भी रूह आती है। उनकी रूह कहती है—''सिर्फ ये बताने के लिए कि न उसके गोली मारकर मारने से मैं मरा था और न उनके जिंदा जला देने से मरूँगा।'' (वही, पृ. 49) पूँजी और धर्म की साँठगाँठ से पालित तथा पोषित हिंसा, दंगा तथा विध्वंस को 'सारी तालीमात' में मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त किया गया है।

अब तक की चर्चा के केंद्र में जिन कहानियों पर विचार किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें ज्वलंत समस्याएँ हैं। धर्म, राजनीति और समाज की समस्याएँ यहाँ बखूबी अंकित हैं। सामंती संरचना के अवशेष मानसिकता के रूप में आज भी उभर रहे हैं तो पूँजीवादी सभ्यता की दुश्वारियाँ सामाजिक, राजनीतिक,

सांस्कृतिक जीवन को बुरी तरह प्रभावित कर रही हैं। बाजारू संस्कृति ने उपभोक्तावाद को स्थापित किया है। असगर वजाहत की कहानियाँ इन समस्याओं से टकराती हैं। राष्ट्र की सेहत को सुधारने के उद्देश्य से समय की विसंगतियों और उलझनों का खुलासा करती हैं। ये कहानियाँ धार्मिक पाखंड और कठमुल्लेपन एवं सभी प्रकार के शोषण के खिलाफ हैं। पूँजी और सत्ता के खेल से भी खूब परिचित हैं। सांप्रदायिकता के कारक तत्त्वों की शिनाख्त करती हैं। इनमें कथाकार का समय-समाज अपने अंतर्विरोधों और उलझनों के साथ रूपायित हुए हैं। इनमें अपनी जड़ के प्रति गहरा आकर्षण है तो यथार्थ को अनदेखा नहीं किया गया है।

और अंत में, 'होज वाज पापा' (कैसे हो पापा?) के बारे में एक संक्षित टिप्पणी प्रस्तुत करना अनुचित न होगा। यह कहानी असगर साहब के कथा परिदृश्य को व्यापकता प्रदान करती है। कहानीकार ने अपने प्रवास काल के दौरान यह कहानी लिखी थी। मानव जीवन के चिरंतन मूल्य और उसकी अदम्य जिजीविषा देखकर पाठक चकित हो जाते हैं। मनुष्य चाहे एशिया मुल्क का हो या यूरोप का, मरणासन्न स्थिति में भी वह जीवन को थोड़ा जी लेना चाहता है। चौरासी की उम्र में ऑपरेशन के बाद भी लॉटरी खरीदकर सपने सँजोना मृत्यु को पीछे खदेड़ने के समान है। लेखक का नर्स हॉयनिका के प्रति प्रेम-भाव उमड़ना एवं अस्पताल से रिलीज होने पर उसे 'मिस' करने की कल्पना करना मनुष्य मात्र के लिए स्वाभाविक है। हंगरी के उस अस्पताल में रहने वाले और उन्हें देखने आने वालों (उनके आत्मीयों के सहजात गुण) भाषा, पहनावा और संस्कृति की भिन्नता के चलते भिन्न-भिन्न नहीं होते हैं। पीटर मतोक केवल हंगरी के पॉपा में नहीं रहते। न ही पॉपा जैसी इच्छा रखने वाले बुडापेस्ट में रहते हैं। तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी थोड़ा-सा समय सपना देखने के लिए निकाल लेने वाले जीवन के मूलमंत्र को साकार करते हैं। कहा जाना चाहिए कि इस कहानी ने वजाहत की कथा दुनिया के वितान को प्रशस्त किया है।

असगर वजाहत का कथा संसार वैविध्यमय है। बहुरंगी है। उनकी कहानियाँ वक्त की शिनाख्त करती हैं। जीवन तथा जगत् को अधिक सुंदर बनाने के मकसद लेकर उनकी कहानी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होती है। यथार्थ की विभिन्न परतों को उघाड़ती है। उनकी कहानी जहाँ समाप्त होती है वहीं से पाठकों की अंतक्रियाएँ शुरू होती हैं। एक बड़े कथाकार के तमाम गुण उनकी कथा दुनिया में विद्यमान हैं।

एक अलक्षित कथाकार की दुनिया से गुजरकर

भालचंद्र जोशी समकाल के जागरूक कथाकार हैं। उनकी लेखकीय प्रतिभा विशेषत: ग्रामीण जनजीवन, आमजन तथा आदिवासी समुदाय से जुड़ी है। उन्होंने शहरीकरण की चपेट में आ रहा गाँव, बदलते मूल्य, शोषण और भ्रष्टाचार के तहत बाजारतंत्र तथा भूमंडलीय प्रभावों की प्रतीकात्मकता को कथा-सूत्र में पिरोने का प्रयास किया है।

भालचंद्र की कहानियों में सामाजिक समस्याओं को भली-भाँति उकेरने का भी प्रयास स्पष्ट परिलक्षित होता है। लेखक का आंतरिक जुड़ाव गाँव की मिट्टी से है। 'गाँव' उनके कथा-चिंतन की धुरी पर है। हालाँकि लेखक ने जिस समाज का चित्रण किया है उसका परिवेश संक्रांत है। उनकी कहानियों का समाज शहरीकरण और नगरीकरण से प्रभावित है। उनके पात्र शहर में रहते हुए ग्रामीण संस्कृति के साथ आंतरिक लय बाँधते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनकी कहानियों से गुजरते हुए अक्सर महसूस होता है कि लेखक से बहुत कुछ अनकहा रह गया है जो उन्हें उद्विग्न कर रहा है। उनकी यही बेचैनी पाठकों से सीधा संवाद कायम कर लेती है।

उनकी कहानियों में समाज के बदलते संदर्भों को ढूँढ़ा जा सकता है। इनमें सामाजिक सरोकार के स्वर धीरे-धीरे विकसित होते पाये जाते हैं। उनका प्रथम कहानी संग्रह 'नींद से बाहर' (1998) की कहानियों में लेखक पाठकों से मुखातिब होने के बजाय आत्मगत संवाद की धुन में डूबा हुआ मालूम पड़ता है। इस संग्रह की कहानियाँ वैविध्यमयी हैं। इनमें निहित गहरा पीड़ाबोध मार्मिक है। पात्रों में एक अवसादभरी जड़ता है जो उनमें ठहराव-सा भर देता है। लेकिन यहाँ भी उनकी विवशताएँ मुखर हैं। 'बोरचिंवी तक', 'डार्करूम', 'मौसम बदलता है' इस संदर्भ की महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं।

'चरसा' शीर्षक संग्रह में भी आत्ममंथन ही प्रमुख हो उठा है। इन कहानियों का विषय निरूपण तत्कालीन सामाजिक परिवेश के अनुरूप ही है। ग्रामीण पृष्ठभूमि पर

इनमें चित्रित समस्याओं के कुछ रूप लगभग प्रेमचंदयुगीन समस्याओं का विकसित रूप है। किंतु बाद के संग्रहों की कहानियों का समाज भूमंडलीय प्रभावों के आगोश में है।

'पहाड़ों पर रात' शीर्षक कहानी संग्रह में लेखक बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक से लेकर इक्कीसवीं शती के प्रथम दशक तक की समाज की मनःस्थिति, बाजारवादी प्रलोभनों, अलगाववाद, आदिवासी जनजीवन, राजनीतिक छल-छद्मों आदि का ब्योरेवार का आकलन करता है। संग्रह की कहानियों की केंद्रीय चिंता ग्रामीण जीवन का बदलता यथार्थ है। यहाँ वो गाँव है जो पूरी तरह से बाजार के कब्जे में है। शहरीकरण की प्रक्रिया में क्षण-क्षण परिवर्तित समाज-स्थितियाँ, उसकी आकांक्षाएँ, उसके सपने अपने गहरे यथार्थबोध के साथ गाँव रूपायित हुआ है। इन कहानियों के संदर्भ में लेखक स्वयं लिखता है—"बाजार ने इतने बड़े और क्रूर बदलाव किए हैं कि गुजरे हुए कल का यथार्थ आज विस्मय और अविश्वास से भर देता है। यानी बदलाव की क्रमबद्धता खत्म हो गई है। बाजार मूल्य से लेकर जीवनमूल्यों तक ने एकाएक छलांग लगाकर लंबी दूरी तय की है। इन कहानियों को एक ही संग्रह में रखने से इस तरह के समय संदर्भों के संकेत से यथार्थ के बदलाव की यात्रा के साक्ष्य जुटाने में भी मदद मिलेगी। (पहाड़ पर रात, भूमिका)

भूमंडलीकरण, निजीकरण, उदारीकरण के साथ उपभोक्तावादी संस्कृति, मशीनीकरण की धूम मची है। नवपूँजीवाद तथा बहुराष्ट्रीयतावाद ने निम्न मध्यवर्ग और मध्यवर्ग के जीवन में भयानक उलट-फेर कर दिए। यह इसलिए कि नवपूँजीवाद में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के विकास की रीढ़ यही मध्य-वर्ग है। एक बात और भी कही जा सकती है कि इस संग्रह की कहानियों का क्रमबद्ध पाठ विवेचन दरअसल तत्कालीन एवं समकालीन समय एवं समाज का क्रमबद्ध विश्लेषण भी है।

'जल में धूप' संग्रह की कहानियाँ प्रेम संवेदना पर आधारित हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति, भौतिकतावाद के प्रति तीव्र आग्रह में मनुष्य की सहज भावात्मक वृत्तियाँ अनजाने में कहीं लुप्त होती जा रही हैं। यंत्रवत जीवन की आपाधापी, भागदौड़ में वैयक्तिक संबंधों के लिए समय नहीं है हमारे पास। समय की बढ़ती जटिलताओं, महत्त्वाकांक्षाओं तथा कैरियरपरस्ती, एक-दूसरे को पछाड़ आगे बढ़ने की होड़ के युगीन परिवेश में हमारी आदिम वृत्तियाँ दब जाती हैं। मनुष्य मशीन में तब्दील होता जा रहा है। फिर भी समय की तमाम विभीषिकाओं, जटिलताओं और चुनौतियों के बीच भी मानव हृदय के अंतस्तल में अबूझ की प्यास बनी हुई है। इसी क्रम में 'हत्या की पावन इच्छाएँ' समय की कथा कहती है। लेखक ने यहाँ कथा-साहित्य जगत् में फैली आपाधापी की वाचालता पर चिंता जाहिर की है। कहानी विधा की जटिलताएँ बढ़ती

जा रही हैं। ऐसे समय में उसकी कहानी कला की संवेदना तथा संरचना को बरकरार रखने की भरसक प्रचेष्टा में तल्लीन हैं। उनकी कहानियों में न तो किसी किस्म का दबाव है, न ही आवरण। बेहद संतुलित, सहज वैचारिकता की प्रवहमान धारा एकबारगी से बहती हुई प्रतीत होती है। जयप्रकाश लिखते भी हैं—''भालचंद्र जोशी कहानी के यथार्थ को देश-काल के उग्र दबाव को मनुष्य की नियति से जोड़कर अपेक्षाकृत बड़े सवालों के दायरे में संघटित करते हैं। ये सवाल प्रकटतः सामयिक और प्रासंगिक हैं किंतु अवतार रूप में वे वृहत्तर संवेदन भूमि को स्पर्श करते हैं। (भूमिका, पृ. 7)

ज्ञानरंजन की दृष्टि में उनकी कहानियाँ मानवीय धरातल को छूती जीवनोन्मुखी कहानियाँ हैं। ज्ञानजी लिखते हैं—''उनके पाठक वे हैं या हो सकते हैं जो दुनिया की सर्वोत्तम वस्तुओं, स्मृतियों और उपलब्धियों को बचाना चाहते हैं। जिनके पास अभी भी बेचैनी है और जो कहानीकार से तरंग बना सकते हैं। भालचंद्र की कहानियों में बौद्धिक प्रतिकृतियों की जगह आत्मपरक और वैयक्तिक अंतर्दृष्टि है। यह अंतर्दृष्टि सामाजिक लाभ-हानि और उपयोग का अतिक्रमण करती हुई एक व्यापक भाव-संबंधों की दुनिया में प्रवेश करती है। (भूमिका, नींद से बाहर)

भालचंद्र की कहानियाँ मनुष्य की तलाश करती हैं। स्वार्थपरता व अवसरवादी समाज-चरित्रों के बीच 'मनुष्य' की खोज एक जटिल अनुसंधान का विषय बन गया है। संबंध अर्थ की धुरी पर केंद्रित हो रहे हैं। हर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को ठगने की साजिशों में लगा है। समाज एक विरोधाभासी संस्कृति की अँगड़ाई ले रहा है। एक ओर गगनचुंबी अट्टालिकाएँ कतारों में खड़ी हैं तो दूसरी ओर झुग्गी-झोपड़ियों की भरमार है। सदियों से चली आ रही वर्ग-वैषम्य की खाई और भी गहरी हुई है। पूँजीवादी विकास के बढ़ते दौर में जहाँ आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के तहत पूँजी का विस्तार किया जा रहा है वहीं जनसामान्य का वृहत समुदाय आर्थिक विपन्नता से पस्त है। दिनभर की गाढ़ी मेहनत-मशक्कत के बावजूद उनकी जरूरतें खाली ही रह जाने को विवश हैं। कहानी 'डार्करूम' अपनी शीर्षकीय अर्थवत्ता में वर्तमान समाज की विरोधाभासी स्थितियों को सांकेतित करती है। 'डार्करूम' पूँजीवादी विलासिता तथा चकाचौंध के बीच अभाव और दरिद्रता झेलती अंधेरी जिंदगियों की जीती-जागती तस्वीर है...''और ये दो सौ रुपये भी किस-किस को देगा? शर्मा को रोल फिल्म के पैसे देने हैं। गाँव जाना है। उद्योग विभाग की किश्त चुकानी है और सुबह पत्नी ने जरूरी घरेलू समाज की फेहरिस्त सुनाई है। खैर पत्नी को तो डाँटकर चुप किया जा सकता है।'' (नींद से बाहर, पृ. 92)

किंतु विडंबना है कि ये तस्वीरें 'डार्करूम' का सत्य बनकर यथार्थ की निगाहों से अदृश्य रह जाती हैं। कैमरे द्वारा सुनियोजित ढंग से दिखाया गया सच ही समाज

का सच बन जाता है, क्योंकि कैमरा के पास व्यावसायिक आँखें हैं। वह हर घटना को अपने हित में सजा-सँवारकर प्रस्तुत करता है...''और अब एक-दूसरे को देखने के लिए आँखों के बीच एक तीसरी आँख आ जुड़ी है। कैमरे की आँख और यह आँख सिर्फ पैसा बटोरने की गलियाँ तलाश रही है।'' (नींद से बाहर, पृ. 94)

बाजारवादी समय में जीता-जागता इंसान भी मनोरंजन का साधन बना हुआ है। पूँजी और कुर्सी के ताकतवरों को मनबहलाव के खिलौने चाहिए। बड़ी चालाकी से सरकारी व्यवस्था के न्याय के नाम पर ईमानदारी का गला घोंटा जा रहा है। फर्जी कागजों को मोहरा बनाकर सीधे-सच्चे व निरपराध कर्मचारियों का कार्यालयीन स्तर पर शोषण किया जा रहा है जिसकी अनुभूति सामंती दासता के शिकार भूमिहीन किसानों और मजदूरों से कम नहीं। कहानी 'बोरचिंदी तक' में लेखक इस व्यवस्था का प्रतीकार्थ स्पष्ट करते हुए महसूस करता है—''हम किसी अर्थी के साथ चल रहे हैं, दाह-संस्कार के बाद ही इस व्यवस्था से मुक्ति संभव है, हिंसा में भी आनंद है। मनोरंजन के प्रचलित तरीके अब सुख नहीं देते हैं। कुछ नए की चाह में, बदलाव की इच्छा में मैं एक समर्थ और ताकतवर आदमी के मनबहलाव का साधन मात्र हूँ,...उसे कौन जाकर बताए कि उसके आनंद का साधन एक जीता-जागता इंसान है। साँस लेता है। रोटी खाता है। समाज का एक हिस्सा है। बहुत ज्यादा नहीं थोड़ी-सी जरूरी सुख-सुविधाओं के साथ जीना चाहता है।'' (हत्या की पावन इच्छाएँ, पृ. 67-68)

आर्थिक असमानता, शोषण और भ्रष्टाचार से भरे इस समाज में बेरोजगारी और महँगाई सुरसा-सा मुँह बायें खड़ा है। नौकरी की तलाश में भटकते युवावर्ग की ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ निरर्थक साबित हो रही हैं। भाई-भतीजावाद और रिश्वतखोरी की दलाली युवावर्ग में हताशा, आत्महत्या, कुंठा, हीनताबोध व पराजयभाव भरने में सफल हो रही है। जीवन के सहज रागात्मक संबंधों से भी वंचित होने को विवश हैं। 'सबसे जरूरी पहले सिफ़ारिश' ऐसी ही कहानी है जहाँ कथानायकों की बेरोजगारी ने उन्हें जीवन के सहज प्रवाह से काटकर कुंठित कर दिया है...पूरे पचास पद रिक्त थे। लेकिन ज्यादातर आरक्षण की श्रेणी के थे। शेष इक्के-दुक्के फलाँ की चिट्ठियाँ लाए थे। मेरे पास महज स्वाति की दी हुई शुभकामनाएँ थीं। वापस ले आया। (नींद से बाहर, पृ. 84)

कहानीकार उस व्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त करता है जहाँ विज्ञापन संस्कृति की आड़ में बाजार अनेकानेक बेतुके विषयों को विज्ञापित करता है। आजकल अखबारों में नौकरियों के विज्ञापन कम आते हैं जबकि कुसंस्कार, अंधविश्वास, ग्रह-रत्न एवं पोंगा-पंथियों के प्रचारों के जरिये भाग्यवादी आस्थाओं को तेजी से पोषित किया जा रहा है। इन अराजकताओं का सबसे बड़ा घृणित यथार्थ यह है कि सारे कार्य स्त्री-देह की सौदेबाजी पर टिके होते हैं। धर्म के ध्वजाधारियों द्वारा धार्मिक स्थलों पर

बढ़ते व्यभिचार का यथार्थ लेखक इन शब्दों में व्यक्त करता है—''बाबा की सभी बातें तो ठीक हैं लेकिन जिस तरह बाबा अपनी पत्नी और युवा बेटी को करीब बैठा लेते हैं, यह उन्हें नहीं सुहाता। बार-बार बाबा की आँखें उनकी बेटी की देह को टटोलती रहतीं। वे मन मसोसकर रह जाते लेकिन अगले ही पल डर भी जाते हैं। बाबा में चाहे खोट हो, उनके इष्ट में तो दम है, चमत्कार है।'' (पहाड़ों पर रात, पृ. 54)

भालचंद्र की कहानियाँ नए विमर्शों की जमीन तैयार करती मालूम पड़ती हैं। उत्तर आधुनिक परिवेश के विखंडन, अजनबीपन, अलगाववाद, टूटन से टकराती हमारी दिनचर्या, नये वैचारिक बोधों के फलस्वरूप पारिवारिक व सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन के प्रति चिंता प्रकट करती है। कहानी 'अंधी सुबह', 'मिस्टर अविनाश का घर बौना है', 'सिफारिश', 'डार्क रूम' 'नदी के तहखाने में' आदि कहानियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अंतर्विरोध तथा अंतर्द्वंद्व उनकी कहानियों में कसाव भरते हैं। जुड़ने और टूटने के बीच पात्रों की बेचैनी और सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास करती हैं।

'मिस्टर अविनाश का घर बौना है' शीर्षक कहानी में मिस्टर अविनाश एक तटस्थ बुद्धिजीवी की भूमिका में बेहद तार्किक ढंग से अपनी दायबद्धता से मुक्ति पा लेते हैं, किंतु उनके द्वारा दिया जा रहा जस्टीफिकेशन कहीं न कहीं उनकी ग्लानि को भी रेखांकित करता है। पत्नी विभा के आक्रामक सवालों से उत्तेजित मिस्टर अविनाश का कचोट इन शब्दों में व्यक्त होता है—व्हाट कैन आई डू? नो बडी कैन अंडरस्टेंड मी? ...इस कर्ज के लिए मुझे भी चिंता है। लेकिन कितना मिलता है मुझे? महीने में कुछ भी तो नहीं बचा पाते। कार का पेट्रोल, दून में बेटे की पढ़ाई। गाड़ी और फ्रिज का मैंटेन्स, मंथली शापिंग, क्लब...बस खत्म (वही, पृ. 103)

महानगरीय परिवेश में रचे-बसे मि. अविनाश का घर भौतिक संसाधनों से परिपूर्ण हो सकता है लेकिन माँ की ममता समेटने की सामर्थ्य उनके शहरी आँगन में नहीं है... शी टोल्ड मी...अवि का मकान बहुत छोटा है। मैं कैसे रहूँगी? (वही, पृ. 104)

अर्थात् महानगरीय संस्कृति की यंत्रवत दिनचर्या में मानवीय संवेदनाओं के लिए स्थान नहीं है। बढ़ते समय की आपाधापी में संस्कारों की लड़ाई भी महत्त्वपूर्ण है। पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी की वैचारिक टकराहट युगीन सत्य है जो गाँठ बनकर संबंधों से भर देते हैं। रिश्तों के बीच एक अनकही दीवार-सी खींच जाती है जिसे फलांगने का दुस्साहस कोई दिखा नहीं पाता...''घर जाने को मैं बेचैन हूँ। बरसों से इस बेचैन को अकेला पी रहा हूँ।....आहत अतीत है और इन सबके पीछे, बहुत पीछे एक गुस्सैल आदमी खड़ा है जिसे पिछले तीस बरसों से बाप कहता आ रहा हूँ। यह आदमी हर बार मुझे बहुत पीछे धकेल देता है और मैं रात में घर जाने का निर्णय सुबह बदल देता हूँ।'' (वही, पृ. 113-114) दो पीढ़ियों के बीच का अंतराल 'एक भीमकाय दरवाजे' का प्रतिबिंब खड़ा करता है।

उत्तर आधुनिकतावाद की संस्कृति में लेखक को सब कुछ ठहरा हुआ-सा महसूस हो रहा है। हालांकि सॉफ्टवेयर के युग में हम तकनीकी गति से आगे बढ़ रहे हैं, किंतु दूसरा सत्य यह भी है कि भागदौड़ की इस संस्कृति में बहुत कुछ हमारे हाथों से फिसल भी चुका है। हमारी सांस्कृतिक अस्मिता, परम्परागत वैभव, स्मृतियाँ अतीत के तहखाने में कैद हो चुकी हैं। कहानी 'नदी के तहखाने में, जोशीजी इस ठहरे हुए समय के यथार्थ को जादुई यथार्थवाद' की शैली में प्रकट कर अपनी चिंता जाहिर करते हैं—ईश्वर एकाएक चौंक पड़े। वे ध्यानस्थ नहीं थे। जल में घुली चिंता में निमग्न थे।...किसी समय के झाँझ-मंजीरों और घंटियों की तीव्र और लम्बी गूंज अब पानी सोख चुका है। दर्शन करने वाले भक्त ईश्वर को छोड़कर जा चुके हैं और उनकी भक्ति का शोर जल के तल में काई के नीचे दबा पड़ा है। (हत्या की पावन इच्छाएँ, पृ. 35)

अर्थात् धार्मिक विश्वासों की कायापलट हो रही है। ईश्वर, आस्था, धर्म, घर-परिवार, व्यक्ति, संबंध सब कुछ विलुप्त होते जा रहा है। समय और समाज की व्यवस्थाजन्य तहखाने में हमारी संस्कृति कैद होने लगी है।

महानगरीय संस्कृति अलगाववाद वा अकेलेपन की संस्कृति है। व्यक्ति भीड़ में भी अकेला और खाली है। 'मौसम बदलता है' में कथानायक भयभीत है, क्योंकि वह इस बाजारवादी समय में खुद को फिट नहीं पा रहा है। पूँजी के चाकचिक्य में भावपूर्ण स्मृतियों की तलाश निरर्थक है। फिर भी कशमकश ऐसी कि इस पूँजीवादी व्यवस्था से विलग होना भी कठिन है। न चाहते हुए भी कृत्रिमता का बोझ वहन करने की पीड़ा बड़ी त्रासद है।

मनुष्य तथा मनुष्यता की सारी परिभाषाएँ चूक रही हैं। व्यक्ति की पहचान उसके कर्म और आचरण तय नहीं कर रहे, अपितु वर्ग व जाति के आधार पर उसका मूल्यांकन किया जा रहा है, क्योंकि व्यक्ति की मानसिकता को गहरे रूप में प्रभावित करवाया जा रहा है। 'रिहाई' कहानी में भी संकीर्णताओं से मुक्त होने की छटपटाहट है—"पहले लोग घृणा मन में रखते थे। प्रकट नहीं करते थे, लिहाज में चुप रहते थे लेकिन अब तो जिस निर्लज्ज तरीके से अपनी घृणा प्रकट करते हैं वह बहुत पीड़ादायी है। धर्म का नाम जुड़ते ही वे अपराधी हो जाते हैं। देशद्रोही कहलाते हैं।" (वही, पृ. 108)

अर्थात् जातिवादी वैमनस्य अथवा वर्णाश्रम परंपरा से आज भी हमारा समाज मुक्त नहीं हुआ है। जोशी की कहानियों में यत्र-तत्र जातिवादी अकड़ के दृश्य जीवंत हैं। इसी के साथ परंपरा के नाम पर अंधविश्वास और कुरीतियाँ भी चित्रित हुए हैं। 'इसी लोक में', 'मिस्टर अविनाश का घर बौना है', 'एक बार फिर' जैसी कहानियाँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। मृत्यु का पूजन और जीवन की उपेक्षा पर लेखक ने व्यंग्य किया है। कहानी 'इसी लोक में' जीते जी जिस माँ का उपचार सेठजी के लिए व्यर्थ था,

उसकी मृत्यु पर हजारों रुपये खर्च कर उनका परलोक सुधारा जाता है। अंधविश्वास और प्रदर्शनप्रियता पर चोट करते हुए कहानीकार लिखता है—"जीते जी बुढ़िया को किसी ने ठीक से पानी नहीं पिलाया लेकिन मरते ही सेठ ने बड़ी तस्वीर मढ़ाकर बैठक में टांग दी जिसे देखते ही हर कोई वाह कर उठता है और सेठ का सीना गर्व से फूल जाता है।" (पहाड़ों पर रात, पृ. 87) ध्यातव्य है कि पंत की 'ताज' कविता और प्रेमचंद की 'कफन' कहानी भी इन्हीं कुरीतियों और जीवन की उपेक्षा पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं। इसी के साथ भालचंद्र ने वर्णाश्रम धर्म को भी आड़े हाथों लिया है—"क्या पुराणों में लिखा गया सब कुछ सच है? पुराणों में ब्राह्मण जाति के बारे में जैसा लिखा गया है वे खुद तो उतने पराक्रमी, तेजस्वी और सुखी नहीं हैं।" (वही, पृ. 84)

जातिगत सत्ता को व्यक्ति सत्ता से ऊपर मानना किसी भी समाज की अधोगति का प्रमुख कारण है। अतीत के तहखाने में इतिहास दबा पड़ा है जहाँ सामंती शोषण के साक्ष्य मौजूद हैं। विमर्शों के इस दौर में शोषित समाज नई चेतना से प्रभावित हो रहा है। किंतु कभी-कभी यह प्रभाव विकृत प्रतिशोध में बदलकर शोषण की जड़ों को और भी मजबूत कर रहा है। इस संदर्भ में 'चरसा' कहानी का पाठ किया जा सकता है। इसमें किशन और सविता का शारीरिक संबंध किसी प्रेम की परिणति न होकर किशन द्वारा अपनी जाति के अपमान का प्रतिशोध है। वह सविता को जूठाकर ब्राह्मणवाद को कुचल रहा है। पूर्वजों द्वारा किये गये अत्याचारों का हिसाब सविता की देह से लिया जा रहा है, उसे छला जा रहा है। इस छलपूर्वक विजय को वह अपनी जाति की विजय मान रहा है।

'चरसा'—अमानवीय व्यवहारों की पराकाष्ठा है। यहाँ शोषण दोहरे स्तर पर सक्रिय है। पारंपरिक मूल्य की रक्षा का प्रश्न हो अथवा पितृसत्ता का दंभ, स्त्री-देह शोषण का भी माध्यम है और प्रतिकार का भी। स्त्री-अस्मिता का दमन पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था का वैशिष्ट्य है। स्त्री के अधिकारों, उसके सपने, उसकी मनोवांछाओं का गला घोंटकर सामंती दीवारों को मजबूत किया जाता है। कहानी 'ढहती दीवार' में आत्मचेतस नारी की माँग मानवीय अस्मिता है लेकिन जरूरी है कि सबसे पहले उसके मन के अवगुंठनों का खुलना अनिवार्य है..."सच ही, पीछे की दीवार अकेली नहीं गिरी है। उसके भीतर की संकोच और भय की दीवार टूटी है। टूटना चाहिये था या नहीं, वह खुद भी नहीं जानती है, लेकिन कितनी बरसात और सहन करती?" (पहाड़ों पर रात, पृ. 149) राजेंद्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' की याद यह कहानी दिलाती है। यहाँ कथानायिका की दृढ़ चेतना ही सांमती दीवारों के ढहाने का साहस दिखा रही है।

कथा दृष्टि में प्रकृति और पर्यावरण—भालचंद्र की कहानियाँ संभावनाओं के वृहद आयाम प्रस्तुत करती हैं। नैराश्य, आतंकवाद, कुंठा, वन-क्षरण, मूल्यों के ह्रासजन्य वातावरण में भी लेखक पुनर्निर्माण करने का हौसला रखता है। वे भावी पीढ़ी के लिए विकासशील परम्परा को सुरक्षित रखना चाहते हैं। उन्हें विश्वास है कि आपदा व संकट के भयानक काल में भी मानवीय राग जीवित रहेगा, सुरक्षित रहेगा—''पर वह जानता है। जमीन डूब जाए। जंगल डूब जाए। धरती नष्ट हो जाए। पर इस जगह पर जल की असीम गहराई में, धरती के गर्भ में गुजरे पल नष्ट नहीं होंगे। कुछ देर पहले का उनका वह प्रेम अपने उसी आवेग के साथ बना रहेगा।'' (हत्या की पावन इच्छाएँ, पृ. 32)

यह धरती प्रेम की धरती है। प्रेम की फसलों का लहलहाना ही धरती का सौंदर्य है। कहानीकार मिट्टी से खेलना चाहता है। मिट्टी के संस्पर्श में उसके रागात्मक भाव जी उठते हैं। 'नदी के तहखाने' कहानी में लेखक प्रकृति के साथ रागात्मकता की अनिवार्य संपृक्ति को महसूसते हैं। प्रकृति और मनुष्य आदिम सहचर हैं। अतः उन्मुक्त प्रकृति के साहचर्य में स्त्री-पुरुष के प्रेम का उन्माद धरती का राग बन जाता है।

लेखक का प्रकृति के साथ यह नैकट्य, आत्मीयता निश्चय ही प्राकृतिक विमर्शों को एक सकारात्मक दिशा देगी। मशीनी संस्कृति फल-फूल रही है। रियल-इस्टेट का बढ़ता व्यापार निरंतर वनों की कटाई कर रहा है। पेड़ों का कटना हमारी संस्कृति, स्मृतियों और परंपरा से कटना है। उजाड़ प्रकृति में व्यक्ति के मनोभाव भी सूख गये हैं। उसके संवेग व संवेदनाएँ तिक्त हो रही हैं। अतः लेखक की अंतश्चेतना में प्रकृतिमय धरती की छवि देखने की लालसा बलवती है, क्योंकि दिनोंदिन प्राकृतिक आपदा से संत्रस्त पृथ्वी का जनजीवन विनाश के कगार पर खड़ा है। कहानीकार की दूरदर्शी चेतना देखी जा सकती है—''एक घर डूब गया। एक पूरा शहर डूब गया। सौ इच्छा में बसा शहर एकाएक डूब गया। कितना सारा समय अनबीता, बिना खर्च किए रह गया।'' (हत्या की पावन इच्छाएँ, पृ. 30)

यह बाजारों का समय है—बाजार वर्तमान समय व समाज का सबसे बड़ा यथार्थ बन गया है। इसी के साथ भूखे, दरिद्र किसान-मजदूरों की समस्याएँ भी बढ़ी हैं। सरकारी कर्ज, मुआवजे तथा ग्रामीण विकास योजनाओं के नाम पर शोषण चक्र मजबूत हुए हैं। भ्रष्टाचार का शंखनाद जोरों पर है। बाजार व कॉर्पोरेट शक्तियों के कब्जे में गाँव आने लगा है। अमेरिका अपनी शर्तों पर भारत में बाजार को प्रमोट कर रहा है। समस्त सरकारी तंत्र बाजार के विस्तार में एकजुट है। महँगाई को इंजायमेंट से जोड़ने का फंडा काम कर रहा है—''महँगाई से डरे नहीं, महँगाई को एंजाय करें। मौज करें। आपके पूर्वज पैसा जमीन में गाड़कर रखते थे। सोचते थे, पैसा सुरक्षित रहेगा लेकिन

पैसा बढ़ता नहीं था। उस पैसे को बाहर निकालो, बाजार में डालो। पैसा, पैसे को बनाता है।'' (हत्या की पावन इच्छाएँ, पृ. 42) भूमंडलीकरण, निजीकरण और बाजारवाद ने उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ावा दिया है। पूरी ग्लोबल दुनिया सिमटकर अमेरिका के हाथों का खिलौना बन गयी है। लेखक फैंटेसी शिल्प में बुल और मोदी की राजनीतिक एकात्मता की यथार्थ छवि का रहस्य खोलता है—''घबराओ मत, धैर्य रखो। संकट का सामना हम सबको मिलकर करना है। हम ब्याज दरें कम कर रहे हैं। उद्योगपतियों से कहा है कि वे कीमतें न बढ़ाएँ।'' (हत्या की पावन इच्छाएँ, पृ. 57) बुल यानी सांड को सर्वेश्वर ने भेड़िये की शक्ल में पहचाना है तो उदय प्रकाश ने तिरिछ के रूप में और भालचंद्र ने उसे बाजार की उद्दंडता और मनमानेपन के प्रतीकार्थ के रूप में।

विश्वबाजारवाद की अवस्थिति में अमेरिका 'सुप्रीम पावर' बना हुआ है। 'सट्टा बाजार' हो या 'ब्यूटी काम्प्लेक्स, तकनीकी कृषि-व्यवस्था हो या मारक अस्त्र-शस्त्र की बिक्री, बहुराष्ट्रीय कंपनियों की लूट हो या मीडिया का स्वैराचार, सर्वत्र अमेरिकावाद जारी है। कहानीकार के शब्दों में—''मैंने देखा, सांड के भागने से उस रास्ते पर उसके पैरों के निशान दूर तक नजर आ रहे हैं। सहसा, बुश नीचे झुका और उन पैरों के निशान मिलाकर एक ग्राफ बनाने लगा। कुछ देर असमंजस में खड़े होकर ग्राफ को देखता रहा। समझ में नहीं आ रहा था कि ग्राफ ऊपर जा रहा है कि नीचे।'' (वही, पृ. 57-58) पूरा समाज बाजार के बहकावे में है। रातोंरात करोड़पति बनने की महत्त्वाकांक्षाएँ सेंसेक्स के नीचे उतरते ही आत्महत्याओं में बदलने लगती हैं। कहानी 'पल पल परलय' में रस्तोगीजी का बेटा इसलिए आत्महत्या कर रहा है, क्योंकि शेयर मार्केट के गिरते ही वह कर्ज में डूब जाता है। अर्थात् कॉरपोरेट शक्तियाँ मनुष्य को किस हद तक गिरा सकती हैं, उसकी ओर कहानीकार ने इशारा किया है।

भूमंडलीकरण के दौर में पूँजी और बाजार का वर्चस्व है। बाजार हमें विज्ञापन कौशल ही नहीं समझाता, तिकड़में भी सीखा देता है। आकर्षक पैकिंग में घटिया वस्तु भरने का शिल्प भी सिखाता है। सामाजिक दायित्वबोध से उदासीन बनाकर बाजार वैयक्तिक लाभ-हानि के गणित में पटु बनाता है। आज का समय बाजार का समय है। कला, साहित्य, जनजीवन को बाजार अपनी मर्जी के अनुसार प्रभावित किये जा रहा है। बाजार के लिए सब कुछ प्रॉडक्ट है जिसे खरीदा-बेचा जा सकता है। मनुष्य के गुण, मूल्य, उसकी संवेदनाएँ और उसका प्रेम भी 'वस्तु' से कुछ अधिक नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था में समय सबसे बड़ा बलवान नहीं रह गया है। समय को भी अपनी मुट्ठी में भर लेने का दंभ जारी है। इस भावबोध के आधार पर 'किला समय' लिखी गई है। किला प्राचीन ऐतिह्य और स्मृतियों का भी प्रतीक है जिसे समय समाप्त करने

के लिए तुला हुआ है—''इस किले ने कितनी लड़ाइयाँ फतह की होंगी, लेकिन आज समय से, बल्कि विकास की ओट में पल रही संपन्नता की चाह से परास्त हो गया। किला अपनी समस्त भव्यता के बावजूद आदमी की अदना-सी इच्छा के आगे बौना हो गया।'' (पृ. 70)

नदी के किनारे दीवार के ऊपर जहाँ कभी क्रांतिकारियों को लटकाया जाता था, वहाँ शीतल पेय का एक बाडा होर्डिंग लटक रहा है। राष्ट्रीय विरासत पर बहुराष्ट्रीय कंपनी का झंडा फहरा रहा है।

इस कहानी की 'लड़की' के माध्यम से लेखक ने भोगवादी संस्कृति और अमेरिकी वर्चस्व की ओर उन्मुख युवा-पीढ़ी पर चिंता व्यक्त की है। मर्सिडीज-वेंज, लेवल प्लेइंग ग्राउंड, न्यूयॉर्क का स्टॉक एक्सचेंज, अमेरिकी सभ्यता का तेज गति से अंधानुकरण, देहवाद को बढ़ावा देना आदि के इस समय में सब कुछ खत्म हो जाएगा जिसे हम बहुमूल्य समझते आ रहे हैं। संकट सबसे अधिक मंडरा रहा है मानव जाति पर, मनुष्यता पर। न्यूयॉर्क के 'ब्लू नाइल' स्ट्रीट की डायमंड शाप की चमक से हमारी आँखें चौंधिया जा रही हैं। लेखक की वाजिब चिंता है कि क्या हम विकास के नाम पर इंसानियत को भुला दें? विकास किसके लिए हो? मनुष्य के लिए या रोबोटों के लिए? खुशी की बात है कि 'लड़के' में संवेदनाएँ जीवित हैं। यह भाव हमें आश्वस्त करता है कि हम बाजारवादी, उपभोक्तावादी समय में अपने वजूद को जीवित रख सकते हैं। मनुष्यता को लील लेने के लिए आतुर विनाशकारी शक्तियों को अपने-अपने ढंग से लड़ सकते हैं।

स्पष्ट है कि बाजारवादी समय में शिक्षा और टेलेंट का महत्त्व नहीं। युवा पीढ़ी के तरुण सपने और महत्त्वाकांक्षाएँ किसी दलाल स्ट्रीट में कहीं खो जाते हैं।

चक्रव्यूह में घिरे हैं होरी आज भी—कॉरपोरेट शक्तियाँ, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, राजनीतिक सत्ता कृषि-सभ्यता को पूरी तरह नष्ट करना चाहती हैं। भालचंद्र इनकी रणनीतियों को भली-भाँति जानते हैं। 'पल पल परलय', 'कहीं भी अंधेरा', 'इसी लोक में', 'जमलासो', 'डार्करूम' आदि कई कहानियाँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। आज 'गोदान' के जमींदारों का नेटवर्क अंतरराष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त हो गया है। जरूरतमंद किसान-मजदूरों को विकास का झुनझुना पकड़ाकर बरगलाया जा रहा है। ऐसा रचा जा रहा है कि किसान अपनी जड़-जमीन से विलग हो जाए और मजदूर बनने के लिए बाध्य हो जाए।

उन्नत खेती के नाम पर किसानों को तथाकथित उन्नत बीज, उन्नत खाद और उन्नत फसल के वास्ते कर्ज दिया जाता है। कर्ज चुका न पाने की स्थिति में किसान आत्महत्या करने को विवश हो जाता है, क्योंकि उसे अपराधबोध से ग्रसित होना पड़ता है (काश यह अपराधबोध बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मालिकों को होता)। 'हत्या की पावन

इच्छाएँ' के अलावा 'पल पल परलय' में कृष्ण और अर्जुन का अभिनय करने वाला शंकर और रामरतन इस व्यवस्था की मार से हताहत है। बैंक अपने कर्ज की वसूली के लिए गुण्डागर्दी पर उतर आता है। सरकारी आदेश निरीह किसानों के लिए प्रलय बनकर आता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के रूप में औपनिवेशिक शक्तियाँ दबे पाँव पुनः अपना प्रभुत्व कायम करने लगी हैं जिनसे जूझने का साहस किसी योद्धा में नहीं है— ''दोनों ऐसे शत्रु से मारे गए जिसे वे देख नहीं सकते थे, पहचान नहीं सकते थे। किसान सपनों में जीता है। वह सपने बोता है। उगते फसलों के साथ उनके सपने लहलहाते हैं। लेकिन साहूकार और महाजनों के बाजार में उसके सपने दम तोड़ देते हैं। ऊपर से राजनीतिज्ञों के छद्म वायदे उन निरीह सपनों को लेकर गंदा खेल खेलते हैं...मेरे पिता भी इसी तरह का सपना देखते रहे थे। एक दिन बैंक के कर्जे की वसूली में ही खेत चला गया। उस कर्जे के लिए जो खेत के लिए मिला था। शायद बैंक ने भी खेत का सपना देखा होगा।'' (चरसा, पृ. 74) वस्तुतः सपनों की अँगड़ाई लेती इस समाज व्यवस्था में सपने सच जान पड़ते हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति ने उपभोग की मानसिकता को प्रश्रय दिया है। इस बाजारवादी समय की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि यह हमें अपनी जड़ों से उखाड़ फेंकना चाहती है। किसानों की वस्तुस्थिति से भालचंद्र की कहानियाँ रू-ब-रू कराती हैं। इनका रचना संसार किसानों के अंदरूनी जीवन से अपरिचित नहीं है।

जल, जंगल और जमीन की लड़ाई और आदिवासियों का संसार—इस रचनाकार ने आदिवासी जीवन-पद्धति तथा कला का विशेष अध्ययन किया है। निमाड क्षेत्र की लोक-कथाओं पर यह रचनाकार दशकों से कार्यरत है। आदिवासी और जनजातियों की जीवनशैली का प्रत्यक्ष अनुभव भी है। अपने इन अनुभवों को वह कथा-सूत्र में पिरोता है। उसकी कथा पठनीय ही नहीं विश्वसनीय भी है। यहाँ कथाकार की रचना यात्रा महज कल्पना नहीं, अनुभव पर आधारित भी है।

भालचंद्र जोशी आदिवासी जन-जीवन का सौंदर्यशास्त्र प्रस्तुत करते हैं। आदिवासियों की बदहाली, उनका शोषण, उनके दुर्भाग्यपूर्ण निर्यातन को प्रकाश में लाकर उनके प्रति मानवीय संवेदना को उज्जीवित करना लेखक का अभीष्ट है। बड़े ही सांकेतिक लहजे में उन्होंने दलित-जीवन की त्रासदीमय यथार्थ को सामंती परंपरा को जोड़ते हुए प्रशासनिक व्यवस्थाओं पर भी प्रश्नचिह्न लगाते हैं—''ये आदिवासी अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं हैं, बल्कि अपनी स्थिति के लिए जिम्मेदार को पहचान नहीं पा रहे हैं। इसे वे अपने भाग्य पर छोड़ देते हैं और भाग्य साहूकार की भाँति इनकी जिंदगी में आता है। छोटे-छोटे सुख ब्याज की कीमत पर छीन लेता है और बड़े सुख का सिर्फ लालच देता है। इतनी सारी वसूली सिर्फ आदिवासी होने के कर्ज के नाम पर।'' (नींद से बाहर, पृ. 109)

समाज की मूलधारा से जनजातियाँ भाग्यवादी आस्थाओं का शिकार हैं। उनके भोलेपन, सहजता के प्रति लेखकीय संवेदना पाठकों की सहानुभूति भी बटोर लेती है। बाजार की रणनीतियों के अनुसार तमाम विकास अभियान चलाये जाते हैं। लेकिन यहाँ भी दलित दमन और शोषण चलता है। व्यवस्था की मजबूत दीवार से टकरा कर दलितों के सारे उपाय चकनाचूर हो जाते हैं—''ये कहाँ गुहार लगायें? सभी तो इन्हें विपत्ति समझ कर परे हो जाते हैं। व्यवस्था ने अपने विशाल दरवाजे पर ढेरों नींबू लटका रखे हैं। जो न काले पड़ते हैं, और न सूखते हैं।'' (वही, पृ. 105)

सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि इन दलितों के जीवन का पिछड़ापन दूर करने का दायित्व कोई भी कर्णधार अपने कंधों पर लेने को तैयार नहीं। उनके सुख-दुख और अनुभूतियों से किसी का कोई सरोकार नहीं है। मूलधारा से कटे हुए इन लोगों को जानवर से भी गया-गुजरा समझा जाता रहा है।

यह है खेल राजनीति का—राजनीति से नीति गायब हो चुकी है। इसे भालचंद्र का कथाकार जानता है। यह भी जानता है कि लोकतंत्र, संविधान, कानून, प्रशासन आदि का मखौल उड़ाया जा रहा है। सत्तासीनों की स्वार्थी नीतियाँ जनहित का दिखावा कर रही हैं। इस कहानीकार की राजनीतिक चेतना का स्पष्ट परिचय हमें 'राजा उदास है', राजा गया दिल्ली, कवर विज्जू, आदि कई कहानियों से मिलता है। इन कहानियों से गुजरकर स्पष्ट पता चलता है कि कहानीकार की राजनीतिक दृष्टि से समकालीन राजनीतिक परिदृश्य ओझल नहीं हुआ है। व्यंग्य की तीखी चुभन इनके कथा-शिल्प की एक बड़ी विशेषता है।

राजसत्ता की शोषकीय मानसिकता जनतांत्रिक शक्तियों को दमित रखना चाहती है। जनसमुदाय की जागृति, दलित चेतना एवं जनता की एकजुट शक्ति सत्ताधारियों के लिए खतरे पैदा करती है। जनतंत्र की समवेत शक्ति से भयभीत राष्ट्रनायक जनता के सवालों से बचना चाहते हैं, क्योंकि उनके सवाल इतिहास और संस्कृति के आवरण में किये गये अन्याय और शोषण का हिसाब माँगने लगी है। 'राजा उदास है' कहानी में राजा इसीलिए उदास है कि सारी चीजें व्यवस्थित होती जा रही हैं, उन्हें अंगद, नल, नील, सुग्रीव आदि की उपस्थिति असुरक्षा का भय दे रही है।

राजसत्ता द्वारा शोषण की परम्परा को सामंती समाज तथा पुराणों से जोड़ते हुए कहानीकार लिखता है—''जंगल में जनतंत्र का, एक राजा के पत्नीहरण के प्रतिशोध के लिए व्यक्तिगत उपयोग की चालाकी वानर भाँप नहीं पाये थे।'' (नींद से बाहर, पृ. 117) कहानीकार का आक्रोश मिथकीय श्रीराम के प्रति भी उतना ही है जितना कि वर्तमान के सत्तासीनों के प्रति। सत्ता में केवल सत्तासीन नहीं, पूरी व्यवस्था शामिल है। रचनाकार लिखता भी है—''वे ईमानी के दायित्व का बोझ अलग-अलग कंधों

पर हो जाने से शातिर मन आश्वस्त हो जाता है।'' (वही, पृ. 122) आज के जनतंत्र में प्रजा ही अपने लिए और राज तथा नेता के लिए चिंतित रहे—''वंदनीय राजा होने के कारण आपको चिन्तित नहीं होना चाहिए और जैसा कि परंपरा रही है कि राजा के कारण प्रजा चिंतित रहे।'' (वही)

राजनीति का अपराधीकरण और अपराध का राजनीतिकरण सर्वत्र व्याप्त है। चुनाव के दौरान अपना वोट बैंक बढ़ाने की राजनीति हो अथवा सत्ता हासिल होने के बाद पूँजी का दलाल बन जाने की बात हो इसे 'राजा गया दिल्ली' में देखा जा सकता है। सत्ता और पूँजी की साँठ-गाँठ से भी कहानीकार अपरिचित नहीं है। चुनाव में जीत हासिल होते ही मंत्री बनने की सुखद कल्पना देखी जा सकती है—''सचमुच! कितना बदलाव आयेगा? बेटी कार से कालिज जायेगी। मंत्रीजी की बेटी! मंत्रीजी की पत्नी! मंत्रीजी की कार! मंत्रीजी का बंगला। और मंत्रीजी...वे खुद।'' (पहाड़ों पर रात, पृ. 54) ग्रामीण जनजीवन को विकास के नाम पर राजनीति की गंदगियों से गुजरना तथा पीड़ित होना पड़ता है। इस संदर्भ में 'कवर विरजू' कहानी का पाठ किया जा सकता है। व्यवस्था की असली सच्चाइयों को प्रस्तुत करने में भालचंद्र पीछे नहीं रहते हैं—''क्या सारे चोट्टे एक जैसा बोलते हैं? हमारे गाँव का सेठ और तुम एक ही स्कूल में पढ़कर आए हो क्या, लूट की स्कूल में?'' (हत्या की पावन इच्छाएँ, पृ. 43)

हवा में गंध है बारूद की—सांप्रदायिक विभीषिका वर्तमान समाज की क्रूरतम सच्चाई है। इतिहास साक्षी है कि सत्ता के उन्माद और सत्ता के संघर्ष के कारण ही समाज में हत्या, नृशंसता, दंगा, व्यभिचार का साम्राज्य फैला है। धार्मिक वैमनस्य के बीजारोपण तथा विस्तारीकरण को धर्मगुरुओं ने सर्वाधिक प्रोत्साहित किया है। धर्म के नाम पर व्यक्ति, व्यक्ति को गाजर-मूली की तरह काट रहा है। धर्म के ध्वजाधारियों ने धर्म की सुरक्षा का दायित्व तलवारों को सौंप दिया है जिसका धर्म ही हत्या करना है। इसी से पवित्र कर्म का संपादन हो जाता है। 'हत्या की पावन इच्छाएँ' की हो अथवा 'चरसा' की, कई कहानियों में यह चिंता जाहिर हुई है। हत्या अब पावन इच्छाओं में तब्दील हो रही है। भीषण नरसंहार से मृत्यु उत्सव मनाया जा रहा है। सांप्रदायिकता की चमकती तलवार के बारे में लेखक का कहना है—''तलवार न तो हिंदू होती है और न मुसलमान। वह चमककर चलती है तो यह नहीं देखती है कि गला हिंदू है या मुसलमान। अपराधी तो है वह हाथ जो इसके हाथ में तलवार देता है और उसके हाथ में भाला। स्वार्थ या अपराध की कोई जाति नहीं होती है।'' (चरसा, पृ. 98)

धर्म का भी राजनीतिकरण हो रहा है। धर्म की विभाजक रेखाएँ सांप्रदायिक विद्वेष फैलाकर राजसत्ता को संरक्षित करने का दायित्व पालन कर रही हैं। सत्ता हासिल करने का प्रबल माध्यम धर्म है—''आदरणीय, तब तक तो हम कई पूजागृह बनवा देंगे। कार्य

अभी से जारी है। उनकी संतानें संशय में होंगी तब तक तो राजन, आप ईश्वर हो चुके होंगे। अवतार साबित किये जा चुके होंगे। और सबसे बड़ी बात तो यह है आप इतिहास के सब होंगे। आपके कई रूप होंगे। आप दक्षिण भारतीय होंगे। आप महाराष्ट्रीयन होंगे। आप मुस्लिम होंगे। सिख होंगे। ईसाई होंगे। राजन, सच सांप्रदायिक हो चुका होगा।'' (नींद से बाहर, पृ. 109)

कला के आईने में—भालचंद्र की कलात्मक क्षमता है कि वे परिवेश को शब्दों में निर्मित करते हैं। वातावरण के अनुकूल पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ व्यक्ति के सहज उच्छलन को अभिव्यक्त करती हैं। बिंब और व्यंग्य के माध्यम से परिस्थितियाँ साकार हो उठती हैं और संप्रेषणीयता आत्मीयतापूर्ण। युगीन यथार्थ को कथा के सूत्रों में मूर्त भी करते हैं। मुहावरेदार शैली के कारण कथानक विवरणों से बोझिल नहीं है। बीच-बीच में सूत्र वाक्यों का प्रयोग आकर्षक हो उठा है। 'पालवा' में मनोविज्ञान के तथ्यों और सत्य का खूब प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं हिंग्लिश का प्रयोग मिलता है। इस प्रयोग से यथार्थ अंकन ही नहीं, परिवेश का साक्षात्कार भी कराने का प्रयास हुआ है। कई कहानियों में कलात्मकता की ओर अधिक झुकाव दिखाई पड़ता है। इससे कथ्य बाधित हुआ है। समग्र रूप से विचार करने से यह कहा जा सकता है कि भालचंद्र जोशी हमारे समय के महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं। उनकी दृष्टि प्रगतिशील है। अन्याय, अत्याचार, दमन तथा शोषण का उनके कथा संसार में तीव्र विरोध है। उनकी कथा दृष्टि में समकालीन समय और समाज के अंतर्विरोध, विसंगतियाँ, विद्रूपताएँ शिद्दत के साथ अंकित हुए हैं। उन्होंने मालवा तथा मध्यप्रदेश के अन्य अंचलों को अपने कथा संसार में प्रस्तुत करते हुए वैश्विक परिदृश्य को भी नज़रअंदाज नहीं किया है। वैश्विक घटनाओं तथा परिघटनाओं को कथा सूत्र में पिरोने में भी उन्हें सफलता हासिल हुई है। जोशी की सामाजिक पक्षधरता आवेश में आकर कहानी को बहुत अधिक आहत नहीं करती वरन उनकी कहानियाँ मानवीय संवेगों से स्पंदित होती हैं। कहानियों का रचाव अपना शिल्प खुद ही गढ़ लेना चाहता है। 'नींद से बाहर' से लेकर 'हत्या की पावन इच्छाएँ' तक की भूमिकाओं में लेखक की कहानियों के बहाने समस्त समाज में कहानी-कला का स्थान निर्धारित किया गया है। कहानियाँ केवल कहानियाँ नहीं हैं, कथ्य-संरचना में सम्पूर्ण तथा रचनाकार की दृष्टि का भी परिचायक हैं। यहाँ कहीं भी लेखक ने स्वयं को आरोपित नहीं किया है। कहानियों के माध्यम से पाठक इस समाज-स्थितियों के बीच अपनी उपस्थिति खोजने के प्रयास में सक्रिय होता है। यह अत्यंत दुख की बात है कि इस रचनाकार के कथा-संसार का आज तक मूल्यांकन नहीं हुआ है। उम्मीद है इस आलेख से कथालोचकों का ध्यान आकृष्ट होगा।

• ● •

बाजार और साहित्य : एक आलोचकीय कथोपकथन

हाल के दो दशकों में पूरी दुनिया में उथल-पुथल मची और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। भारत भी इस उथल-पुथल से प्रभावित रहा। इस दौरान कुछ आकर्षक, लुभावने, मनमोहक शब्दों का खूब प्रयोग हुआ। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, मुक्त व्यापार, विश्व व्यापार संगठन, विश्वग्राम आदि सुंदर शब्दों की ओर लोगों का ध्यानाकर्षण हुआ। इनके बहाने लोगों को खूब भरमाया गया, दिग्भ्रमित किया गया। झूठे दावे पेश किए गए। जब तक लोग इनकी असलियत का पता करने में सक्षम होते, तब तक इनका माया-जाल फैल चुका था। 'भूमंडलीकरण' को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना की पुनर्प्रस्तुति कहकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपना-अपना स्वार्थ हासिल कर लिया। बताया गया कि पूरी दुनिया में लोगों का खान-पान एक जैसा होगा, पहनावा-ओढ़ावा भी एक-सा होगा। बोली-बानी में भी कोई अंतर नहीं होगा। प्राचीन काल में 'वसुधैव कुटुंबकम्' की संकल्पना को भूमंडलीकरण ही सामने उज्जीवित कर सकता है ऐसा भी कहा गया। लेकिन, वास्तव में कुछ भी फलीभूत नहीं हुआ। जो कुछ भी हुआ, उससे पूँजी फली, फूली। कंपनियों का 'टर्न ओवर' बढ़ता गया और तीसरी दुनिया के लोग पहले की तुलना में अधिक गरीब होते गए। 'भूमंडलीकरण' ने 'भूमंडीकरण' का रूप ले लिया। इसके दो लम्बे हाथ हैं—पूँजी और बाजार। इनका अभिन्न संबंध हैं। ये दोनों एक-दूसरे के संवर्द्धक और पोषक हैं। कोई चाहे तो बाजार के उपकरण के तौर पर भूमंडलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण को प्रस्तुत कर सकता है। दरअसल ये सभी परस्पर संबंधित ही नहीं, संबद्ध हैं, आबद्ध और प्रतिबद्ध भी।

आज पूरा विश्व बाजार में तब्दील हो चुका है। बाजार ही विश्व बना हुआ है। बाजार है व्यापार का केंद्र। यह व्यापार की नींव है। यहाँ लगते हैं भाँति-भाँति के मेले। सजती हैं तमाम चमकदार दुकानें। इस बाजार में अनवरत तमाशा चलता रहता है—

दी का। लेकिन सवाल यह है कि बाजार कब न था? सभ्यता के विकास के साथ-साथ बाजार का प्रचलन हुआ। वह स्थान जहाँ तरह-तरह की चीजों की दुकानें हुआ करती थीं, उसे बाजार कहा गया। लेकिन इसके पहले भी हमारे यहाँ हाट लगती थी। ध्यातव्य है कि हाट-बाजार में केवल चीजों की खरीद-फरोख्त नहीं होती थी। ये स्थल सूचना-केंद्र के रूप में भी अपनी भूमिका निभाते थे। 'मित्र-मिलन' के भी केंद्र थे। यहाँ भावों का आदान-प्रदान होता था। मानव-बंधन को बढ़ावा मिलता था। सप्ताहांत में लगने वाली हाटों में संपर्क धीरे-धीरे संबंध में तब्दील हो जाया करता था। आज के उपभोक्तावादी समय में संबंधों के सूत्र संपर्क तक नहीं रह गए हैं। बाजार तब भी थे और आज भी हैं। लेकिन तब के और अब के बाजार में कितना अंतर आ गया है। क्या से क्या हो गया है? कबीर ने कहा था—"कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ", "प्रेम न खेती उपजै, प्रेम न हाटि बिकाई" तो सूर ने व्यापार का खूब प्रयोग किया है—"आयो घोष बड़ो ब्योपारी", "यह ब्योपार तिहारो ऊधो! ऐसोई फिर जैहे।" सूर की गोपियों ने फालतू सामान के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई थी, खरीदने से इनकार कर दिया था। यह इसलिए कि वे अपनी बुद्धि से परिचालित थीं। उनका अपना विवेक बचा हुआ था। आज का बाजार-तंत्र सबसे पहले व्यक्ति की बुद्धि व सोचने-विचारने की शक्ति को पंगु करने में लगा हुआ है। ऐसा माया-जाल फैलाया जा रहा है कि मनुष्य कोई सवाल न करे। उसके लिए, उसकी भलाई के लिए, उसके विकास के लिए सोचने-विचारने का जिम्मा बाजार ने उठा लिया है। इसलिए बाजार का कहना मनुष्य मान ले। आँख मूँदकर उसका विश्वास कर ले। वह तर्क न करे। बाजार की सुने, क्योंकि—"विश्वासे मिलई हरि तर्के बहु दूर" अर्थात् विश्वास के आधार पर भगवान की प्राप्ति होती है, तर्क करो तो भगवान बहुत दूर चले जाते हैं। अतः जिस बाजार ने आपके खान-पान, आचार-विचार, पहनावा-ओढ़ावा, चाल-चलन आदि के बारे में हिदायतें दी हैं, उन्हें आँख मूँदकर मान लेने का निर्देश रहता है। आज जिस बाजार की चर्चा होती है, उसका स्वरूप भारतेंदु के यहाँ दिखाई पड़ता है। 'अंधेर नगरी' (1881) के बाजार वाले दृश्य में भारतेंदु ने लिखा है—"टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जाएँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो, वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें।" यहाँ 'टका' यानी पूँजी प्रबल शक्तिशाली बन चुकी थी। औपनिवेशिक भारत के इस बाजार में अंग्रेज राज्य का प्रतिबिंब है। कबाब वाला, चने जोर गरम वाला, नारंगी वाला, हलवाई, कुँजड़िन, मेवे वाला, चूरन वाला आदि इस पूँजी के गुलाम हैं। हबीब तनवीर के 'आगरा बाजार' में ककड़ी वाला, तरबूज वाला, लड्डू वाला, बरतन वाला, पनवाड़ी आदि आते हैं। दरअसल ये बाजार मात्र नहीं, औपनिवेशिक भारत में अंग्रेज राज के लूट-खसोट का उदाहरण हैं। साहित्य में

बाजार की मौजूदगी का सीधा मतलब यह है कि अपने समय के प्रति रचनाकार सचेतनशील है।

आज के दौर में बाजार ने अपनी स्थानीयता खोकर वैश्विक रूप पा लिया है। विश्व बाजार की वस्तुएँ सर्वत्र पहुँच रही हैं। बिजली, सड़क, शिक्षा आदि से वंचित गाँवों में भी 'ग्लोबल मार्केट' की वस्तु बेची जा रही है, पूरी दुनिया को बाजार में तब्दील करने की संकल्पना बाजारवाद कहलाती है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था में केवल एक ही मूल्य होता है, वस्तु का मूल्य। वस्तु की कीमत सर्वोपरि हो जाती है। यह अलग बात है कि बाजारवाद ने मनुष्य को, मानवीय संवेदनाओं तक को वस्तु के साँचे में ढाल लिया है। अक्सर यह देखा जाता है मनुष्य भी वस्तु के सामने ठिंगना व बौना हो जाता है। बाजार के लिए सब कुछ प्रोडक्ट है। चाहे मनुष्य हो या उसकी भाषा, संस्कृति हो या मानवीय संबंध, सभी प्रोडक्ट हैं। इनकी महत्ता आँकी जाती है बाजार को मिलने वाले मुनाफे के आधार पर। वस्तु मुख्य हो जाती है और मनुष्य गौण। बाजारवाद में जिस मूल्य को आगे बढ़ाया जाता है, वह है गुड्स की वेल्यू। मानव मूल्य से उसका कोई रिश्ता नहीं है। हम इस बाजार के सामने अपने घुटने टेक देते हैं। संचालन का सूत्र थमा देते हैं। नियंत्रण की डोर उसे पकड़ा देते हैं। उससे दो-चार कहाँ हो पाते हैं? यह अत्यंत चिंता का विषय है बाजार तो चाहेगा कि विचार ही न हों, उसका अंत हो जाए। परंतु इससे व्यथित होते हैं रचनाकार। बाजार और उपभोक्तावाद के दौर में हिंदी साहित्य के सृष्टा मुख्यतया समकालीन कवि एवं कथाकार क्या सोच रहे हैं, खास करके बाजार की सख्त गिरफ्त के बारे में तथा 'यूज एंड थ्रो' वाली मानसिकता के विषय में, इस पर चर्चा अपेक्षित है।

समकालीन कविता अन्याय और अत्याचार, विडंबनाओं के विरोध में खड़ी होकर ललकारने वाली कविता है। आम आदमी की पक्षधर है समकालीन कविता। यह उपेक्षितों और शोषितों के साथ खड़ी है। बाजार की चाल हो या पूँजी का शोषण, सत्ता की क्रूरता हो या धर्म के नाम पर फैलाई जा रही सांप्रदायिकता, रचनाकारों ने इनका विरोध किया ही है, पाठकों को भी सचेत किया है। बाजार आज की दुनिया का यथार्थ है। यह सच है कि उससे आँखें नहीं बचा सकते। कभी दुनिया में बाजार हुआ करते थे। अब बाजार में दुनिया है। बाजार जो कभी खुली जगहों के लिए भी प्रयुक्त होता था आज बन्द मॉलों में आ गया है। यहाँ न धूप है, न धूल। यहाँ सेंट्रल ए.सी. चालू है। विदेशी सामान या देशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की सामग्री भरपूर है। देशी सामान के लिए इन बाजारों में कोई स्थान नहीं है। आम आदमी के लिए इन मॉलों की कोई उपयोगिता नहीं। हिंदी के वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह ने अमरूद के बहाने बाजार से उपेक्षितों का बिंब अंकित किया है—

"अमरूद फिर आ गए हैं बाजार में
और यद्यपि वहाँ जगह नहीं थी,
पर मैंने देखा छोटे-छोटे अमरूदों ने
सबको ठेल-ठालकर
फुटपाथ पर बना ही ली
अपने लिए थोड़ी जगह।"

केदारजी की दुनिया कविता की दुनिया है। लेकिन यह दुनिया बाजार से मुक्त कहाँ है? कविता की टक्कर, भले ही हल्की क्यों न हो, पर बाजार से होती है। इस टक्कर से कवि को रोमांच होता है। रोमांच इसलिए कि सर्वशक्तिमान बाजार, प्रभुत्व-संपन्न बाजार से टकरा कर विचारों के जीवित होने के साक्ष्य मिलते हैं। अभी भी उससे टकराने की हिम्मत है। हार होगी या जीत, इसका उतना मतलब नहीं जितना कि टकराने का है। केदारजी ने लिखा है—

"अब यह कैसे बताऊँ
लेकिन छिपाऊँ भी तो क्यों
कविता और बाजार की एक हल्की
सी भी टक्कर
रोमांचित करती है मुझे।"

बाजार में जाना, बाजार देखना, बाजार पर सोचना और फिर घर वापिस आना एक लम्बी प्रक्रिया है, जटिल भी। कोई भी संवेदनशील कवि अपने समय के यथार्थ से न केवल रू-ब-रू होता है, बल्कि उसे अपनी प्रतिभा के सहारे अपने पाठकों तक पहुँचता है। बाजार से घर लौटना भी बड़ा सांकेतिक है। बाजार की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को नकार कर मानवीय संबंधों को अधिक मजबूत करना है। कवि जानता है कि यह काल बाजारों का है, लाभ-हानि के हिसाब-किताब का है। नामे और खाते का तुलन-पत्र मिलाने का है। लेकिन ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में भी 'पानी' अर्थात् जीवन का आधार प्रेम बचा हुआ है। 'तॉलस्ताय और साइकिल' की 'पानी की प्रार्थना' शीर्षक कविता में केदारनाथ सिंह लिखते हैं—

"पर चिंता की कोई बात नहीं
यह बाजारों का समय है
और वहाँ किसी रहस्यमय स्रोत से
मैं हमेशा मौजूद हूँ"

यहाँ कवि बाजार की उस दृष्टि का भी खंडन कर रहा है कि तमाम समस्याओं का निदान बाजार में है। सारी दुनिया भले ही बाजारोन्मुखी है, पर कवि नहीं जाता— ''मोमबत्ती की रोशनी में/मैं लिखता रहा कविता।'' क्या बाजार के वर्चस्व के लिए यह चुनौती नहीं है?

समकालीन कवि इस तथ्य से भली-भाँति परिचित है कि बाजार की अपनी व्यवस्था है। उसे यह भी पता है कि तीसरी दुनिया पर बाजार की गिद्ध दृष्टि लगी हुई है। बाजार को प्रतिरोध बिल्कुल नापसंद है। बाजार अपने उत्पादों को येन-केन-प्रकारेण उपभोक्ता तक पहुँचाकर मुनाफा अर्जित करने में लगा रहता है। इसके लिए मनुष्य ही नहीं, ईश्वर तक एक 'प्रोडक्ट' भर है। बाजार के लिए महत्त्व उसी का है जिसके पास क्रय-शक्ति हो। जितनी अधिक क्रय शक्ति उतनी अधिक महत्ता। बाजार में सब कुछ जायज है, न कुछ नैतिक होता है और न कुछ अनैतिक। बस, कारोबार फले व फूले। कवयित्री इंदु जैन बाजारवादी अर्थव्यवस्था को पहचानते हुए कहती हैं—

''बहुत पास है वह घड़ी
जब साड़ी त्योहारों पर पहनी जाएगी
जैसे जापान में किमोनो
घरों में लोग अकेल-अकेले रहेंगे
जैसे भीड़ भरे बाजार में
चीजें और बटुआ
तब मेरे बच्चे कहाँ होंगे
किसे पहचानेंगे?''

बाजार में चीजें होंगी और होंगे बटुए, परंतु असली चिंता तो मानवता की है, मानवीय संबंधों की है। उस स्थान का भला क्या महत्त्व है जहाँ मनुष्य ही न रहे। बाजार को मनुष्य नहीं, व्यक्ति चाहिए, एक क्रय-शक्ति संपन्न व्यक्ति।

समकालीन कविता का एक जरूरी नाम है अरुण कमल। उनकी कविताओं में बाजार का सच है। बाजार का छल-छद्म भी मौजूद है। जीवन के विविध संदर्भ इन्हीं बाजारों से जुड़े हुए हैं। 'भाग्यफल' बेचने वाला ज्योतिषी बीच बाजार में लोगों को लूटता है, परंतु वहीं 'दो कौड़ी की मामूली कुँजड़िन से' स्वयं 'सरे बाजार' लूट लिया जाता है। बाजार यानी लूट का स्थान है। बाजारवाद का नारा है—'लूटो नहीं तो लूट लिए जाओगे।' संजय चतुर्वेदी ने भी लिखा है—''वक्त का हर बड़ा लुटेरा अमर है इस शहर में।'' अरुण कमल की साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त कृति है 'नये इलाके में'। इसमें एक कविता संकलित है 'हाट' शीर्षक से। बाजार की जादुई कला और उसके माया-जाल को उघाड़ते हुए अरुण कमल लिखते हैं—

"मेरे पास न पूँजी थी न बाट
न पाप कमाया न पुण्य नहीं रहा अक्षत
दिन घूमता ढली देह लिए लौटा धाम
लेकिन वहाँ जहाँ घर था मेरा घर
नहीं था।"

अनामिका की कविताओं का फलक विस्तृत है। 'वृहत्तर समाज' का यथार्थ है। भूमंडलीकरण के चलते बाजार हममें शामिल हो चुका है। वह हमारी भावनाओं, क्रिया-कलापों को नियंत्रित करने लगा है। 'खुरदुरी हथेलियाँ' काव्य-संग्रह की 'घूमंतू टेलीफोन' की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"अधुनातन बाजारों के ही समानांतर
सजे हुए हैं मुझमें
हाट पुराने-मीना बाजार
जैसा कि भग्नावशेष पुरातात्विक
महानगर की छाती पर।"

'एक जन्म में सब' काव्य-संकलन से अपनी पहचान और प्रसिद्धि प्राप्त करने वाली कवयित्री अनीता वर्मा अपने पाठकों को सचेत कराती हैं। अनीता अपनी कविताओं से बाजारवाद के दुष्प्रभावों को गहरी समझ के साथ रेखांकित करती हैं। समय चाहे सामंतवाद का हो अथवा पूँजीवाद का, स्त्री को सदा शोषण का शिकार होना पड़ता है। घर की चहारदीवारी में कैद रहने वाली नारी निर्यातित होती थी, तो पूँजीवादी व्यवस्था में बाजार की प्रभुता में भी उसका भरपूर दोहन हो रहा है। कवयित्री अनीता ने 'इस्तेमाल' शीर्षक कविता में आज की उपभोक्तावादी सोच पर प्रहार किया है—

"पहले स्त्री बाजार नहीं जाती थी
वह फैली हुई थी समूचे घर में
लेकिन अब बाजार स्त्री के कदमों में है
उसके केश सहलाता उतारता कपड़े
सामान कोई भी हो बेची जाती है
हमेशा स्त्री।"

भूमंडलीकृत दुनिया में आदिवासी जन-जीवन भी बाजार से अछूता न रहा। आदिवासी गीत, नृत्य, संस्कृति यहाँ तक कि वनस्पतियों, जल, जंगल, जमीन को बाजार ने खरीद लिया। निर्मला पुतुल के काव्य संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' में कई कविताएँ इस विषय को आधार बनाकर लिखी गईं। मसलन, 'बिटिया मुर्मू के लिए'

शीर्षक की कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं, जहाँ बाजार के सौदागरों का नकाब उतारा गया है—

"वे दबे-पाँव आते हैं तुम्हारी संस्कृति में
वे तुम्हारे नृत्य की बड़ाई करते हैं
वे तुम्हारी आँखों की प्रशंसा में कसीदे
पढ़ते हैं
वे कौन हैं...?
सौदागर हैं वे...समझो...
पहचानो उन्हें बिटिया मुर्मू...पहचानो।
पहाड़ों पर आग वे ही लगाते हैं।"

निर्मला की एक कविता 'संथाल परगना' में आदिवासी जीवन को अस्त-व्यस्त, असहनीय यंत्रणादायक बना देने वाले बाजार की क्रूरता के चित्र हैं। साथ ही, बाजार के मकड़जाल में अपनी अस्मिता खो चुकी मानवता की छटपटाहट मौजूद है—

"बाजार की तरफ भागते
सब कुछ गड्डमड्ड हो गया है यहाँ
उखड़ गए हैं बड़े-बड़े पुराने पेड़
और कंक्रीट के पसरते जंगल में
खो गई है इसकी पहचान।"

'पेड़ों का उखड़ना' अपने उसूलों, आदर्शों का विनष्ट हो जाना है। 'कंक्रीट' का पसरता जंगल संवेदनहीनता, अमानवीयता और यांत्रिकता का प्रतीक है। दोनों ही स्थितियों में सर्वाधिक कराहती है मानवता।

मुक्त बाजार में निम्न वर्ग मेहनतकश मजदूरों के श्रम और शरीर का खूब शोषण होता है। उन्हें खोखला बनाकर ही छोड़ा जाता है। सरकार और सत्ता उस व्यवस्था की भडुआगिरी करने में जुटी रहती है। भारत समेत तीसरी दुनिया की सरकारें इसे बढ़ावा दे रही हैं। पूँजीवादी व्यवस्था की दासी बन रही हैं। बाजारवाद से उपभोक्तावाद पनप रहा है। विलासिता की ओर अंधी दौड़ लगाने को लोग अपनी सफलता मान रहे हैं। जिसके पास धन है, वह दौड़ में शामिल है और जिसके पास नहीं है, वह ललचाई नजर से उधर ताकता रहता है। लालसा तीव्र हो और साधन न हो तो आतंक, हत्या आदि अस्त्रों से बाजारवाद की चाल में फँस जाना स्वाभाविक है। आम आदमी की असहायता को रेखांकित करते हुए राजेश जोशी ने 'दो पंक्तियों के बीच' में कहा है—

"एक सिनेमा घर के सामने छूटी
हुई जगह में
एक नये मॉडल की चमचमाती कार
एक विकलांग बच्चे को डरा रही है
कार धीरे-धीरे आगे सरक रही है।"

संजय कुंदन की मानें तो 'बहस अब केवल संसद में ही हो सकती' है, क्योंकि बाजार को बहस कतई पसंद नहीं है। क्रेता, विक्रेता और वस्तु—ये तीन ही होते हैं बाजार में! न कोई सोच-विचार और न ही मोल-भाव। विक्रेता लुभाएगा और क्रेता लुटेगा। फिर बहस कैसी? 'खामोशी' कविता में डॉ. मन्नू ने लिखा है—

"आज बाजार खामोश है
कोई हल्ला-गुल्ला नहीं है
ये सारे हल्ले-गुल्ले अब संसद में हैं
क्योंकि सारी चीज की बिक्री वहाँ
होती है।"

उपभोक्तावाद हमारी जड़ों को खोखला किए जा रहा है। हम अपनी परंपरा को विस्मृत करने में लगे हैं। परंपरा रूढ़ि नहीं होती है। प्रगतिशीलता का गर्भ होती है। परंतु बाजारवादी और उपभोक्तावादी समय ने मनुष्य को खूब गुमराह किया है। सारी समस्याओं के रामबाण के रूप में आर्थिक संपन्नता को पेश किया जा रहा है। अमेरिका को आदर्श माना जा रहा है। लेकिन ज्ञानेंद्रपति स्पष्ट कहते हैं—

"एक उन्मत्त साँड है संयुक्त राज्य
अमेरिका
और उसका उफनता अंडकोष भर है
संयुक्त राष्ट्र संघ।"

'स्त्री मेरे भीतर' के कवि पवन करण ने अमेरिका की दादागिरी और उसकी हिंसावादी नीतियों और भ्रष्टाचारों का मखौल उड़ाया है 'अमेरिका का राष्ट्रपति होने के नाते' शीर्षक कविता में—

"अपने कोट की जेबों में भरे डालरों
के मजेदार खेल में
वह इतना माहिर होता है कि उसके दाईं जेब से
डालर निकालकर बाईं तरफ उछालते ही

इराक हो जाता है और बाईं जेब से
निकालकर
दाईं तरफ डालर उछालते ही हो जाता
है अफगान।''

बाजार ने युद्धों का काल निर्मित किया है, धार्मिक उन्माद को बढ़ावा दिया है, सत्ता को अपनी दासता स्वीकार करने के लिए विवश किया है। सबसे बड़ी बात है कि संवेदनाओं को क्षरित किया है, मानवता का गला घोंटा है। समकालीन रचनाकार इसे समझता है। पर सवाल यह कि आखिर लोग क्यों नहीं समझते? बाजार मानव-विवेक की हत्या करने का प्रयास करता है। भौतिक समाज की ओर उन्मुख करता है और इसका एक दूसरा पक्ष भी है, रचनाकार की भावनाओं से सामान्य जन परिचित नहीं हो पा रहे हैं। रचनाएँ लिखी जा रही हैं, प्रतिरोध का स्वर तीव्र हो रहा है। बेहतरीन रचनाएँ आ रही हैं। लेकिन उतनी 'सिरीयसली' पढ़ी नहीं जा रही हैं। उनका चिंतन-मनन नहीं हो रहा है। लोग बाजारोन्मुखी हो रहे हैं। सामग्री जुटाई जा रही हैं। कहाँ तो आवश्यकता के अनुसार आविष्कार होते थे, लेकिन आज यह स्थिति प्रतिगामी हो चुकी है। अनावश्यक चीजें खरीदने के लिए बाजार हमें प्रेरित करने की कला में सफल हो चुका है। बद्रीनारायण ने 'शब्द पदीयम' संग्रह की कविता 'बाजार का गीत' में बाजार के गोरखधंधे से हमें परिचित कराया है—

''जो कोई बाजार में आएगा
चार पैसे में बिकाएगा
पर दो ही पैसा पाएगा
दो तो दलाल ले जाएगा...
चाहे कोई हो/हम, आप या कबीर/
बौद्धिक, लेखक, फकीर
सब चार में बिकाएँगे/पर दो ही
पैसा पाएँगे, हाँ!
जिसे ठीक से बिकना आएगा
वह दो की जगह दस भी पा जाएगा।''

बाजारवादी शक्तियों ने साम्राज्यवाद को विस्तृत रूप प्रदान किया है। जिस बाजार की वस्तुओं से आँखें चौंधिया जाती हैं, वहीं गहन अंधकार भी इस रूप में मौजूद है कि खुली आँखें स्वत: मूँद जाती हैं। बच्चे काम पर जा रहे हैं, तो साक्षरता अभियान किस काम का? उपभोक्तावाद के दौर में हमारे घर दुकानों में तब्दील हो गए हैं। बाजार

किसी खौफनाक स्थान से कम थोड़े ही है? हेमंत कुकरेती अपने काव्य-संग्रह 'चाँद पर नाव' की पहली कविता 'आँख' में लिखते हैं—

''बाजार को दूर से देखने पर भी
लगता है डर
मेरा घर तो बाजार के इतने पास है
कि उजड़ी हुई दुकान नजर आता
है।''

मंगलेश डबराल के अनुसार—''यह ऐसा समय है जब कोई हो जा सकता है अंधा, लंगड़ा, बहरा, बेघर, पागल।'' इस समय में समाज को बचाना जरूरी है, मनुष्य को बचाना आवश्यक है। हेमंत घर बचाना चाहते हैं ताकि बचा रहेगा समाज और मानवीय संबंध। इसलिए उन्होंने लिखा है—

''एक-एक करके सारे सूर्य सागर में
दफन हो जाते हैं
यह पहला सोमवार है या साल का
आखिरी दिन
समय को याद रखना कष्ट में होना है
उससे छिपकर मैं रोज आता हूँ वह
रोज बीत जाता है
फिर भी मैं बचा हूँ
तो बचा है मनुष्य।''

यह सच है कि जीवन में मानव-जीवन में समाज और बाजार का संबंध है। दोनों में से किसी का निषेध नहीं हो सकता है। लेकिन बाजार ने समय को दुःसमय में तब्दील किया है, तो उसे पहचानना जरूरी है। खुशी की बात है कि रचनाकारों ने पहचाना है। अब आवश्यक है कि बाजार के दुश्चक्रों से लोग परिचित हों। समाज के अनुसार बाजार बदले न कि बाजार के अनुसार समाज।

'पद-कुपद पहचान बनाने वाला' के रचयिता अष्टभुजा शुक्ल ने एक लम्बी कविता 'पुरोहित की गाय' शीर्षक से लिखी है। बिकाऊ संस्कृति में सब कुछ बिकाऊ है। बहुत सस्ते में पसीना बिक जाता है। उससे कुछ महँगे में खून बिकता है। खून से थोड़ी अधिक कीमत पर सरसों का तेल, डीजल और पेट्रोल बिक जाते हैं। कवि के शब्दों में—

"दुनिया का हर द्रव बिक जाता है
लेकिन आँख
आँसुओं की ऐसी दुकान है
जो सूनी रहती है अक्सर।"

भूमंडलीकरण और बाजारवाद के दौर में मनुष्य उपभोक्ता बनकर रह गया है। यह समकालीन कविता की मुख्य अंतर्वस्तु है। बाजार और समाज में मनुष्य विस्मृति के कगार पर है। रचनाकार की बड़ी चिंता है यह। बाजार के लिए 'वैल्यू' का कोई महत्व नहीं है, क्योंकि यह कोई बिकाऊ प्रोडक्ट नहीं है, परंतु कवि के लिए है। वह कविता या रचना टिकेगी भला कैसे जिसमें युग का स्पंदन न हो। अपने समय की धड़कन न हो। खुशी की बात है कि समकालीन कविता की चार पीढ़ियों के रचनाकारों में यह चिंता व चेतना जाग्रत है। बाजार के कब्जे में पूरी दुनिया हो तो साहित्य में उस बाजार का प्रतिरोध होगा ही। बाजार की कुचालों से टकराने की हिम्मत केवल साहित्यकार दिखा रहे हैं। वैज्ञानिक तो बाजार की मनमानी को खाद-पानी जुटा रहे हैं। खैर, कविता में बाजार की चालाकियों के विरुद्ध आवाज बुलंद हुई है। युवा कवि शैलेय जब यह लिखते हैं कि "हिमालय ऊँचा/या/बछेंद्रीपाल" तो वैश्विक अर्थव्यवस्था अथवा उसे चुनौती देने वाले लोगों में से बड़ा कौन है, ऐसा सवाल पेश करते हैं। ऐसी चिंताओं से उम्मीद बँधती है। अजेय बने हिमालय यानी बाजारवादी अर्थव्यवस्था को चुनौती देना व उसका विरोध करना हमें आश्वस्त करता है। हताश न होने की प्रेरणा देता है। इस संदर्भ में मोहन कुमार डहेरिया की कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

"अभी भी हैं इस धरती पर कुछ
ऐसे लोग
मानते हैं जो पूरी दृढ़ता से
कंप्यूटर सब कुछ कर सकता है
बस एक चुंबन की सही-सही
व्याख्या नहीं कर सकता।"

कंप्यूटर यानी सूचना-प्रौद्योगिकी, विज्ञान की अद्भुत खोज जो बाजार का मुख्य अस्त्र बना हुआ है, जो असंभव-से लगने वाले कार्यों को संभव करने का दावा पेश करता है, उसके पास मानव-संबंध, प्रेम, विश्वास आदि को जानने-समझने का कोई 'पैरामीटर' नहीं है। एक बात का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है कि बाजारवाद के स्रोत में कुछ रचनाएँ ऐसी भी सामने आईं जिनमें लेखक का न तो कोई

जीवनानुभव होता है और न कोई सामाजिक प्रतिबद्धता। ऐसी रचनाएँ उच्छृंखलता का शिकार बन जाती हैं। संवेदना का स्वर भी नहीं उभरता। लेकिन चर्चा ऐसी रचनाओं की न हो तो अच्छा।

बाजार और उपभोक्तावाद के संदर्भ में समकालीन हिंदी कविता का विश्लेषण करें तो इतना कहा जा सकता है कि यह कविता समाज के सांस्कृतिक विकास के मार्ग पर रोड़ा डालने वाली ताकतों के विरुद्ध संघर्षरत है। यह कविता मनुष्य विरोधी पण्यवादी व्यवस्था की जमकर खबर लेती है। यह चालाक चुप्पी नहीं साधे रहती। शब्द उत्पन्न करने वाली मशीन नहीं है समकालीन हिंदी कविता। यह हमारे समय के संकट से पहचान कराती है। उपस्थित चुनौतियों को समक्ष पेश करती है। यह कविता विडंबनाओं और विद्रूपताओं को चित्रित करती है, बड़ी शिद्दत के साथ।

समकालीन हिंदी कविता की तरह समकालीन हिंदी कहानी में भी बाजार और उपभोक्तावादी समाज की नियति की चिंता है। उपभोक्तावादी समय के असली चेहरे को बेनकाब करने तथा बाजार और उपभोक्तावादी संस्कृति की चालाकी को उद्घाटित करने का प्रयास भी दिखाई पड़ता है। प्रेमचंद के कथा-साहित्य में इसके सूत्र मिल सकते हैं। भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' में इसका उभार है जहाँ अपने चीफ को प्रसन्न करने के लिए शामनाथ संबंध को प्रोडक्ट के रूप में इस्तेमाल करता है। लेकिन सोवियत संघ के विघटन, भूमंडलीकरण, संचार क्रांति ने हिंदी कहानी को गहरे रूप में प्रभावित किया है। कहानीकार अपने समय की भयंकरता से टकराता ही नहीं, उससे जूझता भी है और लुंज-पुंज हो रही संवेदनशीलता व सरोकार विहीनता से संत्रस्त होता है। सांस्कृतिक मूल्यों का तेजी के साथ क्षरण हो रहा है। धर्मांधता एवं सांप्रदायिकता की विष-ज्वाला से कथाकार पीड़ित होता है। समकालीन हिंदी कहानीकार ऐसी विकराल स्थितियों का वर्णन नहीं, चित्रण करता है।

बाजार और उपभोक्तावाद के प्रभाव नगरों, महानगरों या कस्बों तक ही सीमित नहीं हैं। पिछले दो दशकों की उथल-पुथल से दूर-दराज के गाँव तक प्रभावित हुए हैं। गाँव तेजी से बदल रहे हैं। भूमंडलीकरण का बाजार गाँव तक पहुँच चुका है। कहने वाले कह सकते हैं कि यह विकास का संकेत है। लेकिन बाजार की मूल्यहीनता जब गाँव को घेरे रखती है, तब उसे कैसे विकास का नाम दिया जा सकता है? गाँव जो प्रेमचंद के साहित्य में थे, आज वैसे न रह गए। प्रेमचंद का गोबर शहर से गाँव में वापिस गया था, परंतु आज के गोबर शहरों की ओर केवल भाग नहीं रहे हैं, बल्कि शहरी बाबू बनने का सपना पालकर जीवन गुजार रहे हैं। विडंबना तो यह है कि सेंसेक्स का आँकड़ा बीस हजार के आस-पास मँडराता है, लेकिन भुखमरी का शिकार बनकर किसान आत्महत्या भी कर रहा है। देश की गरीबी दरिद्रता का रूप धारण कर रही

है तो विदेशी बैंकों में देश का कालाधन भी बड़ी तेजी के साथ जमा हो रहा है। ऐसा परिदृश्य है समकालीन हिंदी कहानी का। मुक्त बाजार ने सब कुछ मुक्त कर दिया है। यहाँ तक कि प्रेम को भी 'बाजारू संस्कृति' पनपने लगी है। 'प्रेम न हाटि बिकाई' के दिन लद गए। वह भी बिकने लगा है। हिंदी के कुछ बड़े नाम जो विशिष्ट पत्रिकाओं के संपादक बने हैं, इस बिकवाली में खूब मदद कर रहे हैं। उत्तरदायित्व विहीनता कोई इन्हीं से सीखे।

हिंदी के वरिष्ठ कथाकार उदय प्रकाश से लेकर नवलेखन अंकों में छपने वाले रचनाकारों की कहानियों में बाजार और उपभोक्ता की चिंता, उसके दुष्प्रभाव, आशंका, डर एवं भयानकता चित्रित हैं। कहानी आज सबसे प्रभावशाली विधा है। सैकड़ों कहानीकार सृजनरत हैं। उन तमाम कहानीकारों की कहानियों से गुजरकर चर्चा करना किसी अकेले के बूते का नहीं है। पाठकीय अनुभव की सीमाएँ हैं। इसे कबूलते हुए कुछ ही कहानियों के आधार पर पिछले बीस वर्षों की कहानियों में जो समय व समाज की तस्वीर पेश की गई है, उसकी ओर इशारा भर किया जा सकता है।

समकालीन हिंदी कहानी को व्यापक संदर्भों से जोड़ने का श्रेय उदय प्रकाश को ही दिया जा सकता है। हिंदी के तमाम युवा रचनाकार किसी न किसी रूप में उदय प्रकाश से प्रभावित हैं। 'टेप्चू', 'तिरिछ', 'और अंत में प्रार्थना', 'पालगोमरा का स्कूटर', 'वारेन हेड्डस्ट्ग्स का सांड', 'मोहनदास', 'मैंगोसिल' जैसी कालातीत कहानियों ने युवा कहानी-यात्रा को प्रेरित किया है। उदारीकरण और बाजारवाद के वर्चस्व को उदय प्रकाश ने कहानियों में चित्रित किया है। साथ ही उन्होंने बाजारवाद से उत्पन्न अराजकता और विकरालता को 'मोहनदास' जैसी कहानियों में दर्शाया है। पूरी व्यवस्था के चरमरा जाने की स्थिति को कहानीकार ने आम आदमी के जीवन के माध्यम से अंकित किया है। सामाजिक विद्रूप पर तीखा प्रहार किया है। समाज में फैल रही संवेदन शून्यता और उसके आतंक को कथा-सूत्र में पिरोया है।

अखिलेश की कहानियाँ भी अपने समय से संघर्ष करती हैं। 'शापग्रस्त', 'चिट्ठी' के बाद अखिलेश की 'जल डमरूमध्य' कहानी ने सर्वाधिक प्रसिद्धि पाई। उपभोक्तावादी सभ्यता और बाजारवादी अर्थव्यवस्था की चपेट में आने वाले मानव-जीवन के संत्रस्त होने को कहानीकार ने चित्रित किया है। 'शापग्रस्त' के प्रमोद वर्मा, 'जलडमरूमध्य' के सहायजी जैसे लोग उपभोक्तावादी संस्कृति के यथार्थ से रू-ब-रू कराते हैं। उपभोक्ता समाज की तुच्छता, उसके छद्म और मानव-विरोध को अखिलेश पाठकों के सामने उज्जीवित करते हैं। इस संदर्भ में एक और महत्त्वपूर्ण नाम हैं—स्वयंप्रकाश। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'बड़े' का उल्लेख किया जा सकता है। श्रीमती बैजल अपने बच्चे का जन्मदिन मनाती हैं। उनकी दृष्टि कीमती तोहफे की खोज करती है। लेकिन

उन्हें निराश होना पड़ता है। मुन्ना को स्कूल पहुँचाने वाला ताँगावाला गेंदे की फूल-माला लेकर आता है। इससे मुन्ना प्रफुल्लित हो उठता है। श्रीमती बैजल अपने मुन्ने की नैसर्गिक खुशी में शामिल नहीं हो पाती हैं, बल्कि अपने व्यवहार से मुन्ना को दुखी ही करती हैं। बाजार और उपभोक्तावाद की जीवन में घुसपैठ को 'गौरी का गुस्सा' शीर्षक कहानी में भी देखा जा सकता है।

सवाल किया जा सकता है कि समकालीन कहानी की युवा पीढ़ी बाजार और उपभोक्ता को लेकर क्या सोचती है? उसका क्या अनुभव है? उस 'अनुभव' को वह अभिव्यक्त करने में कहाँ तक सफल है? उसकी यह अभिव्यक्ति अनुभूतिजन्य है या आयातित? क्या वह अपनी रचना बाजार की माँग पर लिख रहा है? यानी बाजार के लिए लिख रहा है अथवा बाजार की चालाकियों और पूँजी के दुष्प्रभावों का प्रतिरोध करने और उसके विरोध में आवाज उठाने या मौजूदा समय के सच की विसंगतियों का चित्रण करने के लिए सृजनरत हैं?

समकालीन कहानी की युवा पीढ़ी ने मानवीय संबंधों में पसरे बाजारवादी ताकतों, भोगवादी तत्त्वों और उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों के चित्रों को रूपायित किया है। पंकज मित्र की 'बेला का भू', नीलाक्षी सिंह की 'टेकबे तो टेक न तो गो', गीत चतुर्वेदी की 'पिंक स्लिप डैडी' आदि कहानियाँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इन कहानियों से गुजरने के बाद ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि 'फैशन' के लिए, बाजार की माँग के लिए ये कहानियाँ लिखी गई हैं। इनमें रचनाकारों की छटपटाहट है, बाजार कवलित मानव की पीड़ा की अभिव्यक्ति है। धनलोलुपता और अवसरवादिता पर प्रहार भी है।

नीलाक्षी सिंह की उक्त कहानी में दुलारी छक्कन प्रसाद, मुसमातिन और मिंटू जैसे पात्रों के माध्यम से बाजार के विविध रूप व उसकी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। इस कहानी में स्त्री-अस्मिता के सवाल को भी पेश किया गया है।

समकालीन रचनाकारों में पंकज मित्र एक महत्त्वपूर्ण नाम है। 'क्विज मास्टर और अन्य कहानियाँ' एवं 'हुडुकलुल्लू' कहानी संग्रहों से कथा-साहित्य में विशिष्ट पहचान बना चुके हैं। पंकज मित्र की 'बेला का भू' कहानी में बेचूलाल और ओ.पी. सर के माध्यम से बाजार या व्यवसाय का असली चेहरा दिखाई पड़ता है। व्यापार सिर्फ व्यापार होता है। इसके अलावा कुछ नहीं होता। यहाँ आत्मीय संबंधों के लिए न कोई स्थान है और न अहमियत। चाहे जैसे भी हो, निवेश बढ़े, पूँजी में बढ़ोतरी हो। पंकज की एक दूसरी कहानी 'बिजुरी महतो की अजब दास्तान' में भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की मुनाफाखोरी और वर्चस्व के चलते कौलेश्वर जैसे पात्र की शोचनीय स्थिति हो जाती है—''बढ़ी दाढ़ी, सूजा मुँह, हाथों-पैरों में नील के निशान....'' कंपनी का विरोध यानी बाजार का विरोध है। बाजार सर्वशक्तिमान है। अतः कौलेश्वरों की ऐसी हालत या इससे भी बदतर करने में बाजारवादी शक्तियाँ भला क्यों मुकरें?

हम सभी उपभोक्तावाद के शिकार बन रहे हैं या बन चुके हैं। बाजार के एकाधिकार के सामने घुटने टेक चुके हैं। बाजार अपनी बर्बरता दिखा रहा है और उसे हम कबूलते जा रहे हैं। रचनाकार इस विडंबना को रूपायित करने का प्रयास कर रहा है। इस संदर्भ में गीत चतुर्वेदी का नाम लिया जा सकता है। उनकी 'पिंक स्लिप डैडी' शीर्षक कहानी में इन्स्योरेन्स कंपनी के बहाने बाजार में आने वाली मंदी का चित्रण है। प्रफुल्ल शशिकांत उर्फ पी.एस. दाधीच की परेशानियों को बड़ी संवेदना के साथ चित्रित किया गया है। दूसरी लम्बी कहानी 'सिमसिम' में गीत चतुर्वेदी ने भूमाफियाओं के करतब दिखाए हैं। चाय-समोसे की पुरानी दुकान और पुरानी लाइब्रेरी को हथियाकर वहाँ खास किस्म के रेस्तराँ और मॉल बनाने की घटना को केंद्र में रखकर 'सिमसिम' की कथा-संरचना बुनी गई है। विकास के नाम पर कंक्रीट का जंगल और मॉल कल्चर जारी है। मॉल यूँ नहीं बनते, 'किसी की' कीमत पर खड़े होते हैं। पाँच मंजिला ऊँचा शॉपिंग मॉल बनना तो स्वाभाविक है—''फाउण्डेशन के लिए चालीस फीट गहरा गड्ढा खोदा गया था। उसमें क्या-क्या चीजें दफन की गईं, किसी को नहीं पता। दीवार के टुकड़ों, खिड़की के पल्लों या कागज की चिंदियों से प्रेम करने वाले जानते होंगे कि दीवार, खिड़कियों और कागजों की भी रूहें होती हैं।'' गीत चतुर्वेदी की कहानियाँ बहुत लम्बी होती हैं। फलस्वरूप, विषय व शिल्प में शिथिलता दिखाई पड़ती है।

भारत ने अपने दरवाजे मुक्त बाजार के लिए खोल दिए, तो मुक्त बाजार ने भारत को 'मंडी' बनाकर छोड़ दिया। समकालीन कथा-साहित्य में मुक्त बाजार के चलते आम जनता की पीड़ा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती गई। आम जीवन काफी प्रभावित हुआ। समकालीन हिंदी युवा कहानीकारों ने बाजार की कूटनीतियों का पर्दाफाश किया है। साथ ही, लुप्तप्राय मानवीय संबंध, संवेदना को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया है। इनमें से प्रमुख हैं—पंकज मित्र, कैलाश वनवासी, अनुज, उमाशंकर चौधरी, राकेश बिहारी, सत्यनारायण पटेल, हरिओम, वंदना राग, प्रत्यक्षा, नीलाक्षी सिंह, ज्योति और कविता।

सत्यनारायण पटेल की 'लुगड़ी का सपना' अविस्मरणीय कहानी है। 'लुगड़ी का सपना' कहानी होते हुए भी औपन्यासिक शिल्प से युक्त है। खैर, कथा-शिल्प पर बात करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। आलोच्य कहानी का नायक डूँगा न तो निठल्ला बैठ हुआ है और न ही वह निराश है। उसका एक सपना है जो छोटा-सा है। उसके सपने का संबंध न तो आलीशान महलों से संबंधित है और न ही बहुराष्ट्रीय कंपनी की 'ऑनरसीप' से है। स्मरण हो आता है प्रेमचंद की कहानी 'पूस की रात' के हल्कू का सपना, कंबल खरीदने का सपना और भी स्मरण होता है 'गोदान' के होरी का सपना—एक गाय का। लेकिन सत्यनारायण के डूँगा का सपना—''सपना भी क्या। एक लुगड़ी का सपना।

...किनारे टँगी लुगड़ी का सपना। यह एक ऐसा सपना था, जिसे देखने के लिए डूँगा को अर्धनिद्रा में जाने की जरूरत नहीं थी...। उस लुगड़ी को देखते-देखते ही वह नींद में चला जाता। सुबह उठकर लुगड़ी को पाने के लिए दिन भर खेत में हाड़ तोड़ मेहनत करता।'' डूँगा संघर्षरत रहता है। अपने सपने को पूरा करने की खातिर ...र बना रहता है। पत्नी पारवती और बेटी पवित्रा की खुशी के लिए समर्पित किसान डूँगा की अदम्य जिजीविषा देखते ही बनती है।

पाठक भली-भाँति जानते हैं कि सिंगूर और नंदीग्राम की घटनाओं ने पैंतीस साल की वामपंथी सरकार को सत्ताच्युत कर दिया। भूमि-सुधार ने वामपंथी सरकार को सत्तासीन किया था, तो जमीन अधिग्रहण ने सत्ताहीन कर दिया। किसान को अपने खेत प्यारे होते हैं। 'लुगड़ी का सपना' में ''दायजी को खेत अपनी जान से भी प्यारे थे। जीवन का एक ही मकसद जल्दी से जल्दी खेतों को कर्जे से मुक्त करना।'' 'रंगभूमि' का सूरदास जॉनसेवक से अपनी जमीन न बचा पाया था, तो जमीन की दलाली कर रहे जमीन खरीदने वाली कम्पनियों के कमिशन एजेंटों से दायजी न बच सके। डूँगी जानती है कि विरोध का दमन कैसे होता है। उसे पता है कि प्रतिरोध का गला कैसे घोंटा जा सकता है। तभी तो—''एक रात दायजी को खेत पर करंट लगाकर मार दिया।'' टूल्लर तमाम प्रयोग डूँगा पर करता है। साम, दंड, भेद आदि अपनाता है। टूल्लर के बहाने पटेल ने बाजार का वीभत्स दृश्य अंकित किया है। लेकिन, डूँगा तो डूँगा ही निकला। वह देखता है, अपने इर्द-गिर्द देखता है बेशकीमती मोटर-कारें, वैभव-विलास के अन्य साधन जो जमीन बेचकर जुटाए गए थे। पत्नी व पुत्री का मन भी ललचाता है। उपभोक्तावाद ने लगभग पूरे गाँव को तथा पड़ोस के गाँवों को निगल ही लिया था। अपसंस्कृति फैलने लगती है। भोगवाद की प्रवृत्ति जोरों पर है। जुआ, शराब, औरतबाजी का चक्र चलता रहता है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से भोगवाद को बढ़ावा दिया जा रहा है। दस बीघे जमीन का मालिक डूँगा गहरे अंतर्द्वन्द्व में रहता है। एक तरफ बाजारवादी ताकतों के लुभावने सपने तो दूसरी ओर अपने खेत के प्रति अगाध लगाव। यह कहानी इसलिए अविस्मरणीय है कि डूँगा टूटता है, बिखरता है। मान-अपमान को सहन करता है। दमन व अत्याचार का शांत विरोध करता है। लेकिन डूँगा व बाजार के सामने घुटने टेकना नहीं जानता है। वह टूट भले जाए लेकिन बाजार की शक्ति के सामने झुकता नहीं। यह कहानी की सबसे बड़ी ताकत है। मंदी के दौर में खेत खरीदने वाली बम्बई की पार्टी तो खुद डूब गई। बेचारा सीधा-सादा, निश्छल, निष्कपट डूँगा जिसने न तो कभी 'दलाल पथ का नाम सुना था, न वॉल स्ट्रीट का, न मंदी का, फेयर मार्केट का'। बाजार में पाँव रखने वाली कंपनियाँ आर्थिक मंदी से ... लुट गईं। ऐसे में दादागिरी चलने से रही। लेकिन डूँगा की ''आँखों में लुगड़ी

के सपने की बजाए, कभी खेत में खड़ी फसल के जलने का सपना आता।'' लेकिन, उसकी समझ में आ जाता है—''जब तक खेत बचा है। खेती करने की इच्छा बची है। अपनी मेहनत की फसल के दम पर लाल छींटदार लुगड़ी लाने का सपना बचा है। जब तक सपना बचा है, बहुत कुछ बचा है।'' पाश ने कभी लिखा था—''सबसे खतरनाक होता है सपनों का मर जाना।'' जन्म-काल से डूँगा ने जो सपने सँजोए रखा था, उनका अंत हो गया। उल्लेखनीय है कि तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मनुष्य अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है। बाजार और उपभोक्ता के सामने सिर झुकाए बिना अपनी अस्मिता को बनाए रखा जा सकता है। बाजार की पराजय और संघर्षशीलता की विजय को प्रस्तुत करते हुए सत्यनारायण पटेल ने अद्भुत कहानी लिखी है। भू-माफियाओं की आज भी भरमार है, लेकिन इक्का-दुक्का ही सही डूँगा भी है। उसका सपना है। आस्था, विश्वास व संभावना के द्वार उन्मुक्त हैं। प्रसंगतया, पटेल की एक और कहानी का सिर्फ उल्लेख कर देना उचित है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था से प्रभावित जनजीवन को रचनाकार ने 'सपने के ठूँठ पर कोंपल' शीर्षक कहानी में चित्रित किया है। इस कहानी की एक ही पंक्ति उद्धृत है—''बाजार अच्छे-भले आदमी को भड़वा और औरत को वेश्या बनाने में उस्ताद है।'' सतीश के बाऊजी के माध्यम से कहानीकार ने अपने समय के यथार्थ—फंड की भूख, शोहरत की भूख आदि को प्रस्तुत किया है। सत्ता और पूँजी की साँठ-गाँठ से उत्पन्न विसंगतियों और मूल्य-संकट को चित्रित किया है।

कैलाश वनवासी युवा पीढ़ी के चर्चित कहानीकार हैं। इनका नाम आते ही इनकी कहानी 'बाजार में रामधन' स्मरण हो आती है। इस नाम से उनका कहानी-संकलन भी है। इस कहानी में बाजार और पूँजी के साथ संघर्ष मात्र नहीं है, बल्कि अपनापन, संवेदना, प्रेम अथवा मानवीय भावों के व्यापक रूप को बचाए रखने का भी भरपूर प्रयास है। धन इन्हें छीन लेना चाहता है, जबर्दस्ती हड़पना चाहता है लेकिन रामधन की भी जी-तोड़ कोशिश है कि वह पूँजी के हवाले उन्हें न सौंपे। बाजारवादी ताकतों का विरोध है, उनसे संघर्ष भी है। रामधन का दलालों की चालाकियों के बावजूद अपने बैल न बेचने की कथा को कहानीकार ने अपने विशिष्ट अंदाज में पेश किया है। 'कहन' की जबर्दस्त शैली है। गाँव का बालोद का बुधवारी बाजार है। कहानी से गुजरकर ऐसा लगा कि पूरा बाजार मेरे सामने खड़ा है, बिल्कुल साकार रूप में। कहानीकार मानो पाठक से संवाद कर रहा हो, लिख नहीं रहा हो—ऐसा भी महसूस होता है। इसलिए कैलाश की कहानियाँ अपनी अलग पहचान बना चुकी हैं। बहरहाल, 'बाजार में रामधन' की बात की जाए, तो प्रेमचंद की कहानी 'दो बैलों की कथा' की याद आती है। रामधन के लिए दो बैल सिर्फ बैल थोड़े ही हैं। दोनों बैल रामधन के अभिन्न

साथी हैं। उसके अपने दोनों बैल दो हाथों के समान हैं। भला कोई अपने अंगों को इसे बेच दे? रामधन से यह संभव नहीं है। भले ही 'मुन्ना' (अगली पीढ़ी) के लिए इन बैलों का वह महत्त्व न हो। किसान के लिए बैल घर की इज्जत है,...घर की शोभा है और इससे बढ़कर हमारे पिता की धरोहर है।" यहाँ बैल मनुष्य की अस्मिता उसकी आबरू, उसकी स्मृति के भी प्रतीक हैं। कहानीकार ने बिना शोर-शराबे के बाजार और पूँजी की छद्म लीलाओं को उघाड़कर रख दिया है। मनुष्य के अधिकार तक को बाजार के दलाल छीन लेना चाहते हैं। रामधन का बैलों के प्रति जो दृष्टि है, ठीक उसका विपरीत है गाँव के पढ़े-लिखे नौजवान मुन्ने की। एक ओर गहरी संवेदना है तो दूसरी ओर रुपये का महत्त्व। एक के पास यह संवेदना अनमोल है तो दूसरे के सामने बेकार व फालतू प्रसंग। कहानी के अंत में कहा गया है—"जब आप ध्यान से देखेंगे तो पाएँगे, ये दो बैल और रामधन नहीं, बल्कि आपस के तीन गहरे साथी जा रहे हैं। हाँ, तीन गहरे साथी...आप ध्यान से सुनिए, वे आपस में बातें कर रहे हैं...।"

"फिर भी नहीं बेचना उनके हाथ तुमको"

"आखिर कब तक बचाओगे रामधन? कब तक?"

बैलों को बचाने का आशय है बाजारवादी शक्तियों से मनुष्य के सपनों को बचाना है। मनुष्यता को बचाना है। रामधन उसे बचाने के लिए कटिबद्ध प्रयास करता है। हाँ, वह जानता भी है पूँजी की ताकत को। फिर भी अपने अंगों को वह बेचने नहीं आएगा। मुन्ना भले ही इस खरीददारी-बिकवाली में शामिल हो जाए। मुन्ना के लिए बाजार के चलते मूल्यों का क्षरण होना मामूली हो सकता है, लेकिन रामधन के लिए यह सर्वाधिक कष्टदायक है, यंत्रणादायक है।

समकालीन हिंदी कहानी की युवा पीढ़ी के रचनाकारों में राकेश बिहारी एक चर्चित नाम हैं। उनका कहानी-संकलन 'वह सपने बेचता था' प्रकाशित है। राकेश बिहारी के कथा-कर्म से परिचित कराते हुए कथाकार संजीव ने कहा है—"युवा कथाकार राकेश बिहारी का लेखन अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ियों के लेखन से इन अर्थों में भिन्न है कि वह वैश्विक मंडी, छँटनी, आंदोलन विरोधी और आंदोलनहीन बदलती जीवन स्थितियों के दबाव में मनुष्य के मोरल को तोड़े जाने की हर साजिश के विरुद्ध कशमकश में तो है पर चीख या आर्तनाद नहीं, यह उनका प्रतिवाद तो करती है, उनसे संवाद भी करने की कोशिश करती है।"

बाजार और उपभोक्तावादी संस्कृति को फलने-फूलने देने में कॉरपोरेट की दुनिया का खास महत्त्व है। यह जो 'कॉरपोरेटी' संस्कृति है, उसका सच क्या है और वहाँ कैसा अंतर्विरोध है, कौन-सी विसंगतियाँ सामने आती हैं, इन सवालों पर भी राकेश बिहारी की कहानियाँ गौर करती हैं। कॉरपोरेट दुनिया से संबंधित 'और अन्ना सो रही

थी', 'वह सपने बेचता था' एवं 'बाकी बातें फिर कभी' तीन कहानियाँ खास तौर पर उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहली कहानी में श्रम का शोषण चित्रित है, तो दूसरी में घोर वामपंथी नेता की कारगुजारियाँ और तीसरी कहानी में सरकारी सार्वजनिक उपक्रमों पर बाजारवादी पूँजीवादी शक्तियों का हमला है। प्राइवेट और पब्लिक सेक्टर की तस्वीर 'वह सपने बेचता था' में पाई जाती है। असली बात तो यह है कि ये तीनों कहानियाँ भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक हैं। कॉरपोरेट सेक्टर में बाजार और व्यवस्था का आशय बाजार और व्यवसाय ही है। प्रीप्रेस इंडिया लि. के पीटर और नीलिमा अथवा कथावाचक में यदि कोई रिश्ता है भी तो वह व्यापार तक ही सीमित है। यहाँ स्त्री-पुरुष भी बस 'बिजनेस फ्रेंड' ही हैं। पूरा का पूरा जीवन यंत्रवत् हो गया है। अज्ञेय की कहानी रोज की मालती के जीवन से भी वीभत्स और संवेदनविहीन रूप राकेश बिहारी के पात्रों में देख सकते हैं। प्रीप्रेस इंडिया लि. का नायक पीटर जनपक्षधरता के चलते तीन महीनों के वेतन के साथ नौकरी छोड़ने मजबूर होता है। विश्व स्तर पर आर्थिक मंदी झेलते युवक की पीड़ा साकार होती है। कॉरपोरेट दुनिया में चापलूसी हो अथवा मनमानापन, उसके भी चित्र अंकित किए गए हैं 'और अन्ना रो रही थी' शीर्षक कहानी में। मिसेज कौल को भले ही 'कुछ आता-जाता' न हो, उन्हें प्रोजेक्ट लीडर इसलिए बनाया जाता है कि वह मि. तलवार की खास हैं। 'पूरी निष्ठा और ईमानदारी' के साथ काम करने वाले को सबसे कम 'इन्सेंटिव' दी जाती है। पीटर की नौकरी गई तो उसकी पत्नी की भी। अब अन्ना बेटी का लालन-पालन कैसे हो? उदारीकरण की नीति ने बाजार को बढ़ावा दिया और बाजार ने मनुष्य के अमन-चैन छीन लेने में कोई कसर न छोड़ी।

दूसरी कहानी में पीटर के सपनों की पूरी कायापलट हो जाती है। वह प्रतिभा का धनी है, कहानी, कविता, अनुवाद में रुचि ही नहीं रखता है, बल्कि लिखता भी है। बाजार के दुश्चक्र में पड़कर उसका नैतिक पतन भी होता है। गोरख पाण्डे या पाश की कविताओं से लाइनें चुराकर कैसेट रिलीज करता है। तीसरी कहानी में गवर्नमेंट डिपार्टमेंट या गवर्नमेंट एन्टरप्राइज में एसोसिएशन या यूनियनों की दखलअंदाजी के साथ-साथ ड्यूटी के प्रति उदासीनता के कारण 'प्राइवेट प्लेयर्स' का मार्ग आसान हो जाता है। बाजार, उपभोक्ता और भूमंडलीकरण के कॉरपोरेट संस्करण को राकेश बिहारी की कहानियाँ पेश करती हैं।

कविता की एक कहानी का शीर्षक है 'पत्थर, माटी, दूब...'। इसमें कविता ने लिखा है—"माटी, मेरा पहला प्यार, माटी, मेरी आँखों का देखा हुआ पहला ख्वाब... मैं सोचती हूँ, इस कठिन क्षण में मुझे माटी की याद आई तो यूँ ही नहीं...मुझे माटी को दिलवाना होगा उसका वही मुकाम, पिता को और उनके सपनों को भी।" मूर्ति कला, पाषाण-कला लुप्तप्राय होती जा रही है। एक कला को बचाने का प्रयास है।

बाजार इस कला के सामने चुनौती पेश करता है, तो उसे हम कैसे स्वीकारें? 'पॉटरी' को आउटडेटेड समझकर, ऑफबीट मानकर त्याग दें और 'अच्छी जिंदगी' की खोज में निकलें, तो कैसी भयानक स्थिति आ सकती है? यह चिंता भी कविता की कहानी में मौजूद है। 'हस्त शिल्प मेला' को समय ने 'क्राफ्ट बाजार' बना दिया है। मेला और बाजार में फर्क होता है, बहुत बड़ा फर्क। 'एक मुट्ठी आसमान' संस्था ने कला को जीवित करने के सपने को साकार किया है। 'बाजार इसमें सहायक बनकर आया है। उसे संहारक बनने ही नहीं दिया गया है।

1991 से 2010 के कालखण्ड में पूरी दुनिया सहित भारत में काफी उलटफेर हुआ। स्वाभाविक है कि साहित्य में इन बदलावों का प्रतिफलन होता है। भारत में उदारीकरण लागू भी नहीं हुआ था कि संजय खाती की 'पिंटी का साबुन' शीर्षक कहानी 'हंस', अप्रैल 1990 प्रकाशित हुई। बाजारवादी अर्थव्यवस्था आगे चलकर कौन से संकट उत्पन्न कर सकती है, इस पर संजय खाती ने अपनी चिंता व्यक्त की है। गाँव में साबुन यानी बाजार के प्रोडक्ट की पहुँच होती है 'अचानक, अप्रत्याशित रूप से।' डिप्टी साहब की बिटिया से 'साबण का महत्त्व सुना था गाँव वालों ने। यह लगभग पंद्रह साल पहले की बात होगी। किशोर 'गोपिए' को 'साबण' मिलता है कस्बे की दौड़ प्रतियोगिता में। साबुन पाकर गोपिया सामान्य से विशिष्ट बन जाता है। बाजार के इस छोटे-से उत्पाद ने गोपिया की माँ, कान पिता, बहन कुंती, मित्रों, परिचितों से दुश्मनी कर ली। यानी, सारे नाते-रिश्ते, संबंध फीके करने में बाजार अपनी छोटी-सी वस्तु के माध्यम से कामयाब हो जाता है। इतना ही नहीं अपने को श्रेष्ठ समझने का मिथ्यादंभ भी पालने में बाजार की भूमिका दिखाई पड़ती है—''सब कुछ मेरे नीचे। कोई मुझ तक नहीं पहुँच सकता था।'' और भी, गोपिया चाहे तो क्लास का 'मानीटर' बन जाए या 'रेफरी'। बाजार की ताकत है यह। बाजार लुभाता है। जितना अधिक लुभाएगा, उतना अधिक मुनाफा। 'पिंटी का साबुन, की यह पंक्ति—'सारी दुनिया गिद्धों की तरह मेरे उस छोटे से सुख को नोचने के लिए बेताब थी' बाजार के चक्रव्यूह को आभासित करती है। गोपिया भाग कर कहीं जाने का निश्चय भी करता है, तो वह स्थान बाजार ही है—''एक दिन मौका मिलते ही बाजार भाग जाऊँगा। फिर कभी नहीं लौटूँगा यहाँ। कभी नहीं।'' प्रेम, संवेदना, करुणा, वात्सल्य की दुनिया में कभी न लौटने का फैसला है यह। 'गोपिया' अपनी पहचान खो देता है, उसकी अस्मिता मिट जाती है। उसे लोग 'पिंटी' कहकर बुलाते हैं। लेकिन अपनी पहचान खोकर भी वह दुखी नहीं है। वह पिंटी के बारे में सपने सँजोता है। संजय खाती की इस कहानी की सबसे बड़ी खूबी यह है कि साबुन के चलते अपने काका का माथा फोड़ने के बावजूद काका गोपिया को दोष नहीं देता तो गोपिया का दिल पसीजता है। साबुन गुलाबी कीचड़ का एक

लोंदा में तब्दील हो गया। गोपिया माँ की "कोख की गरमाहट में मुँह छिपाकर रोता रहा। बहुत दिनों बाद पहले की तरह।" बाजार की दुर्दम शक्ति संबंधों की उष्मा के सामने मानो पराजित हो गई।

कहानी बाजार में बिकने वाली वस्तु नहीं है। यदि वह बाजार में बिकती है तो कहानी नहीं है। कहानी में बाजारवाद की चर्चा हो और 'खूँटा' शीर्षक कहानी का उल्लेख न हो तो चर्चा अधूरी मानी जाएगी। अनुज की यह कहानी आज के बाजार की असलियत से परिचित कराती है। यह एक सुखद संयोग है कि 'बाजार में रामधन' जहाँ समाप्त होती है, 'खूँटा' वहाँ से शुरू होती है। अवध, सितुआ और माँ कहानी के तीन मानसिकताओं या तीन विचारों के हैं। माँ परंपरा का द्योतक है। उसके पास संवेदना का विशाल भंडार है। उसका बार-बार नाद तक जाना, बैलों को रोटियाँ खिलाना आदि तीव्र संवेदना के परिचायक हैं। इसी से कहानी की शुरुआत होती है। इस पीढ़ी के लिए बैल सिर्फ जानवर नहीं होते, उसके परिवार के अंग होते हैं, आत्मीय भी। विवश होकर बाबूजी को बैलों को बेचना पड़ता है, क्योंकि पुत्री के विवाह की समस्या थी। मेले में जाकर बैलों की जो स्थिति होती है—"खूँटे से बँध जाना, कतार में खड़े रहना और पूँछ पटक-पटककर मक्खियों से लड़ते रहना।" बाजार में मनुष्य की स्थिति भी यही है। अनुज की इस अति चर्चित कहानी की खूबी यह है कि इस बाजार में भी एक और बाजार है जहाँ मनुष्य बिकता है। रंग-रूप बिकता है। बैलों के बाजार में बिचौलिए हैं तो रूप के बाजार में 'मौसियाँ'। जाल इनका सर्वत्र बिछा होता है। सितुआ 'मज्झिम निकाय' का है। न वह परंपरा से पूरी तरह मुक्त है और न बाजार के लोभ और उसकी विलासिता से। इसलिए वह कसाई को बैल बेचने के पक्ष में न था। दूसरी ओर वह बाजार द्वारा फैलाए गए जाल का भी शिकार है। अवध, अर्धशहरी युवक की दुनिया भिन्न है। नई पीढ़ी के इस पात्र के लिए 'इमोशन्स' का कोई स्थान नहीं है। वह अपने तईं सीमित है। अर्थ यानी रुपये को ही महत्त्व देता है। पूरी कहानी में संवेदना व बाजार की टक्कर है। ये दोनों एक-दूसरे से लड़ते, जूझते दिखाई पड़ते हैं। कहानीकार ने अपने समय की विडंबनाओं को मँझे हुए हाथों से उकेरा है। बाजार के चित्रण में उसकी लंबी तैयारी झलकती है। इसलिए विश्वसनीयता बनाए रखने में वह समर्थ है। बाजार की प्रतिस्पर्धा को भी कहानीकार ने बड़े ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। बाजार में खूँटे की भी कीमत है। बड़े ठेकेदारों का मेला है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का बाजार है। उन्हीं का वर्चस्व है। जून, 2008 में प्रकाशित इस कहानी के बारे में कथाकार रवींद्र कालिया ने सही कहा था—"ऐसी कहानी आपको पूरी हिंदी जगत् में दूसरी न मिलेगी।" बाजार ने मनुष्य को खूँटा बनाकर छोड़ दिया है। वह खूँटा निष्प्राण है, निर्जीव है।

इस संदर्भ में 'परिकथा' युवा-यात्रा में प्रकाशित दो कहानियाँ—अरुण कुमार 'असफल' की 'तरबूज का बीज' और अशोक कुमार पाण्डेय की 'पागल है साला' महत्वपूर्ण हैं। 'तरबूज का बीज' में पेटेंट कानून के बहाने बाजार का नग्न चित्र प्रस्तुत है। गणेशी के बाऊ के बहाने कहानीकार पूँजी और बाजार की कपटलीला को चित्रित करता है। गणेशी की माँ को अपने पति की मृत्यु से भी कष्टदायक प्रतीत होता है 'तरबूज का बीज' हासिल न करना। ठेकेदार यानी पूँजीपति के लिए इस दुनिया का सब कुछ बिकाऊ है भले ही वह मनुष्य क्यों न हो। वस्तु महत्त्वपूर्ण है, मनुष्य नहीं।

'पागल है साला' पूरी तरह से बाजारवादी अर्थव्यवस्था से संबंधित कहानी है। बाजार में बिकवाली जरूरी है। बिकाऊ नहीं तो 'मिसफिट' करार दिया जाता है। 'टार्गेट' हासिल न कर पाए तो दो कौड़ी के भी साबित न होंगे। बॉस, सेठ भागचंद्र मुनीम बाजार की सचाई पेश करते हैं, तो देहाती बूढ़ा मानवीय संवेदना की प्रतिमा बनकर आता है। बाजार आदि किसी को 'मिसफिट' का तमगा पहना दे तो वह सर्वत्र अनुपयोगी सिद्ध होता है। 'पागल है साला' कहकर लोग उसकी उपेक्षा करते हैं। इस कहानी में अशोक कुमार पाण्डेय ने बाजारवाद में छीजती, कराहती, छटपटाती संवेदना को मूर्त रूप प्रदान किया है। बाजारवाद का प्रतिरोध किया है।

आज समय बड़ी तेजी के साथ बदल रहा है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद आदि के सपने बेचने वाले सौदागरों के देश में घोर आर्थिक मंदी छाई हुई है। हिंदी के रचनाकार बहुराष्ट्रीय कंपनियों की छल-छद्म से भरी लीलाओं से परिचित हैं। उनकी विसंगतियों और विडंबनाओं तथा झूठे सपनों से वाकिफ हैं। वर्तमान जीवन के सच से अपरिचित नहीं हैं। हारती, टूटती, कराहती मानवता से आज के रचनाकार अत्यधिक चिंतित हैं। इसलिए वे अपनी रचनाओं के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति करते हुए सामाजिक प्रतिबद्धता का परिचय दे रहे हैं। यह बात अलग है कि कहीं आक्रमण की मुद्रा तीव्र है, तो कहीं मद्धिम। परंतु बाजारवाद के खिलाफ है आज का रचनाकार। उसकी रचनाओं में बाजार है लेकिन बाजार के लिए उसकी रचनाएँ नहीं हैं।

• ● •

हिंदी कहानी का मौजूदा समय : युवाओं का संसार

साठोत्तरी कहानी के बाद आठवें दशक में 'समकालीन कहानी' पदबंध का प्रारंभ शुरू होता है। समकालीन कहानी का महत्त्वपूर्ण पड़ाव नब्बे के बाद का है। सोवियत संघ का विघटन हुआ तो दुनिया एकध्रुवीकृत हो गई। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण के नाम पर दुनिया को लूटने के दुश्चक्र रचे गये। इनके चलते गरीब दरिद्र बन गया तो पूँजीपति की पूँजी में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। पूँजी और सत्ता की साँठ-गाँठ ने मानव जाति के समक्ष गंभीर चुनौतियाँ खड़ी कर दीं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अबाध प्रवेश से मुक्त बाजार ने अपना प्रभुत्व कायम किया। बाजार और विज्ञापन के सहारे पूँजी सर्वशक्तिमान हो गई। 'ग्लोबल विलेज' का मतलब 'ग्लोबल मार्केट' बन गया। बिजली, सड़क, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से वंचित गाँवों में भी विश्व बाजार की वस्तुएँ बेची जाने लगीं। पूरी दुनिया को बाजार में तब्दील करने की पुरजोर कोशिश जारी रही। बाजारवादी अर्थव्यवस्था में केवल एक ही मूल्य रह गया। वह है बाजार मूल्य यानी मार्किट वैल्यू। वस्तु की कीमत सर्वोपरि हो गई। ध्यान दिया जाना चाहिए कि बाजार ने मनुष्य को, मानवीय गुणों एवं संवेदनाओं को 'प्रॉडक्ट' बनाकर छोड़ दिया। इस उत्पाद का बाजार मूल्य वस्तु के बाजार मूल्य की तुलना में बौना और ठिगना साबित होने लगा। बाजार का सर्वोपरि कर्म, धर्म और उद्देश्य मुनाफा हासिल करना है। मुनाफा मिलना चाहिए चाहे किसी भी उपाय से क्यों न हो। छल, कपट, अन्याय, अत्याचार, दमन, शोषण के माध्यम से हो अथवा धर्मोन्माद, सांप्रदायिकता, द्वेष की भावना फैलाकर क्यों न हो, पूँजी या बाजार को बस 'प्रॉफिट' से मतलब होता है। मानव या मानवीय गुणों, संवेदनाओं का कोई बाजारमूल्य नहीं होता। इसलिए भूमंडलीकरण की दृष्टि में इनका कोई महत्त्व नहीं है। अत: यहाँ वस्तु मुख्य हो जाती है और मनुष्यता गौण। ऐसे में समय और समाज में जिस मूल्य का महत्त्व होता है, वह 'गुड्स वैल्यू' है। इसके सामने 'ह्यूमन वैल्यू' की क्या औकात होगी?

मानव-मूल्य या समाज मूल्य से भूमंडलीकरण रूपी दैत्य का कोई रिश्ता नहीं बचा। पूँजी का शोषण और उसकी चालाकियाँ, सत्ता की स्वार्थपरता और भयावह क्रूरता, धार्मिक संकीर्णता, आतंकवाद की भयावहता आदि युगीन यथार्थ के पर्याय बनकर उभरने लगे। संस्कृति के नाम पर अपसंस्कृति फैलती गई। विकास के नाम पर विनाश की लीलाएँ जारी रहीं। प्रकृति के अपार दोहन से प्राकृतिक संतुलन बिगड़ने लगा। पर्यावरण संकट के साथ-साथ भयानक अकाल, बढ़ती महँगाई, अन्न की तबाही, कालाबाजारी, मुनाफाखोरी आदि से आम जन जीवन बुरी तरह से प्रभावित हुआ। ऐसी दुर्घटनाओं का द्रष्टा और भोक्ता हिंदी का समकालीन कथाकार रहा है। अतः स्वाभाविक है कि उपर्युक्त स्थितियों से समकालीन कहानी असंपृक्त नहीं रह सकती है।

समकालीन कहानी समय और समाज से मुठभेड़ करती है। भूमंडलीकरण के दुश्चक्रों को उघाड़ती है। सांप्रदायिकता और आतंकवाद के विरुद्ध आवाज बुलंद करती है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था की चालाकियों को उघाड़ती है। हाशिए के समाज को चित्रित करते हुए मूकजनों को वाणी प्रदान करने का संकल्प लेती है। दलित, नारी, आदिवासी, सत्ता, पर्यावरण आदि विमर्शों को कथा-सूत्रों में पिरोती है। समकालीन कहानी अभिव्यक्ति के खतरे उठाते हुए परिणाम की बिना परवाह किए समय की धड़कनों को अंकित करती है। इसलिए यहाँ बदलते और उजड़ते गाँव हैं तो बढ़ता हुआ कंक्रीट का जंगल भी है। समस्याग्रस्त किसान, बाढ़, सूखा आदि के चित्र मिलते हैं तो फैक्टरी, मजदूर, लूट, अपहरण आदि की कथा भी मौजूद है। राजनीति का अपराधीकरण और अपराधीकरण की राजनीति, वर्ग-संघर्ष, विस्थापन एवं शरणार्थी समस्या आदि पर भी समकालीन हिंदी कहानीकार ने अपनी सोच और दृष्टि का परिचय दिया है। जीवन यथार्थ को शिद्दत के साथ प्रस्तुत करने में भी ये कथाकार पीछे नहीं हैं। कहानी के समकाल में कहानीकार अपने समय के दबावों को झेलते हुए यथार्थ से टकराते हुए अपने होने को प्रमाणित करने का प्रयास करता आ रहा है। इसी क्रम में जो कुछ भी मानव और मानवता विरोधी है उसका नग्न चित्र प्रस्तुत करना नहीं भूलता है।

उल्लेख किया जा सकता है कि नब्बे के बाद हिंदी का कथा-परिदृश्य बड़े पैमाने पर परिवर्तित हुआ। भूमंडलीय यथार्थ ने कथा को प्रभावित किया। वरिष्ठ कथाकारों काशीनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, अब्दुल बिस्मिल्लाह, नासिरा शर्मा, मन्नू भंडारी, सुधा अरोड़ा, चित्रा मुद्गल, उदय प्रकाश, संजीव, स्वयंप्रकाश, अखिलेश, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, ममता कालिया, शिवमूर्ति, असगर वजाहत के कथा-समय में युवा पीढ़ी के कहानीकार अपनी महत्त्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज करते हैं। प्रियम्वद, महेश कटारे, योगेंद्र आहूजा, एस आर हरनोट, ओमा शर्मा, पंकज मित्र, चंद्रकांता,

गीतांजलिश्री, जयनंदन, किरण सिंह, संजय कुंदन, गीताश्री, अल्पना मिश्र, मनीषा कुलश्रेष्ठ, उर्मिला शिरीष, तरुण भटनागर, भालचंद्र जोशी, कैलाश वनवासी, प्रेमरंजन अनिमेश, अनुज, प्रभात रंजन, सत्यनारायण पटेल, नीलाक्षी सिंह, प्रत्यक्षा, वंदना राग, कुणाल सिंह, जयश्री राय, चंदन पांडेय, मनोज पांडेय, विमल चंद्र पांडेय, मो. आरिफ, हरिओम, राकेश मिश्र, कविता, उमाशंकर चौधरी, शिल्पी, राकेश बिहारी, ज्योति चावला, अनिल यादव, राजीव कुमार, पंकज सुबीर, प्रदीप जिलवाने, आकांक्षा पारे, गौरव सोलंकी, अशोक कुमार पांडेय, इंदिरा दांगी, विपिन चौधरी की कथा-दुनिया में वैविध्य है और कथा दृष्टि में व्यापकता परिलक्षित होती है। इस संदर्भ में मनोज रूपड़ा, संजय खाती, गीत चतुर्वेदी, पंखुरी सिन्हा, प्रेम भारद्वाज, अरुण कुमार असफल, अजय नावरिया, जितेंद्र श्रीवास्तव, रणीराम गढ़वाली, अनंत कुमार सिंह, भरत प्रसाद, प्रज्ञा, विमलेश त्रिपाठी, शिवेंद्र, संदीप मील आदि की कहानियों ने भी युवा कहानी तथा समकालीन कहानी को नये-नये रंग-रूपों में सँवारा है। युवा कहानीकार तो और भी हैं लेकिन सभी का नामोल्लेख करना न तो ध्येय है और न ही अपेक्षित। लेकिन यह निश्चित है कि आज कहानी अत्यंत लोकप्रिय विधा बन चुकी है। बड़ी मात्रा में कहानियाँ लिखी जा रही हैं। कहानी केंद्रित विशेषांक भी खूब आ रहे हैं। वास्तव में यह सुखद है कि कहानीकार इतनी संख्या में सक्रिय हैं। देखना और परखना यह चाहिए कि कहानीकारों की रचनाशीलता में समय और समाज की प्रतिध्वनियाँ किस रूप में अंकित हुई हैं। यहाँ बदलते जीवन यथार्थ तथा सामाजिक यथार्थ के चित्र किस रूप में उकेरे गए हैं? अतः पंकज मित्र, गीताश्री, संजय कुंदन, हरिओम आदि की कहानियों से गुजरकर उपर्युक्त बिंदु पर विचार करना यहाँ हमारा उद्देश्य है। ये सभी चर्चित कहानीकार हैं और कथा-सृजन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते आ रहे हैं। खुशी की बात है कि ये किसी खास 'वाद' के प्रति समर्पित नहीं हैं। इनकी प्रतिबद्धता अपने समय और समाज के यथार्थ के प्रति है जिसे आप भूमंडलीय यथार्थ भी कह सकते हैं।

कस्बाई यथार्थ के चितेरे

नब्बे के दशक में उभरनेवाले कहानीकारों में पंकज मित्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनकी विशिष्टता के मूल में उनकी कहानियों की बहुस्तरीयता और भाषिक विविधता की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों में संघर्षशील मनुष्य को पंकज जिस विश्वसनीयता के साथ अंकित करते हैं वह उनकी कथा-पीढ़ी में दुर्लभ है। इस कहानीकार को पता है कि बाजारवादी अर्थव्यवस्था ने मानवीय अस्मिता और गरिमा को पतन के गर्त में धकेलने में कोई कसर न छोड़ी है। इसने मानव मूल्यों को ध्वस्त करते हुए बाजार मूल्य को स्थापित कराने में बड़ी भूमिका निभाई है। अपने

समय की विद्रूपताओं, विसंगतियों और असमानताओं को कथा-सूत्र में पिरोकर शिद्दत के साथ प्रस्तुत करने की सामर्थ्य पंकज मित्र की बड़ी खूबी है। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनकी कहानियों में 'लोकल' और 'ग्लोबल' को अत्यंत कुशलतापूर्वक समावेशित किया गया है। समाज के यथार्थ की समझ, शिनाख्त और प्रस्तुति में इस युवा रचनाकार को अपेक्षित सफलता हासिल हुई है।

पंकज मित्र के तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'क्विज मास्टर और अन्य कहानियाँ', 'हुडुकलुल्लू' और 'जिद्दी रेडियो'। इन संग्रहों के अलावा कई अन्य कहानियाँ भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। उनके कथा-संसार में 'क्विज मास्टर', 'हुडुकलुल्लु', 'बे ला का भू', 'लकड़सुंघा', 'निकम्मों का कोरस' आदि कहानियों ने विशेष स्थान प्राप्त किया है। पाठकों ने खूब सराहा है। आलोचकों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। लेकिन पंकज की चर्चा केवल इन्हीं कहानियों के आधार पर नहीं होनी चाहिए। ऐसा करने से उनकी कथा-दुनिया के साथ न्याय नहीं होगा। यह सच है कि 'क्विज मास्टर' ने पंकज मित्र को, खास रूप से परिचित कराया तो 'हुडुकलुल्लु' ने उन्हें महत्त्वपूर्ण कथाकार के रूप में स्थापित किया। लेकिन पंकज मित्र के कथा सरोकार से रू-ब-रू होने के लिए उनके तीनों संग्रहों के अलावा जो भी कहानियाँ तमाम पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं, उनसे गुजरना न्यायसंगत प्रतीत होता है। यह आवश्यक भी है इस कहानीकार की रेंज जानने के लिए। यहाँ तो केवल इतना संकेत किया जा सकता है कि पंकज के पास व्यापक कथा दृष्टि है। उन्हें अपने समकाल की स्थितियों की जबर्दस्त समझ है।

पंकज मित्र की कहानियों में जबर्दस्त पठनीयता है। बीच-बीच में हास्य और व्यंग्य को भी समवेशित किया गया है। इनमें रोचकता हमेशा बनी रहती है। लेकिन रचनाकार की चिंता और चेतना कहीं भी दिग्भ्रमित होती नहीं पाई जाती है। कहानीकार को पता है कि वह कहानी के माध्यम से अपनी चिंता जाहिर कर रहा है। अत: 'कहानीपन' को बरकरार रखना उसका पूरा प्रयास रहता है। अक्सर कथा के संयोजन से उनकी कहानियों में पठनीयता, रोचकता आदि तत्त्व कायम होते पाए जाते हैं। इनकी अधिकांश कहानियों में हिंदी की विविध बोलियों का सुंदर प्रयोग हुआ है। कथा पात्रों के संवादों में इन बोलियों के योग से कहानी में भाषिक विविधता के साथ-साथ प्रामाणिकता भी बनी रहती है। कहीं-कहीं पात्रों के कथोपकथन में बांग्ला का भी प्रयोग हुआ है। आशय यह कि पंकज मित्र की कथा भाषा में बहुआयामितता है।

पाठकों को ध्यान होगा कि 1991-92 में उदय प्रकाश 'पाल गोमरा का स्कूटर' में पूँजीवाद के आने वाले रूप का उल्लेख किया था। इसी तरह 1995-96 में पंकज मित्र अपनी 'पड़ताल' शीर्षक कहानी के माध्यम से पूँजीवादी शक्तियों के चलते बुरी

तरह से प्रभावित होनेवाले मानवीय संबंधों पर गहरी चिंता व्यक्त करते हैं। पूँजीवादी ताकतों की साजिशों को कहानीकार ने किशोरीरमण बाबू के माध्यम से उजागर करने का प्रयास करते हैं। बासठ साल के किशोरीबाबू की रहस्यात्मक ढंग से मृत्यु होती है 'रंगीन टीवी सेट के घर में आने के आठ दिन बाद।' एक भरा-पूरा संयुक्त परिवार, बहू-बेटे, बेटी पोतों से परिपूर्ण संसार। पूरा परिवार टीवी के कार्यक्रमों में जुट जाता है। वीसीआर, सिनेमा, चित्रहार, धारावाहिकों ने उनके बीच स्थान बना लिया। बातचीत के मुद्दे भी ये थे। टीवी ने किशोरीबाबू को विस्थापित कर दिया। बहाना यह कि उन्हें सोने में कोई डिस्टर्ब न हो। असली बात यह कि निर्विघ्न रूप में रात में सिनेमा देख सकें। बुखार पीड़ित वृद्ध की दशा से नौजवानों का क्या मतलब? कहानी का अंत पाठकों की भावनाओं को झकझोरता ही नहीं, बल्कि उपभोक्तावादी संस्कृति के दुश्चक्र का पर्दाफाश करता हैं—''देर रात तक अमिताभ बच्चन चीखता रहा। असामाजिक तत्वों को पीटता रहा। सभी ने निश्‍चित होकर चीखें सुनी। पिटाई देखी। दाँत पीस-पीसकर दुनिया को जलाकर राख कर देने वाले डायलॉग सुने और परमतृप्ति के साथ सोए, और सुबह ही किशोरीबाबू मरे हुए पाए गए, बरसाती में चौकी पर...सीने पर हाथ धरे। अब ये पड़ताल आपको करनी है कि किशोरी बाबू घर में रंगीन टीवी आने के ठीक आठ दिन बाद ही मर गए तो इसमें किसी का अपराध सिद्ध होता है कि नहीं।''

प्रोडक्ट का महत्त्व और मनुष्य को, मानवीय संबंधों को जिस समाज में गैर-जरूरी समझा जाए वहाँ कैसी शोचनीय स्थिति हो सकती है, इसे कहानीकार ने चित्रित किया है। उत्तर औपनिवेशिक भारत में 'चीफ की दावत' में माँ की स्थिति से भूमंडलीकृत भारत में किशोरीबाबू की स्थिति में और भी भयानकता आई है। पंकज मित्र ने इस कहानी की बुनावट में भी बहुत अच्छी सफलता हासिल की है। सूचित किया जाना उचित लगता है कि 'इंडिया टुडे' साहित्य वार्षिकी 1997 में इस कहानी को युवा लेखन का प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

पंकज मित्र कस्बाई जीवन यथार्थ के कुशल चितेरे हैं। इस कुशलता के पीछे उनके जीवनानुभव और दृष्टिकोण का महत्त्व है। कोरी कल्पना के आधार पर कथा-सृजन इस कहानीकार का स्वभाव नहीं है। कस्बाई जीवन की गहराई तक पहुँचकर उसके अनेक अनछुए पहलुओं को कथा-रस के साथ प्रस्तुत करने में इस कहानीकार की कोई तुलना नहीं है। प्रसिद्ध कथाकार एवं संपादक अखिलेश ने इस संदर्भ में लिखा भी है—''पंकज मित्र की इन कहानियों में बहुत दिनों बाद कस्बे का यथार्थ अपनी धड़कन और हलचलों के साथ प्रकट हुआ है यहाँ न केवल कस्बा चाक्षुष रूप में है बल्कि उसकी अदृश्य सच्चाइयाँ, उसकी अति सूक्ष्म लकीरें और मद्धिम से मद्धिम आहटें भी दर्ज हैं। इसलिए पंकज के यहाँ चटक आवाजें, सिसकियाँ और चीखें समवेत रूप से कहानी की लय निर्मित करती हैं।

पंकज की कहानियों में दृश्य में कस्बा है मगर उनकी चिन्ता और सरोकारों के केन्द्र में पूरे देश के वे असंख्य मनुष्य हैं जो अनेक घातक मुसीबतों के आक्रमण से लहूलुहान हैं, पिट रहे हैं, रो रहे हैं लेकिन वे अजीब हैं कि श्लथ नहीं हैं और जूझ रहे हैं। दरअसल पंकज राष्ट्रीय मुद्दों, विडम्बनाओं, समस्याओं को अपनी स्थानीय जमीन पर ले आते हैं। इस तरह भी कहा जा सकता है कि ''इन तक वह अपनी सम्पूर्ण स्थानीयता के साथ पहुँचते हैं।''

पंकज की अधिकांश कहानियों की पृष्ठभूमि कस्बाई जीवन है। लेकिन, ग्रामीण जनजीवन का अभाव नहीं है। शहरी पात्रों की स्मृतियों में अथवा कथा संदर्भ की आवश्यकता के अनुसार गाँव चित्रित हुआ है। 'बिलौती महतो की उधार-शिकिर' शीर्षक कहानी के केंद्र में गाँव है। लेकिन, यह भी भूमंडलीकरण की तेज आँधी से बुरी तरह प्रभावित होने वाला गाँव है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रोडक्ट यहाँ भी अबाधरूप से पहुँच रहे हैं और देशी वस्तुओं को बेदखल कर रहे हैं। गाँव को उसकी जड़ से उखाड़ने में भूमंडलीकरण किसी तरह की कोताही नहीं बरत रहा है। बदलते गाँवों के परिदृश्य को यह कहानीकार भली-भाँति रूपायित करता है। एक उदाहरण— ''मुस्कराकर अपने काम में व्यस्त हो गया चुग्गी दाढ़ीवाला। क्रेसेंटो कंपनी के बीजों की खूबियाँ बता रहा था। कोल्ड ड्रिंक्स पिलाया जा रहा था तारणी मंडल, नागो महतो सबको। सब मगन थे। वर्माजी भी इस बार कोई मदद नहीं कर पाए—पैकेट पर लिखा जर्मिनेशन रेट फिफ्टी पर्सेंट। यानी आधे फसल होगा।'' कहाँ तो बीज को भली-भाँति सुखाने के बाद नीम के सूखे पत्ते, डालकर देशी ढंग से बीज संरक्षण किया जाता था और कहाँ आज बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लेबल चिपकाए उत्पादों की खरीद-फरोख्त। उदारीकरण और निजीकरण के बाद भारतीय बाजार में आई बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने जन-मन को किस चालाकी से बदलने का प्रयास किया है उसे कहानीकार अंकित करता है। दरअसल, बाजार का वर्चस्व इस कदर बढ़ता जा रहा है कि हमारा बस अकेला परिचय—उपभोक्ता का—बचा रह गया है। कोई सवाल नहीं, कोई सोच-विचार नहीं, मोल-भाव भी नहीं। बाजार चाहता है कि हम आँखें मूँदकर उसके कहे अनुसार चलें। क्विजमास्टर की तरह भला बुरा के बारे में न सोचें। ट्यूशन मास्टर शर्मा की मानसिकता अपना लें—''पैसा कमाइए पैसा। बरेन है तो बरेन से कमाइए। जो चीज है आपके पास उसी से कमाइए।''

क्विजमास्टर के जीवन के माध्यम से समस्याग्रसित शिक्षक जीवन की आर्थिक समस्याओं, उलझनों एवं समाज तथा राष्ट्र की विडंबनाओं के कारक तत्त्वों पर गहरी चिंता व्यक्त की गई है। 'क्विजमास्टर' कहानी की विशिष्टता यह है कि मिस्टर कुमार यानी निम्न मध्यवर्गीय परिवार में अब भी थोड़ी नैतिकता बची हुई है। सत्ता के समक्ष

घुटने टेकना इसे स्वीकार नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति मोह उसे नापसंद है। भले ही कुमार की पत्नी प्रीति मोबाइल माँग कर ले आए और रात को केबीसी के लिए नंबर लगाने के लिए बेचैन रहे। लेकिन, कुमार ने यह कह दिया कि—"मुझे नहीं लगाना नंबर-उंबर।" यह प्रतिरोध कहानी को विशिष्टता प्रदान करती है।

पंकज की कहानियों में विषय वैविध्य है। तीनों संग्रहों में यह खूबी पाई जाती है। उदाहरण के तौर पर सांप्रदायिकता की खोज करते हुए वे 'अफसाना प्रदूषण का उर्फ हर फिक्र को धुएँ में....' लिखते हैं तो वर्णव्यवस्था पर सख्त प्रहार करते हुए 'अपेंडिसाइटिस' जैसी कहानी कहते हैं। 'सेंदरा' में आदिवासी चिंता और पुलिस तंत्र का अत्याचार है तो स्त्री चेतना 'एक अधूरी दास्तान' में व्यंजित हुई है। अपने समकाल की लगभग सभी समस्याओं और विडंबनाओं को उकेरनेवाली अनेक कहानियाँ उनके संग्रहों में मौजूद हैं। 'बोनसाई' पर्यावरणीय चिंता से संबंधित है तो 'जिद्दी रेडियो' में अदम्य जिजीविषा। 'बिजुरी महतो की अजब दास्तान' कहानी ग्रामीण जीवन के बदले परिप्रेक्ष्य और कंपनी की साजिशों को उद्घाटित करती है तो 'सहजन का पेड़' शहराभिमुखी लोगों की विवशता व्यक्त करती है। इतना ही नहीं, कई कहानियाँ बहुआयामी भी हैं। औपन्यासिक औदात्य से कई कहानियाँ समावेशित हैं। 'हुडुकलुल्लु' ऐसी कहानी है।

पंकज के कथा पात्र अत्यंत जीवंत हैं। उनका स्वाभाविक चित्रण हुआ है। वे विभिन्न वर्ग के हैं। कथाकार ने इन्हें स्वाभाविक रूप से विकसित होने दिया है। अपनी ओर से कोई हस्तक्षेप नहीं किया है। उसने पात्रों के मानवीय रूप के उद्घाटन में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। ये पात्र संघर्षशील हैं। हताश और उदास होने पर भी पराजित मनोवृत्ति का पोषण नहीं करते। वे समय की विद्रूपताओं और अंतर्विरोधों से टकराना जानते हैं। सोमरा मुंडा, जेम्स खाखा, महाकाल, स्वप्नमय बाबू, बिलौटी महतो, अनिकेत बाबू, चमनी गंझू आदि पात्रों से परिचित होने के बाद निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पंकज मित्र सफल चरित्र निर्माता हैं।

इस संदर्भ में एक दूसरी बात की ओर ध्यान आकर्षण करना अनुचित न होगा कि पंकज की कहानी जितना कल का बयाँ करती है उतना आज का भी। 'वाशिंदा तीसरी दुनिया' शीर्षक कहानी कई वर्ष पहले लिखी गई थी। विमुद्रीकरण के दौर में इस वाक्य की प्रासंगिकता द्रष्टव्य है—"पता नहीं देश का वित्तमंत्री है या अंबानी का।" आदिवासी और जनजातीय जीवन पर अच्छी पकड़ मित्र की है। वर्ल्ड बैंक से आदिवासी विकास परियोजना के नाम पर होनेवाली लूट अथवा फर्जी मुठभेड़ के नाम पर निरीह आदिवासियों की हत्या कर तमगे पहनने वाले पुलिस अधिकारियों की अच्छी खबर

...गई है। बिना आंतरिक जुड़ाव से 'कस्बे की एक लोककथा बतर्ज बंटी और बबली' व 'सैना' जैसी महत्त्वपूर्ण कहानियाँ नहीं रची जा सकती हैं।

अस्तु, पंकज मित्र मौजूदा समय और समाज की गहराई से पड़ताल करने वाले महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की मुनाफाखोर नीतियों के विरुद्ध बुलंद आवाज और प्रतिरोध करने वाले कहानीकार हैं। स्थानीयता के पोषक एवं लोक के घोर समर्थक हैं, पंकज मित्र। विद्रूपताओं का चित्रण भर नहीं, मानवीय रूप की महत्ता को प्रतिष्ठित करनेवाले रचनाकार के रूप में इनका विशेष महत्त्व है। संक्षेप में, हिंदी कहानी संसार का एक जरूरी नाम है पंकज मित्र।

कहानियाँ जो सपने बुनती हैं

चर्चित युवा कवि संजय कुंदन के 'कागज के प्रदेश में' और 'चुप्पी का शोर' कविता संग्रहों को कविता प्रेमियों ने खूब सराहा है। लेकिन यहाँ उनके कथाकार रूप की चर्चा अपेक्षित है। 'बॉस की पार्टी' (2008) उनका पहला कहानी संग्रह है। लेकिन इस संग्रह की कहानियाँ प्रसिद्ध पत्रिकाओं में छपकर अपनी महत्ता प्रमाणित कर चुकी हैं। संजय कुंदन की कहानियों के महत्त्व को समझने के लिए यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि इसमें समकालीन भारतीय समाज की प्रमुख विसंगतियों से मुठभेड़ हुई है। पूँजी, बाजारवाद के भयानक आक्रमण और उससे लहूलुहान होता मानवजीवन का मार्मिक चित्रण करने के लिए संजय कुंदन की कहानियाँ सफल प्रयास करती हैं। ये कहानियाँ स्थानीयता और वैश्विकता के द्वंद्व एवं संघर्ष से भी उत्पन्न होती हैं।

संजय कुंदन की कहानियों में प्रखर राजनीतिक चेतना है। समकालीन राजनीति, विचारधारा और उसके अंतर्लोक को स्पष्ट करनेवाली कहानियों से गुजरकर यह अहसास होता है कि कथाकार ने राजनीतिक चेतना गहरी संबद्धता और जीवनानुभवों से अर्जित की है। कपोलकल्पित नहीं हैं राजनीतिक चेतना से संबंधित इनकी कहानियाँ। इनमें राजनीतिक विवेक, आदर्श, जनपक्षधरता आदि का समावेश हुआ है। 'गाँधी जयंती' और 'मेरे सपने वापस करो' की अंतर्वस्तु उपर्युक्त विचार को पुष्ट करती है। 'गाँधी जयंती' में प्रभुदयाल का मंत्री बन जाना इस बात का प्रतीक है कि राजनीति अब गुंडों, हत्यारों, लफंगों एवं अपराधियों के हाथों में खिलौना बन चुकी है। भारतीय संसद, राज्यों की विधान सभाएँ अथवा अन्य विधायिकाएँ सर्वत्र असामाजिक तत्वों के हाथ में सत्ता न्यस्त है। जनप्रतिनिधि, कैसे चुने जाते हैं, यह स्पष्ट दिवालोक की तरह है। धन तथा बाहुबलियों की भूमिका से सभी परिचित हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की जयंती के अवसर पर मंत्री महोदय को उनके विद्यालय में मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया जाता है। गाँधीजी का घोरतम अपमान राजनैतिक मूल्यबोध का प्रबल

ह्रास का प्रतीक है। भारत के भावी नागरिकों को यह कैसी शिक्षा दी जा रही है—''गाँधीजी बनता है रे...अपना गाँधीपना छोड़ेगा कि नहीं? प्रभुदयाल और उसके चमचे गा रहे थे—''अरे ओ गाँधी घोंचू SS...करता ढेंचु ढेंचु।'' यह केवल हास्य-व्यंग्य और विडंबना नहीं है। इसमें कहानीकार की व्यापक चिंता भी समाई हुई है। देश के भविष्य की चिंता स्पष्टतया झलकती है। समकालीन राजनीति, जनतंत्र और जनप्रतिनिधियों की असलियत को शिद्दत के साथ उभारा गया है। प्रभुदयाल जैसे मंत्रियों से देश भरा हुआ है। लेकिन कहानीकार राजनीतिक यथार्थ भर पेश कर देना अपना कर्तव्य पूरा करना नहीं मानता है। कहानी का 'मैं' प्रभुदयाल का सहपाठी से रहा नहीं जाता। वह खड़ा होकर चिल्लाता है—''रोको इन्हें...देखो ये क्या कर रहे हैं। मेरे स्कूल में गाँधीजी का यह अपमान...।'' भले ही यह बेअसर साबित होता है लेकिन यह चीख और चीत्कार बने कोहरे अंधेरे की 'सिल्वर लाईन' है। ऐसा भाव हममें उम्मीद जगाता है। भरोसा प्रदान करता है। संजय कुंदन की अधिकांश कहानियों का समापन इस रीति से हुआ है। 'सुरक्षित आदमी' जैसी एक-आध कहानियों में 'सिल्वर लाइन' नहीं है लेकिन इन कहानियों का अंत दिए गए रूप में ही करना जरूरी था अन्यथा कहानी में कृत्रिमता या बनावटीपन आ जाने की पूरी संभावना थी।

बहरहाल, संजय कुंदन की कहानियों में व्यक्त राजनीतिक चेतना की चर्चा हो रही है। 'मेरे सपने वापस करो' के बिना यह चर्चा अधूरी होगी। 'औपन्यासिक स्वभाव' वाली इस कहानी में कथा-नायक अजय के माध्यम से राजनीतिक दल और संगठन की भीतरी दुनिया को बखूबी चित्रित किया गया है। बिना कार्यकर्ता बने ऐसी कहानी नहीं लिखी जा सकती है। वामपंथी संगठनों में भी फ्रॉड लोग अक्सर मूवमेंट में आकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। वामपंथी छात्र संगठन, इप्टा, सी.पी.आई. आदि की वैचारिक उठा-पटक तथा उनके अंदरूनी मामलों को कहानीकार ने स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है। यूपीए सरकार को बाहर से समर्थन देने के दौरान गरीब और सर्वहारा एवं दलित वर्गों पर होनेवाले दमनों और शोषणों का भी वर्णन हुआ है। विद्याधर प्रसाद वर्मा और उनकी पत्नी जया के माध्यम से उन वामपंथी नेताओं का असली चरित्र उद्घाटित किया गया है जिनकी कथनी और करनी में पीरघाट और मीरघाट की दूरी होती है। 1990 के बाद, सोवियत संघ के पतन के पश्चात् लगातार यह कहा जा रहा है कि मार्क्सवाद का अंत हो गया है। कहानीकार ऐसा नहीं मानता है। उसका स्पष्ट रूप में कहना है—''जब तक अन्याय है, जब तक शोषण है, भूख है, गरीबी है, जब तक आदमी और आदमी में फर्क है, तब तक हमारी विचारधारा प्रासंगिक रहेगी।...ठीक है हमारे संगठन ने ऐतिहासिक भूलें की हैं, उसका नेतृत्व गलत हाथों में चला गया है। उसका काम सिर्फ प्रेस विज्ञप्ति जारी करना रह गया है, लेकिन इसका यह कतई

...नहीं है कि हमारी विचारधारा ही गलत है साथी, आज देश के कोने-कोने में ...अपने स्तर पर अपने तरीके से लड़ रही है। हो सकता है कल उन्हीं के बीच ...कोई नेतृत्व निकले जो सबको एक सूत्र में बाँध दे, एक नया संगठन बने एक नये ...वाले संघर्ष हो। हमें हताश नहीं होना है। हम जो कर सकते हैं ईमानदारी से करते रहें।"

संजय कुंदन की कथायात्रा 2000 के आसपास शुरू होती है। 'केएनटी की कार' ...' में 2002 में प्रकाशित ही नहीं हुई, कहानीकार के रूप में इस कहानी ने संजय को प्रतिष्ठा भी दिलाई। कमल नारायण तिवारी उर्फ केएनटी के माध्यम से प्रिंट मीडिया के संसार को, उसमें व्याप्त अवसरवादिता, चापलूसी, स्वार्थपरता, दमन-शोषण, धोखाधड़ी, झूठ-फरेब आदि का जो विश्वसनीय चित्रण मिलता है वह पेशे से पत्रकार संजय कुंदन के बूते का है। इस कहानी के माध्यम से पूँजी, सत्ता और मीडिया की मिलीभगत तथा साँठ-गाँठ को प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। इसी तरह, सचिवालय में फैले भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी का फोटोग्राफिक डेस्क्रिप्शन 'चिड़ियाघर' शीर्षक कहानी में मिलता है। रिश्वतखोरी की जड़ें इतनी गहराई में धँसी हुई हैं कि ईमानदार को चंद दिनों में बेईमान बना देती हैं। थीसिस पूरा कर विश्वविद्यालय में अध्यापक बनने का आकांक्षी रविशंकर सचिवालय में बाबू बनते ही ससुर, पत्नी तथा अन्य बाबुओं की साजिशें शुरू हो जाती हैं कि 'ऊपरी' कैसे आए? अत्यंत संवेदनशील रविशंकर की मानसिक ऊहा-पोह को जीवंत रूप में चित्रित करने के साथ-साथ समाज में रहनेवाले विभिन्न वर्गों की मानसिकता का भी उम्दा चित्रण हुआ है। रुपए के आधार पर नौकरी दिलाने की घटना भले ही आज आम हो चुकी है लेकिन एम.ए. पास चौथी ग्रेड के लिए आवेदन करना सत्ता का खोखलापन उघाड़ता है। घोटालों की संस्कृति में जनजीवन की दुर्दशा के साथ-साथ समाज की अधोगति बढ़ती जा रही है। अभ्यर्थी विवेक कुमार की आत्महत्या वाली घटना एक लाख रुपए जुगाड़ न सकता रिश्वत के लिए—ने रविशंकर को हिलाकर रख दिया। यानी किंचित मात्रा में सही आज भी मध्यवर्ग में कहीं न कहीं थोड़ी सी संवेदना बची हुई है। थोड़े से शेष को बचाए रखने की कोशिश करती है संजय कुंदन की कहानियाँ।

'बॉस की पार्टी' शीर्षक विलक्षण कहानी में कथाकार के परिपक्व लेखन का परिचय मिलता है। 'चीफ की दावत' का विलोम रचती है यह कहानी। युगीन विडंबनाओं और प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभावी चित्रण इस कहानी की विशिष्टता है जो मध्यवर्गीय अभाव-असुविधाओं से भरपूर जीवन की त्रासद स्थितियाँ इसकी विश्वसनीयता सिद्ध करती हैं। कैसा समय आ गया है कि "किसी गहरे आघात से जैसे कुछ लोगों की याददाश्त चली जाती है उसी तरह उसकी हँसी चली गई थी।

कब चली गई थी, याद न था। कितनी चोटें खाने के बाद ऐसा हुआ था, इसका कोई हिसाब न था। पर वह हँसना चाहता था, क्योंकि हँसना उसे जरूरी लगने लगा था।'' जीवन की सबसे स्वाभाविक क्रिया से वंचित रह जाना सर्वाधिक त्रासद स्थिति है। निजी कंपनी में असिस्टेंट मैनेजर देवेश को बार-बार प्रमोशन से वंचित रहना पड़ता है। पत्नी, चीनू, रिंकी की ख्वाहिशें सपने बन जाती हैं। बॉस बत्रा से वह सीधा पूछता है। शामनाथ की तरह उसे प्रसन्न रखना नहीं चाहता। वह अपना आक्रोश और गुस्सा वह पार्टी में विचित्र ढंग से अभिव्यक्त करता है। कभी कुत्ते की तरह भौंकने लगता था तो कभी सुअर की तरह गुर्राने लगता था। सत्ता को धत्ता बताना, उसका विरोध करना और प्रतिरोध करने का साहस प्रदर्शित करना सचमुच नई सुबह का द्योतक है।

पारिवारिक मूल्यबोध के निरंतर ह्रास से चिंतित कथाकार ने 'कभी नहीं आएगी गंगा', 'कोई है' जैसी कहानियाँ लिखी हैं। उल्लेख किया जा सकता है कि इस कथाकार की कोई भी कहानी एक आयामी नहीं है। पारिवारिक संदर्भों से युक्त कहानी में सामाजिक, राष्ट्रीय संदर्भों का भी समावेश होता है। एक बात और भी है कि इसकी कहानियाँ जीवन के विविध संदर्भों से युक्त हैं। उनसे गुजरकर ऐसा प्रतीत होता है कि ये कहानियाँ हमारे इर्द-गिर्द की घटनाओं से रची गई हैं।

अपने दूसरे कहानी संग्रह 'श्यामलाल का अकेलापन' में संजय ने भिन्न स्वाद की कहानियाँ लिखी हैं। यहाँ तक आते-आते उनकी कथादृष्टि का वितान बढ़ा है। भूमंडलीकरण रूपी दैत्य की काट वे लोक में ढूँढ़ते हैं। मनुष्य विज्ञापन का पर्याय बनता जा रहा है। यह मनुष्यता के समक्ष बहुत बड़ा खतरा है। पूँजी ने विज्ञापनों के सहारे अपना मायाबल प्रसारित किया है। घर के अंदर हो या दरवाजे के बाहर होर्डिंग, विज्ञापन और प्रचारतंत्र का राज है। 'श्यामलाल का अकेलापन' कहानी की शुरुआत ही हमें गंभीर रूप से चिंतित करती है—''क्या इंसान और होर्डिंग में कोई समानता हो सकती है? भले ही यह एक बेतुका सवाल लगे, पर श्यामलाल का मानना था कि आज हर आदमी एक होर्डिंग में बदलता जा रहा है, एक ऐसी विशाल रंगीन होर्डिंग जिस पर प्रोडक्ट का विज्ञापन चमक रहा हो।'' कहा जा सकता हैं कि आज घर में, ड्राइंग रूम ही नहीं, बेड रूम में बाजार आ गया है। उदारीकरण की नीतियों ने मनुष्य को व्यक्ति में ही नहीं वस्तु में तब्दील करने लगा है। संवेदनहीन संसार में तनिक संवेदना से युक्त मनुष्य साफ देखता है—''हर कोई सिर पर बैनर और पोस्टर चिपकाए घूमता है। उनके बीच लगता है जैसे मैं और छोटा होता जा रहा हूँ। केंचुआ बन गया हूँ एकदम।'' इससे निपटने के लिए श्यामलाल ने एक अद्भुत तरीका निकाला। सिक्यूरिटी गार्ड वाले रूम में लोकगीत गाते हुए सो जाता है। संजय कुंदन कहानी का समापन करते हुए लिखते हैं—''इतना तरोताजा बहुत दिनों के बाद महसूस किया था उन्होंने।''

आशय यह कि हमारे लोक में वह शक्ति है जो भयानक स्थितियों में भी हमें तरोताजा रख सकती है। उससे जुड़ने की जरूरत है। पूँजीवादी शक्तियाँ तो हममें अकेलापन की भावना भरती हैं। स्वार्थकेंद्रित करती हैं। हीनमन्य बनाती हैं। संजय की अपनी आरंभिक कहानियों में डिटेल्स अधिक होते थे। लेकिन परवर्ती कहानियों में गजब का कसाव है।

भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण ने मनुष्य जाति को धोखे और छलावे में रखा। मुक्त बाजार के नाम पर कंपनियों तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने छँटनी शुरू कर दी। 'डेड हेड्स' घोषित कर तीस प्रतिशत कर्मचारियों की छँटनी शुरू कर देती है। 'जिंदगी एक मैनेजमेंट' ऐसी ही कहानी है। कार्पोरेटी कॉल्चर के विरोध में नौजवान अर्पित का खड़ा होना सुखद प्रतीत होता है। भले ही उसका बॉस, उसकी प्रियतमा अपर्णा और कुछ अन्य कर्मचारियों के लिए वेल्यू, इंसानियत आदि व्यर्थ प्रतीत हो लेकिन अर्पित दुनिया में हर संबंध किसी स्वार्थ पर टिके होने की बात को अस्वीकार करता है। वह अपने हाथों से कर्मचारियों की छँटनी नहीं करता है। वह कंपनी ही छोड़ देता है। इसी तरह 'कत्ल की रात' कहानी के माध्यम से नौकरीजीवी आईपीएस अधिकारी प्रकाशकांत, प्रोफेसर कृष्णबिहारी और पत्रकार अवधकिशोर की अवसरवादिता, स्वार्थपरायणता, महत्त्वाकांक्षा आदि का खुलासा होता है। उच्च पदाधिकारियों से सामाजिक स्थिति में बदलाव की कोई उम्मीद नहीं है। सभी इस्तीफे की बात तो करते थे लेकिन अवसर मिलते ही उनके विचार कितनी जल्दी बदल जाते हैं, इसका चित्रण मिलता है।

संक्षेप में संजय कुंदन की कहानियाँ सामाजिक और राजनीतिक चिंताएँ प्रस्तुत करती हैं। आर्थिक समस्याएँ भी प्रस्तुत करती हैं। 'केएनटी की कार', 'मेरे सपने वापस करो', 'कभी नहीं आएगी गंगा' और 'श्यामलाल का अकेलापन' कहानियों से संजय कुंदन की पहचान बनती है। कहीं-कहीं कसाव और भाषिक वैविध्य का अभाव खलता है। ग्रामीण जीवन का यथार्थ भी परिलक्षित नहीं होता है। उम्मीद है, आनेवाली कहानियों में संजय कुंदन इस ओर ध्यान देंगे।

कहाँ टिक पाती है ख्वाबों की चमक जिंदगी के भूरेपन में

कविता की दुनिया से चलकर कथा संसार में प्रवेश करने वाले प्रतिभाशाली हरिओम के 'अमरीका मेरी जान' (2009) कहानी संग्रह ने पाठकों को खूब लुभाया। यह युवा कथाकार किस्सागो है। किस्से सुनाकर पाठकों को बाँधे रखता है। छोटे-बड़े किस्सों और कथाओं के माध्यम से समकालीन मुद्दों पर अपनी चिंता जाहिर करता है। कहना न होगा कि उसकी चिंता के केंद्र में प्रगतिशीलता है। पक्षधरता है। आम आदमी के

प्रति प्रतिबद्धता है। विषय तथा भाषिक वैविध्य से भरपूर हरिओम की कहानियाँ स्पष्ट रूप से पहचानी जाती हैं। गाँव, कस्बा, महानगर तथा विदेश की पृष्ठभूमि में रची गई उनकी रचनाएँ अपनी अलग पहचान बनाती हैं। भाषा पर असाधारण अधिकार और जन-भाषा एवं लोक में प्रचलित भाषा के प्रयोग से उनकी कहानियाँ अधिक प्राणवंत प्रतीत होती हैं। अस्तु हरिओम युवा रचनशीलता के महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं।

6 दिसंबर, 1992 को राममंदिर-बाबरी मस्जिद की घटना ने पूरी दुनिया में काला दिवस के रूप में प्रस्तुत किया तथा सांप्रदायिक सौहार्द्र को बहुत अधिक नुकसान पहुँचाया। 11 सितंबर, 2001 को अमरीका के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हवाई जहाज से आक्रमण हुआ। दरअसल, ये दोनों घटनाएँ महज घटनाओं के रूप में नहीं हैं। धर्मोन्माद की स्थिति में मानवता किस कदर बौनी और ठिगनी हो जाती है, उसका भी उदाहरण है। सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् अमरीकी साम्राज्यवाद का वर्चस्व जारी हो जाता है। अकेली महाशक्ति के रूप में अमरीका की तूती बोलती है। तमाम राष्ट्रनायकों के साथ-साथ आम जन का भी अमरीका के प्रति घोर आकर्षण उत्पन्न होता है।

हरिओम की कहानियों का कथा-क्षेत्र काफी खुला हुआ है। भारत, पाकिस्तान, ईराक, मिस्र, लेबनान, सउदी अरब, अमरीका तक व्याप्त है। विश्व का एक बड़ा भू-भाग 'अमरीका मेरी जान' कहानी में विशिष्ट समय-संदर्भ में उपस्थित हुआ है। सच है कि उस विस्तृत भू-भाग का अंकन करना कहानीकार का ध्येय नहीं है। लेकिन उन देशों के प्रमुख अभिलक्षणों को कहानीकार ने कथा-सूत्रों में पिरोने का प्रयास किया है। राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रमों को कहानी के रूप में प्रस्तुत करना आसान नहीं होता है। हरिओम ने कठिन काम को अपनी शक्ति से आसान ही नहीं रोचक भी बनाया है। मसलन भारत के 'इस शहर' की जब चर्चा होती है तो उसके बहाने वहाँ के लोगों की मानसिकता, ज्ञान-अज्ञान, आदि को पूर्णता के साथ उकेरते चलते हैं। सब्जी विक्रेता आफताब मियाँ, उसके पुत्र मोबीन, सब्जी विक्रेता यूनियन का नेता फखरू मियाँ, हरप्रसाद आटा चक्की वाला, आरा मशीन वाला अदनान आदि के बहाने शहर के लोक को उघाड़ते चले जाते हैं। हिंदू-मुस्लिमों के बीच सौहार्द्रपूर्ण और सौमनस्य की स्थिति बनी हुई थी। क्रिकेट और सिनेमा, दारू-भाँग आदि में युवा-पीढ़ी डूबी हुई है। ऐसे में एम.एल.ए. की चुनाव तैयारी शुरू होती है। राजनीति अपना गंदा खेल शुरू कर देती है। सांप्रदायिक दंगे प्रायोजित करवाये जाते हैं। एम.एल.ए. की साजिश से कुछ शरारती तत्त्वों ने चुपचाप एक साथ ही परताप के ढाबे और अदनान मियाँ के लक्कड़खाने में आग लगा दी। 'बाहरी षड्यंत्र' करार दिया गया। सत्ता की चालाकियों को कथाकार भली-भाँति समझता है—''इधर जाँच समिति ने अपना काम शुरू किया और उधर अमरीका के वर्ल्ड टावर में हवाई जहाज घुसा। फर्क

हुआ था कि इस छोटे शहर की छोटी मंडी में यह घटना रात के अंधेरे में हुई थी और दुनिया के सबसे ताकतवर देश के सबसे बड़े व्यावसायिक ठिकाने पर यह हमला हू-ब-हू हुआ था।''

निरपराध मोबीन को आतंकवादी घोषित करना हमारी सत्ता और व्यवस्था की असलियत को उजागर करता है। आतंकवाद का जन्मदाता अमेरिका है तो देश के राजनेता हैं। दरअसल अमेरिका वह देश नहीं है जिसे यूएसए कहते हैं। जहाँ भी सत्ता और वर्चस्व कायम रखने के लिए जाति, धर्म, संप्रदाय आदि को माध्यम बनाकर लोगों को आपस में मारा जाता है। सांप्रदायिकता की विष-बेलि बोई जाती है, वहाँ अमरीका है। यानी अमरीका कोई स्थान विशेष नहीं है। यह एक घातक प्रवृत्ति है। मुजफ्फरनगर हो या फैजावाद, बिहार हो या असम, कहीं भी सांप्रदायिक दंगे फैलाने में राजनेताओं का ही हाथ होता है। जिस अमरीका या सत्ता के प्रति आमजन से लेकर अभिजन का इतना मोह और आकर्षण रहता है हरिओम ने उसकी कलई उतार कर रख दी है। कहानी का अंतिम वाक्य अत्यंत व्यंजनाधर्मी है—''सिर्फ आफताब मियाँ एक बोरे पर कुछ सब्जियाँ रखे हुए आज भी यह सोचते हैं कि अमरीका कौन है और उनके बेटों से उसकी क्या दुश्मनी है?'' कहना न होगा कि हरिओम की कथावृत्ति आफताब मियाँ जैसे मेहनतकश वर्ग में रमती है। संकटपूर्ण समय में मनुष्य और मनुष्यता का फिर से अन्वेषण करना उनकी कथादृष्टि है। संघर्षशील व्यक्तित्व और आत्मविश्वास को पुनर्प्रस्तुत करना उनका असली मकसद है।

सांप्रदायिकता मनुष्य विरोधी है। इसका जन्म संकीर्णता से होता है। यह लोगों को भरमाती है, भटकाती है। विभिन्न समुदायों में वैमनस्य फैलाती है। यह संस्कृति का मुखौटा पहनकर आती है ताकि उसके असली रूप से लोग परिचित न हो सकें। 1934 में प्रेमचंद ने 'सांप्रदायिकता और संस्कृति' शीर्षक लेख में अपनी चिंता प्रकट करते हुए लिखा—''सांप्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह गधे की भाँति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति की खाल ओढ़कर आती है।'' हरिओम ने अपने समय की सांप्रदायिकता के भयावह रूप को उसके सूक्ष्म रूप को अथवा उसकी बारीकियों को सार्थकता के साथ प्रस्तुत किया है। 'मियाँ' एक ऐसी कहानी है। रहमत की आधी से अधिक जिंदगी गाँव में अन्य मतावलंबियों के साथ गुजर जाती है। उन्हें पता भी नहीं था कि हिंदू-मुसलमान में कोई भेद भी होता है। कोल्हू चलाकर सरसों का तेल पेरना और मनुष्य मात्र की, गाँव वालों की मदद करना उनका एकमात्र धर्म था। पूरे गाँव में सौमनस्य की स्थिति थी। वह गाँव का अभिन्न अंग थे—''गाँव की कहानी से अलग रहमत की कोई अपनी

कहानी न थी। गाँव के चप्पे-चप्पे में रहमत शामिल थे। शायद रहमत की ज़िंदगी में भी गाँव पूरा का पूरा शामिल था।'' गाँव में पूज्य महात्मा का पधारना, प्रवचन करना, ज्ञान और भक्ति की गंगा बहाने का नाटक करना, रहमत को मियाँ संबोधित करना, शाम तक एक सौ आठ छोटे त्रिशूल बनाने के लिए कहना आदि शांति, मैत्री और सद्भाव को बाधा पहुँचाने का उपक्रम है। 'अमरीका मेरी जान', 'मियाँ' जैसी कहानियाँ बड़ी प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण इस दृष्टि से भी है कि सांप्रदायिकता की आग बहुत अधिक धधकती जा रही है। 'मियाँ' के माध्यम से गाँव अपनी असलियत के साथ प्रस्तुत हुआ है। ग्रामीण जीवन ही नहीं बल्कि ग्रामीण यथार्थ का मनोज्ञ चित्रण भी मिलता है। सांप्रदायिकता की जड़ तक पहुँचकर उसे कथा सूत्र में पिरोना इस युवा रचनाकार की बड़ी खूबी है।

हरिओम के कथा-कौशल और कथा-सामर्थ्य, उनके सरोकार और उनकी संबद्धता का अनुपम उदाहरण है 'मुँहनोचवा'। यह एक लैंडमार्क कहानी है। इसमें बहुआयामिता है। समकालीन संदर्भ, लोक, स्त्री की अपार संघर्षशीलता, स्त्री स्वातंत्र्य, राजनीतिक दाव-पेंच, मर्दवादी वर्चस्व आदि विविध संदर्भों से युक्त यह कहानी दीर्घ काल तक पाठकों को कुरेदते रहने की सामर्थ्य रखती है। नेताजी अपने राजनीतिक लाभ के लिए किस हद तक जा सकते हैं, इसका भी सुंदर परिचय मिलता है। पाठक मजबूर हो जाते हैं सोचने के लिए कि कैसा जमाना आ गया जहाँ सत्ता या लाभ के लिए आत्मीय जनों को जिंदा दफनाया जा रहा है—''अग्निवर्षा...। बहू का कमरा धू-धू कर जलने लगा। कमरा जला तो फिर बहू भी जलने लगी। अपने ज्ञान, तर्क, सोच और संघर्ष के साथ। बहू का कमरा बन्द था इसलिए उसकी चीखें मुँहनोचवा के अलावा किसी ने नहीं सुनी किन्तु नेताजी की मर्मस्पर्शी चीखें काली हवा में तैरती रहीं। वे मुँहनोचवा...मुँहनोचवा...चिल्लाते रहे। मुहल्ले वाले खामोश अपने-अपने घरों में दुबके रहे। ईश्वरीय कोप के समक्ष सब लाचार थे। ऐसा नहीं कि नेताजी सिर्फ चीखे थे। उन्होंने पुत्र सहित बहू की रक्षा का प्रयास भी किया था और इस प्रयास में अपने हाथ जला बैठे थे। आखिर ईश्वर की इच्छा के आगे किसका जोर चलता है...।''

हरिओम के कथा-कर्म में गाँव अपने पूरेपन में आता है। परिस्थिति निर्माण और पात्रों के सृजन में उनकी चरित्र-चित्रण करने में जबर्दस्त पकड़ है। किस्सागो होने के कारण कथा में रोचकता बनी रहती है। गाँव की बोली-बानी का कहानी में प्रयोग से लंबे समय तक कहानी स्मृति में रहती है। विश्वसनीयता का कोई अभाव नहीं रहता है। 'मियाँ' हमें ठहर कर चिंता करने के लिए विवश करती है तो 'लबड्डा' पढ़ने के बाद हम कुछ देर तक दंग रह जाते हैं। इस कहानी की शांती उर्फ लबड्डा का चरित्र रांगेय राघव की 'गदल' की याद दिलाता है। लबड्डा गदल की तरह लड़ाकू, निडर,

संघर्षशील, वाक-पटु है। ससुराल में आकर लबड्डा का नाम पड़ता है और माँ-बाप, दादा-दादी या नाना-नानी में से किसी का दिया हुआ नाम खुद भी भुला बैठती है। अस्मिता संकट है लेकिन लबड्डा को संकट का निदान पता है। वह जानती है कि उसकी सत्ता को ठुकराने वालों के साथ कैसा आचरण करना है अथवा किस रूप में अपनी अस्मिता बरकरार रखनी है। फौजी से भिड़ जाना, उसके खानदान को सरापना, उससे न दबना, वाक्-युद्ध में किसी को भी पराजित करना लबड्डा के व्यक्तित्व का परिचय है। लबड्डा के व्यक्तित्व के बारे में गाँव में कई नारे प्रचलित थे। उनमें से एक है—

> *''लाल लबड्डा जब लुहकारैं*
> *सब मरदन का मिरगी मारैं।''*

कहानीकार ने बड़ी संजीदगी के साथ इस चरित्र को निर्मित किया है। उनमें न जर्जर परंपराओं के प्रति मोह है और न किसी तरह का कोई अंधविश्वास। अपने पति का अपमान वह सह नहीं सकती। वह जवाब देती है—''हे बूढ़ा! जबान सम्हार के बोला नाहीं तौ नट्टी फाड़ देब। हमको गूँगी ना समझिउ। पानी हम रस्ते मा गिरावा है, तोहरे छाती पर नाहीं। ई रस्ता तोहरे बाप कै ना है।'' कहानीकार की टिप्पणी पठनीय है—''लबड्डा का रुतबा-रंग ऐसा था कि उसके सामने पहाड़ भी तनकर नहीं खड़ा हो सकता था।''

हरिओम की कहानियों में विषय संदर्भ एवं शैल्पिक वैविध्य हमारा बराबर ध्यान आकर्षित करते हैं। प्रयोगधर्मिता इनकी कहानियों में बराबर दिखाई पड़ती है। लेकिन, यह चौंकाने के लिए नहीं है। कथा की गति बिल्कुल जीवन की गति के अनुरूप होती है। वे कुछ ऐसी गति तेज नहीं करते हैं कि कहानी अविश्वसनीय प्रतीत हो। ऐसा लगता है कि वे एक साक्षी के रूप में उपस्थित होकर बिना किसी पूर्वग्रह के कहानी सुना रहे हैं। 'जगधर की प्रेमकथा' शीर्षक कहानी में भी ग्रामीण जीवन, लोक संस्कृति और आचार-विचार को पंडित जगधर के माध्यम से प्रशंसनीय ढंग से व्यक्त करते हैं। व्यापक संवेदनायुक्त उस कहानी में बाल बच्चों वाली महतिन से जगधर का प्रेम अभिव्यक्त हुआ है। बाबा जगधर नेत्रहीन हैं लेकिन महतिन से वे अत्यधिक प्रेम करते हैं—''महतिन! तुम सबके अलावा मेरा इस संसार में है ही कौन? बिना संकोच जो जरूरत हो माँग लिया करो। इस अकेली काया को सुख-भोग की अब कितनी जरूरत रह गई है?'' अथवा ''अगर ईश्वर ने मेरी आँखें न छीनी होतीं तो मैं महतिन को देख सकता।'' अपनी जायदाद भी जगधर ने महतिन के नाम कर दी। इस कहानी में महतिन की एक बात पाठक को विह्वल कर देती है—''बाबा, इस गरीबन के पास इज्जत के अलावा है भी क्या?''

हिंदी में कैंपस जीवन पर ही केंद्रित कथाएँ लिखी तो गईं हैं लेकिन उसकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। हरिओम की 'ये धुआँ धुआँ अंधेरा' कहानी का उल्लेख भर किया जा सकता है। कथाकार की अन्य कहानियों में जो मार्मिकता है, इसमें उसका अभाव दिखाई पड़ता है। 'डिटेल्स' की ओर उसका ध्यान अधिक नहीं गया होता तो यह कहानी छात्रावस्था या युवा पीढ़ी की कथा के रूप में बेहतर कहानी साबित हुई होती। खुशी की बात है कि हरिओम के यहाँ ऐसी अप्रभावकारी कहानियाँ बहुत कम हैं। 'बया' के अक्टूबर-दिसंबर, 2013 अंक में प्रकाशित 'वर्षा' कहानी प्रकाशित हुई थी। कहानीकार ने अपने नीदरलैंड्स—प्रवास के अनुभव पर यह कहानी लिखी थी। कहानी नायक मार्टिन और 'वह' की प्रेम कथा का आधार 'बर्फ' कहानी है। दस साल के साथ रहने पर भी किसी कारण से विच्छेद की कहानी। बिल्कुल भिन्न आस्वाद की है। भाषा पर जबर्दस्त अधिकार। कहानी पढ़ते समय लगता है कि कहानी नहीं, कविता है। रचनाकार का भावोद्गार। बावजूद इसके इस लंबी कहानी वैसी नहीं बन पाई है जैसे कि 'रामराज की बग्घी', 'तितलियों का शोर', 'जिंदगी मेल', 'जश्न' या 'दास्तान-ए-शहादत'। कहना न होगा कि हरिओम की कहानियाँ अपने समय का महत्त्वपूर्ण दास्तान बयान करती हैं।

बदलते परिदृश्य के स्पंदन को अभिव्यक्त करने वाली कहानियाँ

हिंदी कथा साहित्य में गीताश्री एक परिचित नाम है। हिंदी की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिकाओं—हंस, नया ज्ञानोदय, पाखी, कथादेश, इरावती, बहुवचन, लमही, निकट, सम्बोधन, आउटलुक, शुक्रवार आदि में आपकी कहानियाँ निरंतर प्रकाशित और चर्चित हुई हैं। अब तक गीताश्री के तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'प्रार्थना के बाहर और अन्य कहानियाँ' (2013), ' स्वप्न, साजिश और स्त्री' (2015), और 'डाउनलोड होते हैं सपने' (2017)। इनकी कहानियों में गजब की पठनीयता होती है जो किसी भी कहानी की प्राथमिक विशेषता मानी जा सकती है। यह इसीलिए कि अगर कहानी पढ़ी ही नहीं गई तो फिर उस पर आगे बातचीत क्या होगी? भला उस पर विचार कैसे हो सकता है? दूसरी खूबी इनके कथा साहित्य की यह है कि यह कहानीकार अपने परिवेश और समय में घटित घटनाओं के कुछ खास चित्रों को अपनी रचनाओं में उकेरने की कोशिश करती हैं। कहना न होगा कि इस प्रयास में उसे अपेक्षित सफलता मिली है। यह बात अलग है कि कहानीकार की दृष्टि किसी खास परिवेश और समय पर रही है, लेकिन इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता है कि कहानी में चित्रित विषय हमारे समाज में रोज-ब-रोज घटित होने वाली घटनाएँ ही हैं, भले ही वह समग्र समाज का हिस्सा नहीं है। अतः जीवन की सचाई को ही गीताश्री कथा-सूत्र में पिरोती हैं।

परिवेश को सजगता और रोचकता के साथ चित्रण करने में भी कथाकार सफल रही हैं।

गीताश्री के रचना संसार की केंद्रीय चिंता स्त्री है। विभिन्न संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों में स्त्री जीवन की स्थितियों को उद्घाटित करने में इनकी कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। उल्लेख करना आवश्यक है कि गीताश्री की स्त्री जयशंकर प्रसाद की नारी नहीं है। वह रचनाकार के समकाल की है। उसके अपने स्वप्न हैं और दृष्टि भी। उसे पता है मर्दवादी अत्याचार और दमन। शोषण और व्यभिचार के सामने वह मूक बनकर रहना नहीं चाहती, प्रतिवाद करती है। विरोध करती है। सबसे बड़ी बात यह कि यह स्त्री मरना नहीं, जीना चाहती है और जितने दिनों तक जीवित रहती है उसे अपनी शर्त पर जीवन को भोगते हुए जीना चाहती है। परंपरा की जकड़बंदी से वह मुक्त होना चाहती है। गुलामी से उसे घृणा है। आजादी से बेहद प्रेम है। इस स्वतंत्रता को 'मर्दवाद' उच्छृंखलता का नाम दे तो भी उसे कोई परवाह नहीं है। यह स्त्री अपने व्यक्तित्व और अपनी पहचान स्वयं निर्मित करना चाहती है। एलिट स्त्री हो या मध्यवर्गीय स्त्री, महानगर की हो या कस्बे की अथवा गाँव की, उसके जीवन की त्रासद स्थितियों को ही अंकित करना कथाकार का अभिप्रेत नहीं है। कामकाजी, घरेलू स्त्री, आदि के जीवन की विडंबनाओं को भी गीताश्री बड़ी शिद्दत के साथ प्रस्तुत करती हैं। अत: यह स्पष्ट है कि उनकी कथा दुनिया में ऊपर से भले ही कथा एक जैसी लगे लेकिन वहाँ वैविध्य का अभाव नहीं है। स्त्री जीवन की अनेक परतों को अपने ढंग से रूपायित करने में भी रचनाकार को विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

गीताश्री की कहानी की नायिका मर्दवादी समाज व्यवस्था की साजिशों को बेरहमी से पेश करती है। वह इस व्यवस्था के विरुद्ध अत्यंत मुखर भी है। लेकिन उसकी मुखरता स्लोगनधर्मी नहीं है। नारी मुक्ति कामना केवल ' विशफुल थिंकिंग' बनकर नहीं रह गई है। 'प्रार्थना के बाहर' की रचना हो या प्रार्थना, 'लबरी' की माला हो अथवा 'गोरिल्ला प्यार' की अर्पिता, 'डायरी, आकाश और चिड़िया की रागिनी और हिमानी, मेकिंग ऑफ बबीता सोलंकी' की बबीता 'माई री मैं टोना करिहों' की मिताली हो अथवा 'ड्रिम्स अनलिमिटेड' की राइमा, सोनिया आदि तमाम स्त्री-पात्र हमारे समाज की पुरुषवादी मानसिकता को बयान करती हैं। यह निश्चित है कि ये स्त्रियाँ भूमंडलीकरण के दौर की हैं। अत: उनकी कैरियर संबंधी ऊहापोह, कश्मकशभरी जिंदगी का चित्रण तो यहाँ है ही, जीवन के तनाव और घुटन भी हैं। लेकिन उनकी अपने ढंग की संघर्षशीलता और निजी पहचान के लिए जद्दोजहद भी अंकित हैं। अक्सर आज की पढ़ी-लिखी, नौकरीपेशा स्त्री के बारे में पुरुष समाज की सोच है कि ऐसी स्त्रियों की कोई समस्या ही नहीं है। लेकिन गीताश्री की कहानियों से गुजरकर

यह पता चलता है कि कहाँ कुछ भी तो नहीं बदला। स्थिति जस की तस बनी हुई है। सदियों से चला आ रहा स्त्री का करुण विलाप आज भी जारी है। ताउम्र कैद और मुक्ति की छटपटाहट के बीच स्त्री जीवन एवं उसके पीड़ित संसार का चित्रण करती हैं गीताश्री की कहानियाँ। कहानीकार ने स्पष्ट रूप से कहा है—"अपने समय में झाँकने और कई बार उसके आगे झाँकने का दुस्साहसिक सपना देखती हूँ। पुरुष वर्चस्ववादी सत्ता की परतें उधेड़ना चाहती हूँ। घोर नैराश्य की स्थिति में भी एक ज़िद की तरह...। उसने यह जो कहा है कि जब मेरी कहानियों की स्त्रियाँ वाचाल दिखती हैं, तब उनकी इस वाचालता की तह में जाना जरूरी है।" (चिड़ियाएँ जब ज्यादा चहचहाती हैं तो यह न समझिए कि वे उत्सव मना रही हैं। वे यातना में होती हैं।)

गीताश्री अपने कथा पात्रों को भी परिचित संसार से ले कर आती हैं। कपोलकल्पित पात्र और घटनाओं को कहानी में स्थान देना इस रचनाकार का स्वभाव नहीं है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण और बाजारवादी अर्थव्यवस्था ने मौज करने, मजा लूटने और भोग में लिप्त रहने का गुरुमंत्र दिया है। नये को यूँ कहें कि नव्यतम को हासिल करने की अंधी होड़ में व्यक्ति अपनी जड़ और अपने नाभि-नाल संबंध को पूरी तरह से विस्मृत करता जा रहा है। इसी क्रम में उसका बहुत कुछ छूटता जा रहा है। गीताश्री लिखती हैं—"थोड़ा कुछ पाने के लालच में कितना कुछ छूट जाता है। मैं इसी 'छूटते' जाने को रचनाओं में पकड़ने की कोशिश करती हूँ। मेरे लिए यही अंतिम सत्य है।"

प्रार्थना जैसी मस्ती में दिखाई देने वाली केयरलेस, अपनी मर्जी से जीने वाली, मूड़ी लड़केबाजी करती है, हमबिस्तर भी होती है तो स्वाभाविक है कि रचना जैसी पारंपरिक युवती के लिए यह ग्राह्य नहीं होती है। रचना से अर्चना कहती है—"देख रचना तू नहीं समझ पाएगी यह सब। मैं समझाना भी नहीं चाहती। बस इतना समझ ले कि मेरे लिए यह कुंठाओं से मुक्ति का मार्ग है। ये मेरे तनाव और बोरियत को दूर करके मुझे एकाग्र बनाता है मेरे लक्ष्य के प्रति...अब कोई कह सकता है कि कैसा बेहूदा तर्क है। लेकिन उपभोक्तावादी समय में नई पीढ़ी बेहिचक ऐसा तर्क प्रस्तुत कर रही है तो रचनाकार उसकी अभिव्यक्ति कैसे न करे। इस पीढ़ी की मानसिकता को गीताश्री भली-भाँति प्रस्तुत करती है इसी 'प्रार्थना के बाहर' कहानी में—"देख...मेरे लिए कोई एक व्यक्ति महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है मेरा रास्ता...मेरी पसंद...मेरा आनंद...और आनंद का कोई चेहरा नहीं होता...जो जितनी दूर साथ चले...चले...नहीं तो भाड़ में जाए। मैंने किसी से कमिटमेंट नहीं किया ना लिया। I do not indulge in middle class mentality I have only one life and I want excitement without regret that is it. कुछ ऐसा कर गुजरना है जिससे लोग याद रखें...बस।" प्लाट के

अनुसार कथा होगी, घटनाएँ होंगी, परिस्थितियों का निर्माण होगा और पात्रों का मनोविश्लेषण भी। इसलिए गीताश्री की कहानियों पर राय बनाते समय या उन पर विचार करते समय उपर्युक्त मुद्दों पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। इस कहानी के अंतिम भाग में रचनाकार का सरोकार स्पष्ट होता है—''एक दफ्तर, एक घर। दोनों जगह उसका कोई वजूद नहीं। दोनों जगह मालिक कोई और है...और उसका वक्त गुलाम से ज्यादा कुछ नहीं। भली लड़की बनकर उसे गुलामी मिली और यह जो बुरी लड़की भी उसने अपने तरह की जिंदगी जीने की, अपना कैरियर चुनने की आजादी पायी...अपना वजूद बनाया।'' जाहिर है कि 'भली लड़की' और 'बुरी लड़की' की स्थापनाएँ जो हमारे समाज ने दी हैं वह कितना हास्यास्पद है। गीताश्री का रचनाकार उन जर्जर स्थापनाओं के समक्ष प्रश्नचिह्न खड़ा करता है और चुनौती प्रस्तुत करता है।

गीताश्री के कथा-संसार में विविधताएँ हैं। यह वैविध्य कथा-संगठन, कथानक, अभिव्यक्ति, शैली आदि के संदर्भ में परिलक्षित किया जा सकता है। उनकी कहानियों में लोक भी अनुपस्थित नहीं है। लोक की पुकार या प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनी जा सकती है। इस कथाकार के निंदक उनकी कहानियों में स्त्री देह को ही देख पाते हैं। उस बिंदु पर बात करते हैं। लेकिन, उनकी कहानियों का गंभीर पाठ हो तो उनमें स्त्री देह से अधिक स्त्री मन की बातें उभरकर आती हैं। 'डाउनलोड होते हैं सपने' की कई कहानियों में यह वैशिष्ट्य दिखाई देता है। इनमें चरित्रों का मनोविज्ञान स्पष्ट रूप से अंकित हुआ है।

इधर की कहानियों से कथा-तत्त्व गायब हो रहा है। सत्यनारायण पटेल जैसे युवा रचनाकारों के यहाँ कथा मौजूद है। खुशी की बात है कि 'कोन्हारा घाट', 'प्रश्न कुंडली', 'डाउनलोड होते हैं सपने' जैसी कहानियों में कथा-सूत्रों का सफल निर्वहन हुआ है। उल्लेख किया जा सकता है कि कथा कहना गीताश्री का उद्देश्य नहीं है। कथा के बहाने अपनी चिंताओं और सरोकारों को उजागर करना ही किसी भी रचनाकार का बड़ा ध्येय रहता है। इस संदर्भ में भी यह लागू होता है। 'कोन्हारा घाट' की फुआ बरसों तक अपनी स्मृति और परंपरा में रहने वाली एक चरित्र है। एक अद्भुत आकर्षण है उनके व्यक्तित्व में। लंबे ठहराव से दूर और अनथक गतिशीलता से यह पात्र पाठकों को बांधे रखती है। फुआ बरसों तक स्मृति में रहने वाली एक पात्र है। उनमें परम्परा और आधुनिकता का द्वंद्व है तो इनका सुंदर समन्वय भी। अक्सर अपने बदरंग झोले को साथ लिए रहने वाली बुआ के लिए झोला जीवन था, सपना था और उसकी अस्मिता भी। झोले के बारे में उनका कहना था—''हमारा झोरा कोई छुइहे मत। ये हमर झोरा न हय, हमर सपना है। हम इस झोरे के सहारे कहीं भी डेरा बना सकते हैं, हाँ। सब रख लो न तुम लोग...हमको कुछ नहीं चाहिए...बस हमको इस झोरे के साथ यहाँ

से निकल जाने दो।'' (डाउनलोड होते हैं सपने) सच है कि फुआ को पर्स का बड़ा शौक था। लेकिन कहाँ तो उनका झोरा और कहाँ है पर्स। इसमें तो जगह भी कितनी कम होती है। इस लंबी कहानी में बुआ के जीवन की कई शेड्स हैं। पत्नी के रूप में, बहन के रूप में, विधवा स्त्री के रूप में और संगीतप्रेमी तथा स्त्री सशक्तीकरण के एक्टिविस्ट के रूप में। कथाकार ने इन रूपों का अत्यंत हृदयस्पर्शी चित्रण किया है। सामाजिक संस्कारों से फुआ जितनी आबद्ध प्रतीत होती हैं वे इन्हें तपाक से छोड़ने में भी पीछे नहीं हटतीं। फुआ तरक्कीपसंद, स्वाभिमानी और सामाजिक संचेतना से भरपूर स्त्री हैं। हाशिए की स्त्री को मुख्यधारा में प्रतिष्ठित करने का उनका सपना कहानी में निनादित हुआ है। अपने अधिकारों के प्रति सचेतन फुआ परिवार वालों से अपनी बोल्डनेस से वसीयत के बारे में साफ-साफ जानना चाहती हैं। विधवा हो जाने के बाद कौतुकतावश लड्‌ड उनकी माँग पर सिंदूर और माथे पर तेल लगाने से वे शर्मसार हो जाती हैं। अर्थात् यहाँ फुआ कोई महान् क्रांतिकारी कदम उठाकर पूरी व्यवस्था को तहस-नहस कर डालना नहीं चाहतीं। न ही नारीवाद का झंडा उठाकर चल पड़ती हैं। फुआ सामाजिक संस्कारों, नियमों और पाबंदियों के घेरे में बंधे रहना भी नहीं जानतीं। वे कुछ करना चाहती हैं, अपने लिए नहीं बल्कि दुखियारी बाल-विधवाओं के लिए— ''मुझे बन्नी गौरेया देवी के नाम से किशोरी निकेतन बनवा कर दे दीजिए। हम वहाँ बाल-विधवाओं को रखेंगे, पढ़ाएँगे, लिखाएँगे, लूर सिखाएँगे, किसी लायक बनायेंगे। आगे जिनगी शुरू करना चाहें तो उसमें भी मदद करेंगे।'' (पृ. 27) ध्यान दिया जाना चाहिए कि यह याचना नहीं है, अपने अधिकार की प्राप्ति के लिए दृढ़तापूर्वक पेश किया गया उद्‌गार है।

'ट्राम नम्बर 5 और बोहेमियन धुन' शीर्षक कहानी विदेश की पृष्ठभूमि पर लिखी गई है। मैगनोलिया उर्फ हाना के माध्यम से गीताश्री ने यह अंकित किया है कि स्त्री अपने सारे कष्ट और कषणों को सहते हुए भी कैसे अपने तथा सामने वाले के जीवन में 'न्यू वर्ल्ड सिंफनी' भर देना चाहती है। इस कहानी में कथाकार की भाषिक सामर्थ्य का भी पता चलता है। कहानी में कविता का रूप बार-बार झाँकता है। हाना तमाम समस्याओं से घिरे रहने पर भी देवप्रकाश को 'न्यू वर्ल्ड सिंफनी' सुनाकर बसंत का स्वागत करना चाहती है। जिजीविषा को बनाए रखने में स्त्री की भूमिका को रेखांकित करना कथाकार की जीवनदृष्टि का भी परिचायक है। इस संदर्भ में भारत की पृष्ठभूमि में तथाकथित उच्च-मध्यवर्ग स्त्री जीवन में व्याप्त विसंगतियों और मुसीबतों के आधार पर लिखी गई कहानी 'तीन देवियाँ' उल्लेखनीय है। दिव्या, शानवी और दृष्टि तीन देवियाँ हैं ड्राइवर बालम सिंह की दृष्टि में। पुरुष होते हुए भी वह इन लड़कियों की कहानी का अनसुना दर्द महसूस करने में समर्थ होता है। अत: यह स्पष्ट है कि यह

कथाकार पुरुष विरोधी नहीं, बल्कि पुरुषवादी मानसिकता विरोधी है। इस कहानी में दिव्या मैडम के पति के बारे में उल्लेख है—''दिव्या मैडम का पति भी वैसा ही था जैसे हम सब होते हैं। बीबी को पैर की जूती समझने वाले। मैडम, हम मर्द लोग ऐसे क्यों होते हैं? आखिर हम औरतों को नौकरानी ही क्यों समझते हैं?'' (पृ. 106) कथावाचक के अनुसार विवाह के पूर्व दिव्या चुलबुली, मस्ती में जीने वाली और खूब समर्पण के साथ प्यार करने वाली थी। उसका पति पैसे के लिए कुछ भी करने को तैयार है। धन का बड़ा लोभी। धन के लिए पत्नी को भी किसी से विवाह रचाने के लिए कहने में कोई संकोच नहीं करता। पूँजी के खेल ने तमाम नाते और रिश्तों को तार-तार कर दिया है। कैसा विकट समय आ गया कि पति प्रस्ताव दे रहा है— ''मैं तुझे कागज पर तलाक देता हूँ। रहेंगे हम पति-पत्नी जैसे। पर इंडिया में एक धनी आदमी है उससे एक करोड़ की डील हुई है। उससे तू शादी करके अमेरिका ले आ। उसे वीजा नहीं मिल रहा। कुछ साल रह कर हम उसे यहाँ जमा देंगे। हम फिर कोई दूसरी पार्टी फांसेंगे...।'' (पृ. 107)

मल्टीनेशनल में नौकरी कर रही और मिस इंडिया में शार्ट लिस्टेड हो चुकी शानवी की कहानी भी कम दु:खदायी नहीं है। उसका पति भी नाम के वाश्ते, कागजी रिश्तों में पति है। वह शानवी के शरीर का मालिक बना रहना चाहता है। पति राहुल शानवी को मुक्त नहीं करना चाहता था और शानवी भी उससे मुक्त नहीं होना चाहती थी। दिव्या की तरह यहाँ भी संबंध को ढोया जा रहा है।

दृष्टि के प्रेमी एक के बाद एक आते गये। दृष्टि की देह से खेलते रहे। वे सभी दृष्टि को गुलाम बनाकर रखना चाहते थे। कथावाचक ड्राइवर सुनाता है—''आखिरी प्रेमी के जाने के बाद तो उनको प्रेम से घृणा हो गई। जाते-जाते उसने इनके चेहरे पर तेजाब फेंकने की कोशिश की पर मैम बचा ले गई खुद को। बस कंधा झुलस गया उनका। वहाँ सबको दिखा-दिखाकर खूब रो रही थीं...।'' (पृ. 111) यह प्रेम पोस्ट मेरिटल अफेयर्स था। यहाँ तमाम जटिलताएँ आती हैं जिन्हें कहानी में कथा-सूत्र में पिरोया गया है। कहना न होगा कि तीनों स्त्रियाँ मर्दवादी व्यवस्था से पीड़ित, शोषित और निर्यातित हैं। प्रभा खैतान की पंक्ति याद आती है—''औरत कहाँ नहीं रोती और कब नहीं रोती।'' (आओ पेपे घर चलें, पृ. 54)

'डाउनलोड होते हैं सपने' कहानी ही नहीं अन्य कहानियाँ भी जिंदादिल भाषा में लिखी गई हैं। इसलिए पाठक बड़े चाव से कहानी पढ़ना शुरू करता है और पूरी कहानी पढ़ लेता है। गंभीर समस्याओं को रोचक ढंग से पेश करने की कला कथाकार को मालूम है। झुग्गी में रहने वाली सुमित्रा के शराबी बाप ने अपनी ही बेटी से बदसलूकी की। बेटी दर्द से कराह उठी थी। लेकिन बाप कहता है—''हें-साली नखरे करती है,

एकदम अपनी माँ पर गयी है, शरीर है दर्द तो होगा ही, पहली बार है न, बाद में तो खुद ही मजे आएँगे।'' (पृ. 119) कैसी आसुरी प्रवृत्ति है यह हमारे समाज की? यहाँ पिता पिता नहीं रह गया, मर्द बनकर कन्या का शोषण करने को अपना अधिकार मान बैठता है। घोर चिंता का विषय है। बेटी अपनी माँ से 'पहली बार' के बारे में पूछती है तो मर्यादा उल्लंघन हेतु थप्पड़ तो खाती है लेकिन इससे भी बड़ी चिंता में पाठक डूबता है जब माँ का जवाब सुनता है—''अरे हम औरतें क्या होती हैं? इत्ते लोग गुजरते हैं ऊपर से कि कभी न कभी तो किसी न किसी का पहली बार होता ही है, किसे किसे बताऊँ! चल भाग यहाँ से! हम झुग्गियों की औरतों को इस्तेमाल की चीज समझते हैं लोग, धंधेवालियों पर तो पैसा फूँक आते हैं, हम तो फ्री में हैं।'' (पृ. 120)

सुधा आंटी के माध्यम से देह व्यापार करने वालों की कलई ही नहीं खुली गई है बल्कि स्त्री के शोषण और पतनोन्मुखी समाज की असलियत पर भी गंभीर विमर्श प्रस्तुत किया गया है। कॉल गर्ल, सेक्स वर्कर आदि भी मनुष्य होती हैं और उनके भी सपने होते हैं। रोहित सर ने सुमित्रा की प्रतिभा को पहचाना। अब उसके सपने डाउनलोड होने लगे।

गीताश्री की स्त्री सभी वर्ग और वर्ण से आती हैं। यहाँ केवल खाती-पीती अघाती स्त्री, मध्यवर्गीय स्त्री, मजदूर स्त्री, गरीब परिवार की स्त्री के दास्तां, उनके संघर्ष और उनकी जिजीविषा आदि को कथा के माध्यम से दिखाते हुए कथा-दृष्टि का परिचय प्रदान किया गया है। कहानी चाहे 'मलाई' हो अथवा 'सी यू', 'प्रश्न कुंडली' हो या 'ब्लाइंड डेट', आप एक नई औरत की नई जिंदगी का साक्षात्कार करेंगे। स्त्री के तनाव और सामंती सोच, स्त्री की तकलीफों और मर्दवाद की क्रूरताओं को महसूस कर सकेंगे। सबसे बड़ी बात यह है कि गीताश्री की औरत विकटतम स्थितियों में भी घुटने नहीं टेकती, जूझती, टकराती और जिजीविषा प्रकट करती है।

गीताश्री के कथा-संसार की केंद्रीय चिंता के बारे में जानना है तो 'प्रश्न-कुंडली' की शुरुआती पंक्तियाँ अवतरित की जा सकती हैं—''प्रेम, खौफ, धोखा, दुनिया, रचना, सपना, आकांक्षा, डर, प्रकृति, पानी, बारिश, धूप, बादल, आकाश, पृथ्वी, सौंदर्य, शोख, चंचल, दिल, कविता, लय, गीत, मंदिर, देवता, आशा...।'' (पृ. 51) इस उद्धंताश से कथाकार के रचना-परिसर को जाना और समझा जा सकता है। अतः उसे किसी खास वर्ग की स्त्रियों की रचनाकार कहना उनके लेखन से अन्याय करने के समान होगा।

'प्रश्न-कुंडली' की टैरी कार्ड रीडर स्मिता दुर्रानी हो या अपनी समस्याओं से निजात पाने के उपाय पूछने वाली शिवांगी हो सभी यंत्रणादग्ध हैं। दांपत्य जीवन की

ज्वाला से पीड़ित हैं। लेकिन, कथाकार ने शिवांगी के माध्यम से अपनी जीवन दृष्टि को स्पष्ट किया है तथा आत्मविश्वास से भरपूर स्त्री के नए रूप से परिचित कराया है—"हम सारा सुख एक ही जगह तलाशते रहते हैं, उम्मीद का सारा बोझ एक रिश्ते पर डाल देते हैं...हम उसे अपने हिसाब से ढालना चाहते हैं, नियंत्रित करना और होना चाहते हैं....हम जिंदगी को उसकी विराटता में देख ही नहीं पाते...मैं तलाश करूँगी उसकी...।" (पृ. 63) पूँजीवादी व्यवस्था ने संबंध तक को 'प्रोडक्ट' बना दिया है। गीताश्री इसका विरोध करती हैं। गुलाम मंडी में अपने लिए कोई जगह नहीं देखती है। शिवांगी कहती है—"विवाह उन्हें वस्तु में बदल देता है...वस्तु में...इससे ज्यादा कोई हैसियत नहीं...एक बार वस्तु बनकर जी रही हूँ...मुक्ति का मार्ग खुद को तलाशना होगा। मैं खुद को इस आतंक से बचाए रखने की हिमायती हूँ...।" (पृ. 63-64) 'लौ यू' कहानी की सुषमा दुबे के प्रेमी बनने का नाटक करने वाले उसे उपयोग का सामान मात्र समझते हैं। सदियों से मर्दवादी सोच और वर्चस्व का शिकार बनता हमारा समाज खोखला बनता जा रहा है। जमाना बदल रहा है बड़ी तेजी से लेकिन मानसिकता में कोई बदलाव नहीं आया। ईशा और ईशान के छोटे-छोटे संवाद कहानी के कथ्य को रचनादृष्टि को पुख्ता बनाते हैं। इस कहानी में रचना कौशल का भी सुंदर परिचय मिलता है।

ऐसा नहीं है कि गीताश्री की कहानियाँ केवल स्त्री केंद्रित हैं। स्त्री की समस्याओं, विडंबनाओं, उलझनों के अलावा उसमें समाज और राष्ट्र को लचर बनाने वाली व्यवस्था पर भी उन्होंने नोटिस ली है, उस पर अपनी चिंता व्यक्त की है। कहने का आशय यह है कि एक जागरूक रचनाकार की दृष्टि से यह ओझल नहीं हो पाई है। 'उजड़े दयार में' अथवा 'बदन देवी की मेंहदी का मन डोला' या 'माई री मैं टोना करिहों' जैसी कहानियों में सामाजिक चिंता व्यक्त हुई है, लोक तो है ही। मसलन, 'बदन देवी की मेंहदी का मन डोला' की निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़ी जा सकती हैं—"गाँव में बिजली नहीं, तीन किलोमीटर से पानी लाना पड़ता है, पाँचवीं कक्षा तक का एक टूटा-फूटा स्कूल है और बीमार पड़े तो 17 किलोमीटर दूर साहेबगंज जाना पड़ता है।"

इसी तरह 'ड्रिम्स अनलिमिटेड' कहानी कार्पोरेट कल्चर तथा विज्ञापन की दुनिया के असली चेहरे को उद्घाटित करती है—"हम विज्ञापन की दुनिया में हैं सोनिया, हमारी दुनिया बहुत तेज गति से आगे बढ़ती है, फ्रेम दर फ्रेम, हम अटक के नहीं रह सकते। एक लाइन पसंद नहीं आई, दूसरी लिखो...पर लिखो, फेंको बाजार में, उपभोक्ता के मुँह पर दे मारो। ले उलझ, जाल में फँस।" इसी दुनिया की राइमा और सोनिया ठगी जाती हैं रोहन के द्वारा। अन्य कहानियों की तरह इस कहानी में भी लेखक की गहरी अंतर्दृष्टि का परिचय मिलता है—"स्त्रियाँ जब खुलती हैं तो और पास ही

आती है। सारे किवाड़, सारे उगने वाले कारक उस खुलने में ध्वस्त हो जाते हैं। ढह रही हैं और उनमें उगे बरगद, पीपल सब उखड़ रहे हैं।" दरअसल, पत्रकार और सामाजिक कार्यकर्ता होने के नाते गीताश्री के स्त्री चिंतन में सैद्धांतिकी का वजन न होकर अनुभव एवं व्यवहार का पक्ष अधिक उभरता है। एक बात और, कहन पर जबरदस्त पकड़ होने के नाते इनकी कहानियों के पाठक सभी वर्गों के हैं। यह भी किसी कथाकार के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उम्मीद है, गीताश्री की कहानियाँ पाठक समुदाय की आँखें खोलने में सदा समर्थ होंगी।

अपने समकालीन कहानीकारों से गीताश्री किस तरह भिन्न हैं? अर्थात् किस बिंदु के आधार पर उन्हें समसामयिक रचनाकारों की तुलना में अलग पहचान मिलती है? यूँ तो हर रचनाकार का निजी महत्त्व होता है। अनन्य होता है। लेकिन गीताश्री की कहानियों में बदलते परिदृश्य का स्पंदन सुना जा सकता है। समय की आहट और धड़कनें स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं। इनकी कहानियों में सनातनी सोच, संकीर्ण मनोभाव से लेकर मशीनी सभ्यता में मशीनतुल्य जीवन, संचार क्रांति में माध्यमों का दुरुपयोग, दाम्पत्य जीवन के कलह से दुष्प्रभावित संतान की पीड़ा और स्त्री की मुक्ति की तीव्र आकांक्षा आदि रूपायित हैं। इतना ही नहीं, "गीताश्री की कहानियाँ अपने समय के सच को व्यक्त करती हैं। वे दूर खड़ी वारदात की सिर्फ गवाह नहीं, बल्कि जीवन की आँच में तप और झुलस कर लिखती हैं।"

मनुष्य विरोधी शक्तियों को पराजित करती युवा कहानी

"आज इतना ही काफी नहीं है कि अमुक कहानी बहुत अच्छी है या अमुक कहानी सफल है, बल्कि इस अच्छेपन को और सफलता को अधिक ठोस और युक्तिसंगत रूप से उपस्थित करने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में आज कहानी की 'सफलता' का अर्थ है कहानी की 'सार्थकता'। आज किसी कहानी का शिल्प की दृष्टि से सफल होना ही काफी नहीं है, बल्कि वर्तमान वास्तविक के सम्मुख उसकी सार्थकता भी परखी जानी चाहिए।'' (कहानी : नई कहानी, नामवर सिंह, पृ. 19)

डॉ. नामवर सिंह ने 'नई कहानी' के संदर्भ में जो बातें कही हैं वे आज की कहानियों के लिए भी बिल्कुल प्रासंगिक प्रतीत होती हैं। कहानी के उपर्युक्त मानदंड न तो पुराने हैं और न ही भोथरे। 'सफलता' से कहीं अधिक महत्त्व होता है 'सार्थकता' का। 'वर्तमान वास्तविकता के सम्मुख कहानी की सार्थकता सिद्ध हो तो वह कहानी युगों तक अपनी पहचान बनाए रखने में समर्थ होती है। इसलिए बीसवीं शताब्दी के इन प्रतिमानों को इक्कीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में अप्रासंगिक या अनुपयोगी घोषित नहीं किया जा सकता है। हिंदी कहानी जगत् के लगभग शताधिक वर्षों के समय को सामने रखा जाए तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि हजारों कहानियों में से केवल वे कहानियाँ अधिक चर्चित रही हैं, जो आज के बदलते परिदृश्य में भी अपनी सामर्थ्य बनाए रखने में कामयाब रही हैं। ये कहानियाँ न केवल अपने रचनाकाल में और वर्तमान में बार-बार पढ़ी गईं, चिंतन-मनन करने के लिए प्रेरित करती रहीं, बल्कि आने वाले दिनों में भी निस्संदेह अपनी अर्थवत्ता बनाए रखेंगी। कहानी न तो शब्दों की जादूगरी होती है और न 'कथा-वाचन' की एक परंपरा। कहानी कहानी होती है, सिर्फ कहानी।

'परिकथा' ने युवा कहानी के तीन विशेषांक निकाले हैं। इनमें कुल 51 युवा कहानीकारों की रचनाएँ सम्मिलित हैं। प्रेम भारद्वाज, पंकज मित्र, कैलाश बनवासी,

अजय नावरिया, हरि ओम, वन्दना राग, प्रत्यक्षा, जयश्री राय, अरुण कुमार 'असफल' अनुज, प्रेमरंजन अनिमेष, मजकूर आलम, सत्यनारायण पटेल, राकेश बिहारी, बसंत त्रिपाठी, भरत प्रसाद, शैलेय, मिथिलेश प्रियदर्शी, दिनेश कर्नाटक, संजय कुंदन, कविता, हरिओम, आनंद वर्धन, आरती झा, प्रियदर्शन आदि सतत रचनाशील कहानीकारों की दुनिया में निराशा नहीं उम्मीद हैं, विकल्पहीनता नहीं विकल्प की तलाश है, अंधेरे समय से लड़ने का कटिबद्ध प्रयास। (उपर्युक्त रचनाकारों की सूची मैंने स्मृति के आधार पर ही दी है। रचनाकारों के नाम आगे-पीछे हुए ही है। बहुत नाम छूट भी गये हैं। इसे अन्यथा न समझा जाए।)

प्राय: सभी युवा कहानीकार भूमंडलीकरण के दौर में पले-बढ़े हैं। 'ग्लोबल विलेज' के खोखले वायदों से परिचित हैं। भूमंडलीकरण के सच से वे वाकिफ हैं। यह भूमंडलीकरण है पूँजी और बाजार का। उपभोक्तावादी संस्कृति के जमाने में अपसंस्कृति फैलाई जा रही है। परिवार, समाज, राजनीति-सर्वत्र मूल्यों का ह्रास तेजी के साथ हो रहा है। धर्म, जाति और संप्रदाय के नाम पर मनुष्यता को बाँटने का पुरजोर प्रयास जारी है। 'विश्व मानव चेतना' लक्ष्यविहीन, दिग्भ्रमित और निश्चेष्ट-सी हो गई है। संबंधहीनता और संवादहीनता की स्थिति से मनुष्य पीड़ित है। संवेदनहीनता, निस्संगता, घोर स्वार्थपरता भारतीय समाज को अपने कब्जे में लेती जा रही हैं। मानवीय संबंध बौने व ठिगने प्रतीत हो रहे हैं। इसके स्थान पर बाजार की प्रभुता बढ़ी है। पूँजी सर्वशक्तिमान सिद्ध हो रही है। युवा कहानीकार ऐसी प्रतिकूल स्थितियों में जी रहा है। इस 'असमय' में वह प्रतिरोध का स्वरोत्तोलन करता है। उसे पता है कि साम्राज्यवादी शक्तियों को भले ही वह पराजित न कर सके लेकिन कम-से-कम वह एक पत्थर तो उछाल सकता है। उदारीकरण और निजीकरण के सच को वह लोगों के सामने प्रकट तो कर सकता है। विरोधाभास और विडंबनाओं को रेखांकित कर सकता है। वह कटिबद्ध प्रयास तो कर सकता है कि बाजार के प्रभाव में आकर अपनी रचना को प्रोडक्ट बनाकर न चले। यह वह बाजार है जो मनुष्य तक को प्रोडक्ट बनाने पर तुला हुआ है। युवा रचनाकार का संघर्ष है इस बाजारवादी अर्थव्यवस्था से, मानवता को लहू-लुहान करने वाली पूँजी से, अन्याय, अत्याचार और शोषण की क्रूर लीला करने वाली तमाम ताकतों से। यह स्थिति कुछ आश्वस्त करती है। इस रचनाधर्मिता को सहेजने की आवश्यकता है। अन्तत: यही रचनाधर्मिता काम आएगी और मनुष्यता को बचाएगी।

प्रेम भारद्वाज की कहानी 'जड़ें' में कथानायक रमेश कॉर्पोरेट जिंदगी का प्रतीक बनकर आता है। अच्छे पैकेज में काम करने वाला रमेश यांत्रिक सभ्यता में जी रहे व्यक्ति का प्रतीक है। वह व्यक्ति कई खंडों में विभाजित है। टुकड़ों में बँटा हुआ है

पूरी तरह से सफल। मनोचिकित्सक के पास जाकर अपनी तकनीक बयाँ करते हुए कहता है—"मुझे लगता है, मैं वस्तु में तब्दील होता जा रहा हूँ।" मनुष्य वस्तु न हो जाए, यह है कहानीकार की सबसे बड़ी चिंता। इसके बहाने वह अपना विरोध जता रहा है और विचार को गुंफित कर रहा है। संवेदना, स्वाभिमान, अस्मिता और मानवीयता से कोसों दूर भागने-फिरने वाले व्यक्ति का प्रत्यावर्तन होता है अपनी जड़ों की ओर। वे जड़ें बड़ी मजबूत हैं। जीवित हैं। यहाँ उम्मीद की किरण जगती है। बौराई हुई दुनिया पूँजी की गिरफ्त में है परन्तु विडंबना है कि वही अशोक को 'टोटली गन केस' करार देती है। वह अपने गाँव पहुँचता है और उसका रक्षा-कवच बनता है माँ का आँचल—"राख के नीचे माँ ने चिंगारियाँ छिपा रखी हैं। राख तले जतन से रखी आग कभी नहीं बुझती। आँच को महफूज रखने का तरीका माँ बखूबी जानती है।" दरअसल यह आग है संबंध की उष्मा। इस उष्मा से पृथ्वी का जन्म हुआ है और इसी के आधार पर मनुष्य जीवित रहता है। संजीवनी शक्ति है यह। वरिष्ठ कवि विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की माँ सीरीज की कविताओं में से किसी कविता में राख के बीच आग को सहेजकर बचाए रखती है कल के लिए बड़े जतन से। माँ के आँचल और उसकी गोद अर्थात् जीवन में प्रेम के महत्त्व को प्रेम भारद्वाज यूँ अभिव्यक्त करते हैं—"दरअसल, माँ के ये सारे उपक्रम और जीवन दुनिया की हर आफत-बला से महफूज रखने के लिए थे। इसके सामने शोहरत, बैंक बैलेन्स, अत्याधुनिक साज-ओ-सामान सभी निरर्थक साबित होते हैं।

'जड़ें' कहानी प्रतीकात्मक है। भाषा सधी हुई है। कहानी गठी हुई है। छोटी-सी कहानी है परंतु इससे कई आयाम खुलते हैं। कहानी में विचार है जरूर पर वह दाल में नमक की तरह घुला-मिला है, उचित परिमाण में। आज के व्यक्ति की तमाम विडंबनाएँ और उसकी असफलताएँ बड़े सुंदर ढंग से गूँथी गई हैं तो निराकरण का उपाय भी गुंफित है।

युवा पीढ़ी के महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं सत्यनारायण पटेल। 'लुगदी का सपना' शीर्षक कहानी से तमाम पाठकों का ध्यानाकर्षण करनेवाले सत्यनारायण की कहानी 'गम्मत' बलिष्ठ अंतर्वस्तु की है और बहुआयामी भी। बड़े जतन और अत्यंत साधनापूर्वक लिखी गई है यह कहानी। समाज के विविध स्तरों के साथ, राजनीति, बाजार, दलित, आदिवासी जातियों की पीड़ा आदि चित्रित हुए हैं। पर्यावरण संकट के चित्र अंकित हुए हैं। सत्ता और लालफीताशाही की दमनलीला की कथात्मक अभिव्यक्ति है तो लोकजीवन और लोकसंगीत की विविध झाँकियाँ भी! देश की भोली-भाली जनता को राजनेताओं द्वारा बार-बार भकुआ बनाए जाने की रोचक तस्वीर पेश की गई है, तो आदिवासी जीवन में व्याप्त अंधविश्वासों और रूढ़ियों के चित्र भी उकेरे

गए हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण है पूरी कहानी में जबर्दस्त कथा-शैली का निर्वहन हुआ है। पाठक को पूरी तरह से बाँधे रखने की सामर्थ्य आलोच्य कहानी में मौजूद है। सतपुड़ा अंचल की जनजातियों का लोक जीवन कहानी में से झाँकता नजर आता है। 'लोकल कलर' को पुनर्जीवित किया है 'गम्मत' के लेखक ने। पूरी कहानी में परिवेश को सही संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। 'बतरस' के बहाने या मिथकीय संदर्भों में समसामयिक परिस्थितियों को सत्यनारायण ने बखूबी चित्रित किया है। ग्रामीण परिवेश में यह सहज और स्वाभाविक है। बिना उस परिवेश में जीवन व्यतीत किए अथवा अंतर्दृष्टि गड़ाए ऐसे चित्रण प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं—जैसे इन दिनों हमारी संसद का ध्यान वनवासियों के सफाया करने पर है...कि ये भी दुर्योधन और दुशासन की तरह करते हैं...जरा अपनी संसद से भी सीख लो...वहाँ न कोई भारत माता की साड़ी को हाथ लगाता है...न उन्हें अभद्र बोलता है...व्हाइट हाउस के राक्षस की मन माफिक नीतियाँ पारित करके, भारतमाता का चीरहरण कर देता है कि नहीं। अमेरिका के वर्चस्ववाद की ओर इशारा है जिसे 'संशयात्मा' के कवि ज्ञानेंद्रपति ने कहा है—"कि एक उन्मत्त साँड है संयुक्त राज्य अमेरिका और उसका उफनता अंडकोश भर है संयुक्त राष्ट्र संघ।" इस प्रकार से घनघोर बारिश का जिक्र करते हुए कहानीकार 'ग्लोबल वार्मिंग' की बात करता है और उसके लिए सर्वाधिक जिम्मेदार अमेरिका की बखिया उधाड़कर फिर दूसरी समस्या की ओर उन्मुख होता है। यूँ देखा जाए तो किस्से से कहानी बढ़ती है। लेकिन ये किस्से सिर्फ किस्से थोड़े न हैं। आदिवासी जीवन में टोने-टोटके और वशीकरण आदि दिखाकर यथार्थ को उज्जीवित किया गया है। बताना उचित होगा कि इस कहानी में जीवन के यथार्थ और जीवन के लिए आवश्यक तत्त्वों का सुंदर संगुफन हुआ है। वह कहानी जीवन के साथ है। चाहे वह जीवन 'महुआ स्कॉच' के नफे से हो, शोषण से हो, जिजीविषा से हो या फिर शताब्दियों से प्रवंचित अवस्था से। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की आदिवासी इलाके पर गिद्ध-दृष्टि लगी रहती है तो दंड-कमंडल धारण करने वाले धर्म के ध्वजाधारी ढोंगी बाबा की लालची नजर से 'कुदरती सुंदरियाँ' कहाँ बच पाती हैं? मुख्यमंत्रीजी की 'प्रदेश बनाओ' यात्रा की पोल-खोल हुई है। अनेक चेले-चपाटों, चापलूसों, वेतनधारी अधिकारियों और कर्मचारियों का भण्डाफोड़ भी कहानी में सफल रूप में हुआ है। आओ बनाएँ अपना प्रदेश नारा है, स्लोगान है जिसके बहाने सभी फल-फूल रहे हैं सिवाय आदिवासियों के! वे तो जन्मे ही हैं बस लुटे जाने के लिए। अत्याचारित होने के लिए। उनके भोलेपन का लाभ पूरा देश उठा रहा है। फिर भी अदम्य जिजीविषा बची हुई है उनमें। गीत, संगीत, नृत्य उनका अभिन्न अंग बना हुआ है। इसलिए इस कहानी में केवल जीवन नहीं है, जीवन की स्थितियाँ हैं, जीवन की गतिशीलता व निरंतरता है और है जीवन

सही मायने में जीने का सलीका भी। जीवन-संदर्भ के अनुसार कहानीकार ने जिस मार्मिक सौंदर्य को प्रस्तुत किया है, वह प्रशंसनीय है। मोटे तौर पर 'गम्मत' एक सार्थक कहानी है। समकालीन युवा रचनाकार प्रेमरंजन अनिमेष की कविताएँ काफी चर्चित हुई हैं। परंतु इधर उनकी कुछ कहानियाँ भी आई हैं जिनमें से 'एक मधुर सपना' की खूब प्रशंसा हुई है। उनकी कहानी 'सात सहेलियाँ खड़ी-खड़ी....' विशेष चर्चा की माँग करती है। इस कहानी में नारी-समाज की समस्याओं और मनोवृत्तियों का जो चित्रण प्रेमरंजन ने किया है, उससे सिद्ध हो जाता है कि अनुभूति से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है संवेदना। इस कहानी ने यह भी प्रमाणित कर दिया है कि संवेदना हो तो पुरुष भी नारी विषयक समस्याओं को शिद्दत के साथ पेश कर सकता है। लेखक तो लेखक ही होता है। न तो वह पुरुष होता है और न स्त्री, न सवर्ण होता है या दलित। 'राख ही जानती है जलने की पीड़ा' का तर्क साहित्य में नहीं टिकता है। नारी ही नारी के बारे में, पुरुष ही पुरुष के बारे में, दलित ही दलित के बारे में, सवर्ण ही सवर्ण के बारे में लिखने का अधिकारी है—ऐसे फतवों से साहित्य का नुकसान ही होता है। साहित्य के लिए सर्वाधिक आवश्यक है संवेदना और उसकी सफल और सार्थक अभिव्यक्ति। प्रेमरंजन की यह कहानी उसका उदाहरण है। अंतर्वस्तु और प्रस्तुति दोनों की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। सात सहेलियाँ हैं जो 'विवाह' से डरी, सहमी, सकुची हुई किसी लड़की को विवाह के लिए समझाती हैं। ये सहेलियाँ उस लड़की के समक्ष अपना अनुभव बाँटती हैं। कितनी खुश हैं हम सब की पुष्टि करने के लिए कमर कस लेती हैं। पति का गुणगान करती हैं। सभी सहेलियाँ अपने को 'ग्लोरीफाई' कर रही होती हैं। इस 'ग्लोरीफिकेशन' में लाचारी, विवशता, दीनता, परतंत्रता, स्वार्थपरता, पीड़ा, यंत्रणा छिपी हुई हैं। नरक बन चुका गृहस्थ जीवन की ओर भी इशारा है। इसे तो केवल समझती है वह लड़की। समझती है तभी तो वह बेहोश हो गई। जबड़े कस गये। कहानी में सहेलियों की दास्तान है। शुरू से लेकर अंत तक पाठक कहानी में रमे रहेंगे। नारी की मनस्थितियों की बड़ी अच्छी जानकारी है रचनाकार को। हल्दी लगान के अवसर पर गीत का संयोजन और सहेलियों की राम-कहानियों में नाटकीयता के भरपूर तत्वों का समावेश हुआ है। वाकई एक अच्छी कहानी है यह। भाषा का इस कहानी में अद्भुत प्रयोग हुआ है। जैसे लड़की थरथराकर बोली और बोलकर थरथराई। पूरी कहानी में भाषा की लयात्मकता बनी हुई है। लोकभाषा का ऐसा स्वाभाविक प्रयोग बहुत कम मिलता है। छोटे-छोटे वाक्य, संक्षिप्त संवाद, भाषा का प्रवाह आदि से कहानी समृद्ध हुई है। किस्सागोई में ही एक गंभीर विमर्श की ओर यह कहानी पाठकों को प्रेरित करती है। यह प्रेमरंजन की सबसे बड़ी सामर्थ्य है।

उदारीकरण और निजीकरण के दौर में लोगों को यह कहकर लुभाने की कोशिश की गई कि अर्थ, प्रशासन, न्याय, सत्ता आदि तमाम विषयों का विकेंद्रीकरण होगा और इससे प्रत्यक्ष लाभ आम जनता को मिलेगा। लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं। इसका बिल्कुल विपरीत परिणाम हुआ। राजनीति में भ्रष्टाचार, समाज में झूठ, मक्कारी एवं प्रशासन में जुल्म तेजी के साथ बढ़े। आम आदमी की जिंदगी बदतर हो गई। अमानवीयता, क्रूरता और स्वार्थपरता ने आम आदमी के जीवन को नरक तुल्य बना दिया। ऐसी पृष्ठभूमि में युवा कथाकार, कवि व आलोचक भरत प्रसाद की कहानी है 'महुआ पट्टी' का जिक्र किया जा सकता है। इसका 'कन्टेन्ट' ताकतवर है तो प्रस्तुति शक्तिशाली है। आदिवासी जीवन की त्रासदी को भरत ने शिद्दत के साथ प्रस्तुत किया है। इस कहानी में करुणा है तो प्रतिरोध भी। इसमें दमन व शोषण की क्रूरता अमानवीयता की सीमा पार कर जाती है तो जीने की अदम्य इच्छा भी पाई जाती है। हेमिंग्वे ने कहा था—कहानियों के आइडिया मेज पर बैठकर नहीं मिलते। लोगों के बीच जाकर मिलते हैं। 'महुआपट्टी' का रचनाकार जनजातियों से भरपूर इलाके में पिछले कई वर्षों से कर्मरत है। एक तरह से वह उनके बीच रहता है। करीब से देखा है उसने इनके जन-जीवन को। अहसास करता आया है उनकी आशाओं, निराशाओं व अनुभूतियों को। अपने से अधिक जंगल से प्रेम करने वाले लँगड़ और उसके आत्मीयों को, नंदा व वेलवा को डिप्टी दरोगा चौहान की क्रूरता को झेलना पड़ता है। पेड़ों को भगवान से भी अधिक मानने वालों को अत्याचार सहन करना पड़ता है। मुरारीलाल ठेकेदार की चालबाजी का शिकार होना पड़ता है। चंदनपुर, बाँस गाँव। बनकटिया जैसे कुछ गाँव हैं जहाँ दरिद्रता अपना नग्न नृत्य करती है। घर-घर में 'महुआ-रस' बनता है। बच्चे वही पीकर बड़े होते हैं। दूध मयस्सर नहीं होता। ऐसी बात नहीं कि माताएँ महुआ-रस पिलाना चाहती हैं। उनका सपना है कि वे अपनी संतान को गाय, भैंस का दूध पिलाएँ। लखई कहाँर की पत्नी पार्वती बाई की 'यह ख्वाहिश अभी सपने में देखी गई दूर की कौड़ी है? छोटी-छोटी जरूरतमंद ख्वाहिशें, छोटे-छोटे सपने। स्वतंत्रता की सत्तरवीं वर्षगाँठ में भी 'दूर की कौड़ी' साबित हो रहे हैं उनके अरमान। गाँवों की जो तस्वीरें अंकित की गई हैं, वे पाठक को उद्वेलित करती हैं, चिंतित करती हैं। वर्ग-वैषम्य के बारे में सोचकर पाठक का मन कुलबुला उठता है, विद्रोही हो उठता है।''

चौहान की गिद्ध दृष्टि नंदा पर टिकी रहती है। वह चक्रव्यूह भी रचता है नंदा को फाँसने के लिए। कहानी पढ़ते समय लगता था कि शायद अब कहानीकार 'देह का खुला उत्सव' या 'देह-संबंध' का चित्रण करेगा। लेकिन समझदारी दिखाई है भरत प्रसाद ने। ऐसी घटनाएँ घटती हैं इसकी ओर संकेत भर करते हुए कथाकार आगे बढ़

जाता है। (इस संदर्भ में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'परिकथा' के तीनों युवा कहानी विशेषांकों में संपादक ने 'देह का खुला उत्सव' को नकारा है। सस्ती जनप्रियता से अपने को दूर रखा है।) 'महुआ पट्टी' में लंगड़ का चरित्र साकार हुआ है। ऐसा लगता है, लंगड़ के साथ-साथ लेखक चल रहा है। गजब का स्वाभिमान है उसमें। वह जानता है कि व्यवस्था के खिलाफ चलेगा तो क्या अंजाम हो सकता है। लेकिन घुटने टेकना उसने नहीं सीखा है—हम आपके अधीन बार्टीं जरूर, मगर आपके गुलाम नाहीं होईं। हमार भी कोनो इज्जत बा। अपनी आवश्यकता के अनुसार जंगल से लकड़ी लाने के लिए मनाही हो जाती है। रूई की तरह उसकी धुनाई करता है चौहान। मर्मांतक कराह से मृत्यु को भी मात कर देने वाला लंगड़ 'सरकारी हत्यारे' से प्रश्न करना नहीं भूलता—"अगर जंगल क लकड़ी काटल जुलुम ह, पाप ह, त दारू के धंधा में आप क कमीशनखोरी का ह?" टूट भले जाए लंगड़ लेकिन झुकना नहीं जानता। अद्‌भुत चरित्र का सृजन हुआ है। संघर्षशीलता आद्योपांत बनी रहती है। भाषिक स्तर पर कहानी की संरचना पर ध्यान दें तो स्पष्ट पता चलता है कि तमाम पीड़ितों की भाषा देशी भोजपुरी है और सत्ता की भाषा उससे भिन्न है। शासक और शासित की भाषाएँ सदा भिन्न-भिन्न होती आई हैं। कहानी में जहाँ वर्णनात्मकता और विचार के स्थल आये हैं, वहाँ भाषा का प्रवाह है। फलस्वरूप कहानी न बोझिल हुई है और न ही उबाऊ। एक उदाहरण—"अंधकार केवल रात में नहीं घिरता, दिन में भी घिरता है। सूरज सिर्फ शाम को नहीं डूबता, भरे दिन में भी डूबता है। रात सिर्फ काली नहीं होती, उजली भी होती है। वह केवल डराती ही नहीं, लुभाती भी है, मोहित भी करती है, कस लेती है अपनी मादक बाँहों में। मौत सिर्फ मरने का नाम नहीं, जीने का भी नाम है।"

इस कहानी में संवेदना की परतें भी बार-बार खुलती हैं। बच्चे की मृत्यु पर उसे मिट्टी में डालने की बात हो या पुत्र के ठंडे शरीर को लेकर भी उसे इंसान बनाने की कल्पना, अथवा लखई का कहना कि इ दारू बेंचने क धंधा हमार जिनगी बर्बाद कइ दिलहस। ऐसे अनेक प्रसंग हैं।

प्रेमरंजन और भरत ने कहानी में उपशीर्षक प्रदान किये हैं। इससे कहानी की रोचकता बढ़ी है। समझने में सहूलियत हुई है। हिंदी कहानी के पाठक इन रचनाकारों से ऐसी यथार्थ बोध की कहानियों की उम्मीद करते हैं।

युवा रचनाकारों के बीच एक अग्रणी नाम शैलेय का है। मूलतया कवि शैलेय का काव्य संग्रह 'या' खूब चर्चित हुआ है। बहरहाल उनकी कहानी 'बर्फ' की चर्चा जरूरी है। पहाड़ की पृष्ठभूमि में दीनानाथ और देवकी के दांपत्य जीवन के आधार पर 'बर्फ' में प्रेम और दुख का अंतर्भाव है। संवेदना का ज्वार है। मित्रता की पराकाष्ठा है। भैरोसिंह पटवारी का छल-कपट, लालच, दंभ, लोभ और पशुता है। अन्याय का

विरोध है तो प्रतिरोध भी है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अनुप्रवेश से दरकते मानवीय मूल्य पर गहरी चिंता है। पटवारी की घिनौनी हरकतें हैं तो नेताओं और अधिकारियों की असलियत से परिचित कराने का प्रयास है। व्यवस्था की नस-नस में व्याप्त हो चुके भ्रष्टाचार का खुलासा है। बड़े रेंज की कहानी है। मजा हुआ कन्टेन्ट है, सधी हुई भाषा है। कहानी में शुरू से अंत तक जीवंतता बनी हुई है।

समय बदल रहा है बड़ी तेजी के साथ। परंतु दीनानाथ का पत्नी (देवकी के प्रति) प्रेम, भयानक बर्फबारी में शिवानंद की मृत्यु की खबर पाकर तकलीफें भुलाकर, अपनी जान हथेली पर लेकर कर्तव्यनिष्ठा का परिचय, जानवरों तक के प्रति संवेदनशीलता आदि के साथ-साथ मित्र शिवानंद की बहू सोवती को भैरोसिंह के जाल में फँसने न देना आदि से पता चलता है कि दीनानाथ का जीवन ठहरा हुआ है। इस ठहराव में एक तृप्ति है। आनंद है। इस ठहराव में मानवता जीवित है, इंसानियत बची हुई है। दीनानाथ कहते हैं—''मैं तो पहाड़ की दिक्कतों, झगड़ों और पिछड़ेपन को लेकर परेशान हूँ।'' कहानी का अधिकांश भाग शिवानंद के मृत शरीर के इर्द-गिर्द संपन्न हुआ है। सत्ता, राजनीति की क्रूरता को लेकर खूब बहसें-मुबाहिशें चलती हैं। एक ओर सीधी-सादी जिंदगी तो दूसरी ओर शकुनि के दुश्चक्र की तरह घोर अमानवीयता। हृदय की सभी तंत्रियाँ झनझना उठती हैं जब घाघ आदमी पटवारी मातमपुरसी में सोवती का सौदा करना चाहता है। अर्थ का लोभ इतना प्रबल होता है कि मनुष्य अंधा होकर व्यक्ति में तब्दील हो जाता है। मुनाफा सर्वोपरि साबित हो जाता है। तभी पटवारी के 'प्रोपोजल्स' सुनकर बहू सोवती सन्न रह जाती है। सोवती ही क्यों कोई भी संवेदनशील मनुष्य जड़वत् हो सकता है—साली, खसम तेरा पहले ही मर चुका था। आज बुड्ढा भी गुजर गया है। देख, इन सालों को सीधे हवालात ले जा रहा हूँ मैं। तू भी चल। रस्ते में रिसोर्ट है ही। ऐस करना। जिंदगी बन जाएगी। याद रखेगी, कोई खुर्राट पटवारी आया था, जिंदगी बना गया। 'बर्फ' में 'कहानीपन' ही हमारे मन को नहीं रमाता, बल्कि उसे पेश करने की लोक-जुबान मोहित करती है। शराब भट्ठी के खिलाफ उठाई गई आवाज, भ्रष्टाचार का विरोध, अन्याय के सामने न झुकने की प्रबल जिद आदि से आस्था बनती है कि प्रतिकूल परिस्थिति में भी संघर्षशील मनुष्य जीवित है आज भी।

'पौ फटने से पहले' कहानी-संग्रह के रचनाकार हैं अरुण कुमार 'असफल'। अरुण कुमार की कहानी 'पाँच का सिक्का' बड़ी चर्चित रही है। पाठकों ने इसे खूब सराहा भी है। 'तरबूज का बीज' शीर्षक कहानी में ग्रामीण जीवन की गरीबी, विडंबना, त्रासदी के साथ-साथ बाजारवादी अर्थव्यवस्था, पेटेंट कानून आदि का चित्रण है। जीवन यथार्थ कहानीकार ने विविध संदर्भों में उद्घाटित किया है। गणेशी के बाऊ के माध्यम से

कहानीकार ने जो लोक निर्मित किया है, वह कल्पना का नहीं, बल्कि तमाम कष्टों और मुसीबतों से जीने वाले भारतीय किसानों के द्वन्द्व, उसकी जीवन स्थितियों, विकलताओं का है। आत्महत्या के लिए विवश किसान की दर्दनाक कहानी है। आम आदमी की विडंबनाओं के चित्रों से निर्मित लोक है। पूँजी की गिरफ्त में आकर गणेशी के बाऊ की मृत्यु होती है। संवेदनशून्यता का आलम देखें कि लोग मृतात्मा के बारे में नहीं, तरबूज के बीज की खोज के बारे में चर्चा कर रहे हैं। पेटेंट कानून के चलते अन्न उगाने वाला अन्न के दाने से वंचित हो जाता है। पै धन विदेश चलि जात... की भाँति भारत में उत्पन्न उन्नत किस्म के अनाज, फसल, फल, फूल का स्वाद तक चखने के लिए उगाने वाले वंचित रह जाते हैं। गणेशी की माँ को भी चिंता है तो सिर्फ 'बीज' की—''गणेशी के बाऊ, तुम तो गए ही, बीज भी ले गए।'' इस कहानी में ठेकेदार (तरबूज वाला) कहता है—तुम हर लाज से एक अच्छे बीज हो। यह एक लंबी कहानी है। अनावश्यक विस्तार-दोष है। अरुण कुमार इसे अधिक ठोस बनाने की सामर्थ्य रखते हैं। भाषाई शिथिलता भी नजर आती है। बावजूद इसके 'तरबूज के बीज' एक बहुत अच्छी कहानी है। ग्रामीण-यथार्थ के तमाम बिंब अंकित हुए हैं। आलोच्य कहानी में गणेशी के बाऊ को चीजों की जितनी आवश्यकता है, उसे कहीं अधिक चीजों को गणेशी के बाऊ की जरूरत है। ऐसी अर्थव्यवस्था में वस्तु बन जाती है महान् और मनुष्य बन जाता है उसका दास। अरुण कुमार ने वैचारिक स्पष्टता के साथ कथ्य की संरचना प्रस्तुत की है।

प्रेमरंजन, संजय कुंदन, शैलेय, भरत प्रसाद, बसंत त्रिपाठी, शिरीष कुमार मौर्य, कविता, आनंदवर्धन, विजय गौड़, हरिओम, विमलेश त्रिपाठी, जयश्री राय आदि समकालीन हिंदी युवा कविता के क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त नाम हैं। ये रचनाकार पिछले कई वर्षों से निरंतर कहानी विधा में भी कलम चला रहे हैं। कई रचनाकारों के कहानी-संग्रह भी आ चुके हैं, जिनका न आ पाया है, विमोचन के कगार पर हैं। दो पीढ़ियों के संघर्ष, मानसिकता में अंतर को आधार बनाकर संजय कुंदन ने कहानी 'डाकरूम' लिखी है। इसका प्लॉट पुराना जरूर है लेकिन संजय की अंतर्दृष्टि से कहानी समय और समाज के सच को साकार करती है। दरअसल पीढ़ियों में निहित दरार मूल्यों की टकराहट को भी सूचित करती है। पुरानी पीढ़ी बाबा नागार्जुन से यह नहीं सीखता है—''तुम्हारी अगवानी में काई फिसलन खुरच रहे हैं। खोद रहें जहरीली घासें।'' धनंजय शर्मा नहीं समझते हैं कि उनका पुत्र विक्रांत बड़ा हो रहा है। विक्रांत नहीं समझ रहा है कि उसके चलते पिता को कष्ट पहुँच रहा है। कहानी की शुरुआत इतनी जबर्दस्त है कि पाठक बिना कहानी पूरी किए छोड़ नहीं पाता—''यह किसी स्वप्न के छीन जाने जैसा था। वैसा ही था जैसे कोई बहुत प्रिय मूर्ति अचानक ही गिरकर

टूट गई हो। नहीं...यह उससे भी कुछ ज्यादा था, जैसे आपका कोई खूबसूरत खिलौना एक दिन आँखें तरेरकर यह कहे कि तुम मुझसे खेलने लायक नहीं हो..." वक्त की नजाकत को न समझ पाने वाले सामंतवादी प्रकृति के पिता की छवि पेश करते हैं शर्माजी जो 'अपने तरीके से लाइफ को इंजॉय करना' चाहता है विक्रांत। दो पीढ़ियाँ दो समांतर रेखाओं की तरह हैं। अंकित से शर्माजी को पता चलता है नई पीढ़ी की रुचि के बारे में—उन्हें टेक्नोलॉजी से लगाव है। वे गैजेट्स में इंट्रेस्ट लेते हैं। उन्हें लेटेस्ट मोबाइल पसंद है। उन्हें इंटरनेट पर चैटिंग पसंद है और म्यूजिक पसंद है। लड़के-लड़कियाँ मिलकर 'डार्क रूम' खेल रहे थे। अचानक शर्माजी वहाँ पहुँचकर 'ओवरस्मार्ट' बन जाते हैं। यह भी पसंद न आया विक्रांत को। कहानी के अंत में शर्माजी अपनी पत्नी के साथ डार्क रूम खेलते हैं। कहानी में बहुत कुछ अनकहा है। इस अनकही को कहना या समझना पाठकों के जिम्मे है। रेणु की कहानी 'पंचलाइट' में वैज्ञानिक साधनों के सहारे पूँजीवाद ने सामंतवाद को जर्रा-जर्रा कर दिया था। 'डार्क रूम' कहानी पाश्चात्य सभ्यता ने वैज्ञानिक साधनों के बहाने संबंधों की उष्मा को ठंडा कर दिया है। जीवन मूल्यों और मनुष्यता को समाप्तप्राय कर दिया है। कहानी की गति बहुत तेज है। सिरीयस कहानी है 'डार्क रूम।'

आज की हिंदी कहानी में एक जरूरी नाम है वंदना राग। अपनी 'यूटोपिया' शीर्षक कहानी से वंदना ने कमाल की ख्याति अर्जित की। पाठकों और आलोचकों ने बार-बार इसका जिक्र भी किया है। 1990 के बाद सांप्रदायिकता की समस्या से मानवता लुंज-पुंज हो गई। रचनाकार ने अच्युतानंद और नज्जो के माध्यम से इस गंभीर विमर्श पर चिंता प्रकट की है। 'चंद रोज और मेरी जान...' एक अविस्मरणीय कहानी है। इसमें वंदना ने तारा और नितिन के माध्यम से निम्नवर्गीय जीवन के घात-प्रतिघातों, आशा-निराशाओं और सहनशीलता व विरोध का चित्रण पूरी सजीवता और संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। वर्ग-संघर्ष का विवरण भी प्रस्तुत है इस कहानी में। तारा की मनोस्थितियों का अद्‌भुत प्रतिफलन हुआ है। राहुल (नितिन का मित्र) के प्रति तारा का आकर्षण-विकर्षण, ऐश-ओ-आराम के साधन देखकर राहुल के बारे में सोचने का प्रसंग हो अथवा अपने अपमान को छिपा न पाने की बात हो या सेठानी से साफ कहना—'नई, मैडमजी, मुझसे न होगा, मुझे घर जाना है' वाला प्रसंग हो या कोई दूसरा, तारा ने अपनी अस्मिता को बचाए रखा है। पूरी कहानी में तारा केन्द्रबिंदु है। भाषा और शिल्प की परिपक्वता इस कहानी की खूबी है। वंदना की इस कहानी में अंतर्द्वंद्व और जीवन-यथार्थ घुले-मिले प्रतीत होते हैं।

भूमंडलीकरण और साम्राज्यवादी शक्तियों से टकराना आज के समय की माँग है। इनका विरोध करने के लिए अपने में सामर्थ्य अर्जित करना वक्त की आवश्यकता

है। इसके लिए प्रतिबद्धता जरूरी है। प्रतिबद्धता किसके प्रति होगी? यह एक बहुत बड़ा सवाल है। लेकिन इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्रतिबद्धता उसके प्रति होगी जिससे जीवन व समाज स्वस्थ रहे। ऐसे ही एक प्रतिबद्ध कहानीकार हैं कैलाश बनवासी। इनके तीनों कहानी-संकलनों में से अधिक चर्चित हुआ है 'बाजार में रामधन'। वरिष्ठ कथाकार स्वयंप्रकाश के शब्दों में—उनकी कहानियों में बहुत ज्यादा आशा के स्वर नहीं हैं लेकिन वो निठल्ले बैठे हैं या निराश होकर के सिर्फ अपने बारे में नहीं सोचने लग गए हैं। उनके पात्र हमेशा संघर्षरत दिखाई देते हैं और इसलिए उनकी कहानियाँ अपनी ईमानदार संघर्ष चेतना के कारण पाठकों को प्रभावित करती हैं। उपर्युक्त विचार का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। गौरी इस बार रो नहीं रही थी। कैलाश की इस कहानी में कुंसंस्कार, अंधविश्वास, संकीर्ण मानसिकता, जर्जर परंपरा, गलित रूढ़ियों पर गहरी चिंता व्यक्त हुई है। छत्तीसगढ़ का सबसे बड़ा त्यौहार तीजा है। विवाहित पुत्री मायके में आती है। इस कहानी में कैलाश बनवासी का ऑब्जर्वेशन देखते ही बनता है। मराठी पड़ोसी, गौरी के निहायत शराबी व अत्याचारी पति का चित्रण, बेतहाशा गरीबी आदि का स्वाभाविक वर्णन कहानी की अंतर्वस्तु को विश्वसनीय बनाता है। गौरी की चारित्रिक दृढ़ता—"मैं वहाँ नहीं जाऊँगी। किसी हालत में नहीं जाऊँगी।" जहाँ अन्याय का प्रतिरोध है वहाँ दादी, काकी, मामी, मौसी, फुफु, भौजी का गौरी को समझाना जर्जर परंपरा को ढोना ही है। बेटी जब बहू बन जाए तो मैके वालों की दृष्टि तेजी के साथ बदल जाती है। कहानीकार ने इसे भी रेखांकित किया है। 'संवेदनात्मक संपृक्ति' का बेजोड़ नमूना है यह कहानी। कथा-साहित्य के मानदंडों पर खरी उतरने वाली इस कहानी में मृतप्राय संवेदना झंकृत हो उठती है।

खुशी की बात है कि समकालीन कहानी के विषय नगर तक सीमित नहीं है। गाँव और लोक-जीवन से संपृक्त कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं। स्त्री-मन की संवेदनाओं के भीतर गहरी पैठ बनाकर 'चौंशला' कहानी की संरचना सामने आती है। गढ़वाल का लोक-जीवन साकार हुआ है रणीराम गढ़वाली की उक्त कहानी में। गरीबी, आर्थिक शोषण के बीच कराहते हुए भी सरूली को अपने बारे में जितनी चिंता है उससे कहीं अधिक चिंता है अपने गाँव की प्रतिष्ठा को बचाने की। पुरानी साड़ी कमला से माँगकर लाई जाती है। 'चौंशला' त्यौहार में से पहनकर जाती है सरूली। साड़ी फट जाती है। कमला को फटी साड़ी कैसे लौटाई जाए। कमली की गाय बेचकर नई साड़ी खरीदी जाती है और उसे फटी साड़ी के बदले दी जाती है। महानंद और सरूली के सहज और प्रेममय दांपत्य जीवन का चित्रण है तो सरपंच की कुटिलता और कामुकता का भी उजागर हुआ है। अमानवीय संसार के प्रति मनुष्यता की ललकार और उत्कट

जिजीविषा 'चौंशला' की सबसे बड़ी उपलब्धि है। दबंग और क्रूर चरित्रों को बेनकाब करते हुए गरीब और बेकसूरों की पीड़ा को उकेरना गढ़वाली की खासियत है। लोक भाषा के प्रयोग से कहानी में जीवंतता आई है।

अजय नावरिया एक जाना-पहचाना नाम है। इधर उनका एक कहानी-संग्रह 'पटकथा और अन्य कहानियाँ' प्रकाशित हुआ है। दलितों की पीड़ा को संपूर्ण संवेदना के साथ पेश करने वाले अजय की एक कहानी है 'गंगासागर'। प्रेमचंद की 'सद्गति' में जोखू को गंदा पानी पीना पड़ा था प्यास बुझाने के लिए। जॉन की जगह गोविंद सत्तासीन हुए तो कुछ भी नहीं बदला। ब्राह्मणवादी वर्चस्व जारी है। मनुष्य जाति के आधार पर बँटा हुआ है। नहरा के अंतर्द्वन्द्व, महाराज का शोषण, विदेश से लौटे संपतिमल अग्रवाल की मानसिकता, लालफीताशाही, पानी की फैक्टरी की स्थापना आदि के माध्यम से इस रचना में 'कहानीपन' जीवित है। लेकिन संघर्षशीलता जो नहरा में जिन्दा है वह कहानी का प्राण है। अब नहरा को नरक का डर नहीं है। न ही वह भयभीत है पाप-पुण्य से। वह कहता है—''हमें पाप-पुण्य कुछ नहीं लगता। ये सब झूठ-सच हमें समझाकर मूरख बनाते हैं तुम्हारे जैसे मोटे पेट वाले।'' जोखू का बिल्कुल विपरीत है नहरा। पानी के बहाने वह अपने अधिकार पाना चाहता है। अगर न मिला तो उसे वह छीन लेना उचित समझता है। ऐसे पात्र छोटे-छोटे सपने देखते हैं और वे सपने जीवन के आधार से जुड़े हुए होते हैं। इस कहानी में दलित जीवन की त्रासद स्थितियों की बेबाक तस्वीर पेश की गई है।

'दिल, दो लड़कियों और एक इतना-सा नश्तर' शीर्षक प्रत्यक्षा की कहानी में भाषाई करिश्मा खूब लुभाता है। नारी-विमर्श की एक गंभीर कहानी है यह। पढ़ी-लिखी, आधुनिक, अकेलेपन का शिकार बन चुकी नारी की इच्छा है—लड़की चीखना चाहती है, चिल्लाना चाहती है, तरल उदासी की दुनिया में कोई बम फोड़कर भाग निकलना चाहती है, सब उलट-पुलट कर देना चाहती है। आखिर वह रह जाती है 'अनलक, अनअटेंडेड, अनवान्टेड'। बहुत बड़े प्लॉट की कहानी है। नदीम के जीवन के अनेक खण्ड हैं इसमें। उसकी स्थिति बड़ी शोचनीय है—''हम औरतें हमेशा इतनी अकेली क्यों होती हैं, बताओ? किसी के साथ होकर भी? अकेली? और बाज दशा होकर भी मजबूत किसी दर्द से भी ज्यादा बहुत ज्यादा...।''

इस प्रकार की कुछ और भी महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं। सभी कहानियों का जिक्र संभव नहीं है। सभी कहानियों का जिक्र अभिप्रेत भी नहीं है। ये कहानियाँ इक्कीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक की हैं, परंतु पूरा विश्वास है कि इस दशक में ही सीमित नहीं रहेंगी, दूर तलक जाएँगी। युवा कहानीकारों की उत्कृष्ट कहानियों से कथा-जगत

और भी समृद्ध होगा। इसे नई दिशा मिलेगी। इन रचनाकारों से आग्रह है कि बाजार के प्रभाव में आकर कहानी की गुणवत्ता से समझौता न करें। अपने सरोकार को व्यापक बनाने का प्रयास भी जरूरी है। कथा-विन्यास में छितराव न आए, अनर्गल विलाप न हो। खुशी की बात है कि युवा रचनाशीलता में जीवन की संपूर्णता का प्रयास है। भविष्य भरपूर है। आज के युवा कहानीकार मनुष्य विरोधी शक्तियों को पराजित करने के लिए कटिबद्ध हैं। यह प्रयास प्रशंसनीय है, आश्वस्त करता है, क्योंकि इन रचनाकारों की प्रतिज्ञा है—

"हम तो सारा-का-सारा लेंगे जीवन
'कम-से-कम' वाली बात न हमसे कहिए।"

—हमने यह देखा, रघुवीर सहाय

सामाजिक यथार्थ की कहानियाँ

समकालीन हिंदी कहानी लेखन में सत्यनारायण पटेल एक चर्चित नाम है। इस रचनाकार ने युवा कहानीकारों में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। 'भेम का भेरू माँगता कुल्हाड़ी ईमान', 'लाल छींटवाली लुगड़ी का सपना' और 'काफिर बिजूका उर्फ इब्लीस' कहानी-संग्रहों को पाठकों ने खूब सराहा है। सत्यनारायण की कहानियाँ उनकी समकालीन रचनाओं से भिन्न स्वर की हैं। उनके सरोकार और 'कन्सर्न' औरों से भिन्न हैं। वे अपने संदर्भों के प्रति जागरूक हैं। उन्हें सामाजिक यथार्थ का समृद्ध एहसास भी है। उनकी कहानियाँ जीवन और यथार्थ से गुजरते हुए हमारे अनुभवों को उत्तेजित करती हैं। फलस्वरूप, कहानी के पाठ हो जाने के बावजूद हम सोचने, विचारने, चिंतन-मनन करने और 'डिस्टर्ब' होने के लिए विवश हो जाते हैं। इसलिए, सत्यनारायण की कहानियों का विशेष महत्त्व है।

सत्यनारायण कहानी कहते हैं, लिखते नहीं। अपनी इस विशेषता के चलते इनकी कहानियाँ पाठक से बोलते-बतियाते आगे बढ़ती हैं। इस क्रम में पाठक से जुड़ती भी जाती है। अपने को 'महज अदना-सा किस्सागो' समझनेवाला यह रचनाकार वास्तव में अद्‌भुत किस्सागो है। इसके किस्से वाक्य दर वाक्य, पैरा दर पैरा झूठ न होकर सच्च होते हैं। ये किस्से मनगढ़ंत भी नहीं हैं। वास्तविक घटनाओं की कथात्मक अभिव्यक्ति हैं। अपनी पैनी और सजग दृष्टि से कहानीकार ने जिन घटनाओं को देखा, समझा, परखा और भली भाँति महसूस किया यानी जीवनानुभव हासिल किया है, उसे कहानीपन के साथ प्रस्तुत किया है। अपने हृदय की तड़पन को रोचकता का बाना पहनाकर समय और समाज को उनकी असलियत के साथ प्रस्तुत करने में कहानीकार को अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। उसने समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, कुरीतियों, आडंबरों, ज्वलंत समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। भुखमरी, लूट-खसोट, धोखाधड़ी, अविश्वास, स्त्री-पीड़ा आदि की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। धर्म, सत्ता आदि की आड़

हो रहे दमन, शोषण, निर्यातन, उत्पीड़न, अत्याचार आदि को बड़ी तटस्थता के साथ उजागर किया है। ऐसे प्रसंगों और संदर्भों में न तो कहानीकार ने अतिशयता से काम लिया है और न ही किसी पूर्वाग्रह से प्रेरित होकर उनका अंकन किया है। एक बात और भी है, इस कहानीकार को अपनी लोक-संस्कृति, लोक-गाथा और लोक-कथा की खास समझ है। उसने इन तत्त्वों को सांस्कृतिक चेतना से संपृक्त किया है। सत्यनारायण की कथा-दुनिया में स्थानीय रंगत है तो वैश्विक चेतना भी। स्थानीयता को बचाए रखकर उसे वैश्विक रूप प्रदान करती हैं सत्यनारायण की कहानियाँ।

सत्यनारायण युवा पीढ़ी के महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं। उनकी कहानियों से गुजर कर यह स्पष्ट होता है कि उनमें वर्तमान की चेतना तीव्र है। मौजूदा स्थितियों से उनका असंतोष है। वर्तमान की तमाम विसंगतियों और निरर्थकताओं का प्रत्यक्ष अनुभव है। उनसे जूझने के पश्चात् यह रचनाकार एक स्वस्थ समाज की स्थापना के उद्देश्य हेतु अमानवीय क्रूर व्यवस्था का पर्दाफाश करता है। ऐसा कर पाना तभी संभव होता है जब रचनाकार में विद्रोह की चेतना मौजूद हो। कहानी-दर-कहानी में इस कथाकार का विद्रोह उद्घाटित होता है। यह विद्रोह कभी व्यंग्य के रूप में तो कभी प्रचलित के निषेध के रूप में उद्घाटित होता है। कभी व्यवस्था से नाराजगी के रूप में तो कभी भ्रष्टाचार के विरोध के रूप में। इसलिए, इस कहानीकार की रचनाएँ तरक्कीपसंद लोगों को सर्वाधिक मात्राओं में आकर्षित करती हैं।

'भीम का भेरू माँगता कुल्हाड़ी ईमान', 'लाल छींट वाली लुगड़ी का सपना', 'गम्मत' जैसी कहानियों की तरह 'ठग', 'न्याय', 'काफिर बिजूका उर्फ इब्लीस' आदि का कलेवर विशद है। इन लंबी कहानियों में रचनाकार ने विविध संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों को बड़ी शिद्दत के साथ प्रस्तुत किया है। एक-एक घटना या प्रसंग का बारीकी से पेश करते समय अपनी चिंताओं से रू-ब-रू कराया है। युगीन अंधकार को पहचानकर और युग-स्पंदन को महसूस करते हुए मनुष्य विरोधी शक्तियों की चालाकियों और कारगुजारियों को उद्घाटित किया है। मानव मूल्य और आदर्शों की स्थापना का पक्षधर होते हुए भी रचनाकार ने कोई फॉर्मूला नहीं दिया है। हाँ, आम आदमी के जीवन-यथार्थ को अंकित करने में वह कोई कोर कसर नहीं छोड़ता है।

भूमंडलीकरण के दौर में पूरी दुनिया बड़ी तेजी से बदल रही है। इस बदलने की प्रक्रिया को विकास नहीं कहा जा सकता है। विनाश भले कह लें। पूँजी के सामने सारे नाते, रिश्ते, मानवीय संबंध बौने और ठिगने प्रतीत हो रहे हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलताएँ नजर आ रही हैं। साथ ही, धार्मिक कट्टरताएँ बढ़ रही हैं। धार्मिक उन्माद चरम पर है। ढोंग, आडंबर आदि को धर्म का रूप दिया जा रहा है। सांप्रदायिकता पनपने लगी है। उसकी विष ज्वाला से दुनिया त्रस्त और आतंकित है। जो जितना अधिक पढ़ा-लिखा है, वह उतना ही ज्यादा धर्म भीरू है।

धार्मिक संकीर्णता का पक्षधर है। स्त्री-दमन और शोषण तुंग पर है। निर्दोष तरुणियाँ धार्मिक पोंगापंथियों के द्वारा बेवजह मारी जा रही हैं। खानदानी इज्जत के नाम पर पिता अपनी पुत्री को मरवा रहा है। पुनः ऑनर किलिंग तो है ही। सत्ता चाहे धार्मिक हो अथवा राजनीतिक, उस पर बने रहने के तमाम हथकंडे अपनाये जा रहे हैं। मतलब यह कि आज हमारे समय में नृशंसताएँ अनवरत नग्न नृत्य कर रही हैं। उपर्युक्त चिंताएँ सत्यनारायण की कहानियों में साकार होती हैं।

यूँ तो बिजूका लकड़ी का पुआल से बना हुआ होता है जिसे किसान अपनी फसल को बचाने के उद्देश्य से खेत में गाड़ देता है। पक्षी या जानवर उसे देखकर आदमी के होने का भ्रम पाल लेते हैं। कहानी में बिजूका छोटी नौकरी करने वाला एक मामूली इंसान है जो एक फिल्म क्लब चलाता है। फिल्म क्लब के मार्फत किसी-न-किसी मुद्दे पर विमर्श भी करवाता है। उसे विमर्श कराने में विश्वास है, क्योंकि इससे लोगों में जागरूकता आएगी। वह प्रगतिशील सोच का है। उसमें प्रश्नाकुलता है। उसके कुछ सपने हैं। धार्मिक पोंगापंथियों की दृष्टि में वह काफिर है। बाद में इब्लीस यानी शैतानों का सरदार। समाज के उच्च शिक्षित प्रोफेसर हमजा कुरैशी, डॉक्टर साहब, काजी साहब, यूनुस आदि पवित्र ग्रंथ, धर्म, ईश्वर आदि की मनमाने ढंग से व्याख्या करते हैं। शुद्धतावादी बनने का ढोंग करते हैं। 'स्टोनिंग' फिल्म देखने के बाद प्रोफेसर साहब का मत था—"आप कौन होते हैं धर्म के नियम-कानून पर बात करने वाले? धर्म में जो कुछ होता है, पवित्र पुस्तक की रोशनी में होता है। पवित्र पुस्तक का एक-एक लफ्ज खुदा का लफ्ज है। उसकी आलोचना करने का अधिकार किसी को नहीं है।" (पृ. 93) प्रोफेसर का प्रिय शागिर्द बाबर था जिसने फातिमा से इंगेज सुनकर उसके चेहरे और आँखों पर तेजाब डाला था। काजी साहब की बेटी चाँदनी का चंद्रमोहन से प्रेम था। चाँदनी की कोख में दो माह का अंकुर भी उग आया था। प्रोफेसर एवं डॉक्टर की मदद से चाँदनी का जनाजा निकला और काजी साहब की आबरू बनी रही।

बिजूका, बेताल, प्रकृति, कोमल, शबनम, बुर्के में कैद औरतें आदि प्रचलित व्यवस्था का विरोध करते हैं। सत्ता के वर्चस्व के सामने अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते हैं। मर्दवादी वर्चस्व को चुनौती भी देते हैं। इनके विचार वैज्ञानिक हैं।

इस कहानी में अमेरिकी साम्राज्यवाद का विरोध हुआ है तो अमेरिका के विरुद्ध लड़ने वाले अल-कायदा और तालिबानियों के रास्ते को अनुचित ठहराया गया है। पाकिस्तान में जिया-उल-हक के शासन काल में कारो-कारी कानून के तहत हर बरस हजारों लड़कियों-औरतों को संगसार या कत्ल किये जाने की निंदा है। कहानी में सबसे बड़ी चिंता प्रकट हुई है कि धर्म के ध्वजाधारियों ने स्त्री-जाति का सर्वाधिक शोषण किया है तथा उसे उचित ठहराया है। प्रकृति के इतने कटु अनुभव हैं कि वह कहती

"मुझे तो पुरुष की शक्ल से घृणा-सी हो गयी है।" (पृ. 126) बुर्के में कैद औरतों की भीड़ में तमाम देशों की पीड़िताएँ शामिल थीं। यह दृश्य हृदय को विदीर्ण कर देने वाला है। मतलब यह कि जहाँ बलात्कारियों को सजा दी जाने वाली थी वहाँ स्त्रियों को संगसार किया जा रहा है।

आज भले ही शहर यूँ बड़ा हो जाए लेकिन उसका दिल बहुत छोटा बनता जा रहा है। उसमें बारूद उड़ती रहती है। फलस्वरूप, सांप्रदायिक हिंसा की आग भड़कती रहती है। सबसे बड़ी बात यह है कि मानवता कराह रही है और अमानवीयता अट्टहास कर रही है। विध्वंसकारी शक्तियाँ आज किसी भौगोलिक क्षेत्र में सीमित नहीं हैं, यत्र-तत्र-सर्वत्र मौजूद हैं। कोमल कहती है—"तालिबानी कहाँ नहीं हैं? हमारे तो घर से पचास कदम की दूरी पर ही उनकी शाखा लगती है। खाप पंचायतों में भी तो वही हैं। संसद भी तो एक बड़ी-सी खाप ही है, जहाँ से मनमाने निर्णय लिये जाते हैं, और उन्हें मानने के लिए हमें बाध्य किया जाता है।" (पृ. 106)

प्रेम को मानव मूल्य के रूप में स्वीकार करते हुए कहानीकार ने प्रेमी-युगलों के कत्ल करने को मनुष्य विरोधी कहा है—"प्रेम मानव समाज की, दुनिया की धुरी है। धुरी ही टूट जायेगी, तो दुनिया नहीं बचेगी। धुरी की रक्षा ही धरम है।" (पृ. 130) कहना न होगा कि 'काफिर बिजूका उर्फ इब्लीस' युगीन यथार्थ और युग स्पंदन को साकार करने वाली एक बहुआयामी कहानी है।

जनतांत्रिक शासन व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण स्तंभ है न्यायपालिका। कार्यपालिका और विधायिका से भी यह अधिक महत्त्व की है। आम आदमी के लिए न्याय व्यवस्था दुर्लभ हो गई है। पुलिस की झूठी और बनी-बनाई रिपोर्ट से बेकसूर लोगों को जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा जेल में बिताना पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में देश में न्यायपालिका के प्रति कैसे भरोसा हो सकता है? पिछले पैंसठ वर्षों से झूठ को सच बनाकर परोसा जा रहा है। आम जन को सही तस्वीर नहीं दिखाई जा रही है। चारों ओर अविश्वास का माहौल खड़ा किया जा रहा है। इस संदर्भ में 'न्याय' कहानी की चर्चा की जा सकती है।

आमिर खाँ की अम्मी खदीजा के माध्यम से भारत की धर्मनिरपेक्षता को उजागर किया गया है। खदीजा को रामलीला बहुत पसंद है। उसके जीवन में राम का बड़ा प्रभाव रहा है। वह अपने बेटे के लिए दुआ माँगती है—"अल्लाह, मेरे राम पर दया करना।" (पृ. 68) असद खाँ का सब्जी मंडी में खिलौनों का छोटा-सा कारोबार था। इसे उनका बेटा आमिर सम्हालता है। परिवार हँसी-खुशी से जी रहा था कि अचानक शहर में सिलसिलेवार बम धमाकों के आरोप में आमिर को पुलिस ने गिरफ्त में ले लिया। उस वक्त आमिर दवा लेने के लिए डॉक्टर के पास जा रहा था। पाकिस्तान

से फहीम अपने ताऊ से मिलने भारत आया हुआ था। उसे भी पकड़ लिया गया। बम विस्फोट हुए थे तो किसी-न-किसी को आरोपी न बनाया गया तो अपनी कमज़ोरी साबित होगी। साख न रहेगी। नौकरी से हाथ धोना पड़ सकता है। सबसे अच्छा उपाय पुलिस के लिए यह था कि शरीफ इंसान को पकड़ लिया जाए। उससे मनमाने ढंग से आरोप कबूलवाने में बड़ी आसानी हो जाती है। पुलिस ही नहीं, सेना भी 'एंटी इन्सर्जेन्सी' के नाम पर बेगुनाहों को पकड़कर मार गिराती है और उन्हें कुख्यात आतंकवादी या माओवादी घोषित कर देती है। असली मुजरिमों को छोड़कर निरपराध भोले-भाले लोगों को मार गिराकर 'वीर चक्र' या 'परम वीर चक्र' के सम्मान से विभूषित होती है। कहानी में अपनी विशिष्ट कथन शैली में कहानीकार ने इस हकीकत की जड़ को ढूँढ़ते हुए लिखा है—"पुलिस कठपुतली होती है। कठपुतली को नचाने वाली डोर तो लोगों द्वारा चुने हुए किसी कमीने सिंह के हाथ में होती है। पुलिस के नाच का कोरियोग्राफर वही होता है।" (पृ. 87)

आमिर और फहीम को चौदह बरसों तक जेल की सजा भुगतनी पड़ी और इस अवधि में देश के अलग-अलग हिस्सों में धमाके हुए। पुलिस ने बड़ी तत्परता से आमिरों और फहीमों को पकड़ा और जेल भिजवाया। गुनाहगार सीने ताने विशिष्ट जनों के साथ बैठ रहता है और बेकसूर मारा जा रहा है। यह स्थिति अत्यंत गंभीर और चिंताजनक है।

इस कहानी में आमिर और फहीम के स्वगत कथन हमारी न्याय व्यवस्था के सामने जो प्रश्नचिह्न छोड़ते हैं, वह अमिट प्रभावशाली बनकर उभरता है। कहानीकार के शब्दों में—(क) "पुलिस के लगाये आरोप ने मुझसे अब्बू, अम्मी और गुलबानी छीन लिये। क्या वे मेरी जिंदगी में फिर से लौट सकते हैं? क्या मैं वहीं से जिंदगी की शुरुआत कर सकूँगा जहाँ रोक दी गयी थी? अगर मुझसे खोया कुछ भी वापस नहीं हो सकता तो मुझे ऐसे न्याय से घृणा है।" (पृ. 91) (ख) "जो धमाके हमने नहीं किये, उनमें हमारे परिवार और हमारी जिंदगी के चौदह साल और एक दिन मारे जा चुके हैं। ...हमें नहीं चाहिए, नहीं चाहिए हमें अन्याय से भी क्रूर न्याय।" (पृ. 91-92)

जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल-खंड निचोड़ लेने के बाद निर्दोष करार देने का सिलसिला आज भी जारी है। ऐसा न्याय किस काम का? इस न्याय के चलते आज देश में खूनखराबा और हिंसा की वारदातों में वृद्धि हो रही है। खून का बवंडर बह रहा है। उस खून के लाल रंग में भीगने वाले स्वयं उसे अपना रहे हैं। खून के रास्ते पर चल रहे हैं। तभी तो भारत के लगभग सवा दो सौ जिले आज नक्सल प्रभावित हो चुके हैं। कहानी का अंत बड़ा ही प्रतीकात्मक है—"तिरसठ बरसों से धमाकों और न्याय का यह सिलसिला जारी है। न्याय का दायरा बढ़ रहा है दिन-रात। न्याय के

... नदी में बहता पानी लाल। मिट्टी, फसल, घास-पेड़-पौधे और जंगल लाल। ...लाल...लाल...फैलता ही जा रहा धरती पर लाल...लाल।" (पृ. 92)

व्यवस्था के प्रति विद्रोह सत्यनारायण की कहानी में प्रमुखता के साथ उभरा है। ...की कहानी से स्पष्ट होता है कि लेखक जर्जर होती व्यवस्था के चक्रव्यूह को ...भाँति समझता है। उसके रंध्र-रंध्र से परिचित होता है। व्याप्त भ्रष्टाचार के ...छद्म को उघाड़ता है। सत्ता की चालाकियों को नंगा करने में कोई कोताही नहीं ...करता। बिना गहरे धँसकर 'ठग' जैसी कहानी नहीं लिखी जा सकती है। ...लोक-कथा की शैली में आज के संदर्भों को उभारना इस कहानीकार की सबसे बड़ी सामर्थ्य है। इस कहानी से गुजरते समय पाठक के सामने बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, टू जी स्पेक्ट्रम घोटाला, कोयला खदान आवंटन घोटाला, जल-जंगल-जमीन को हथियाने के लिए सत्ता और पूँजी का खेल आदि के तमाम भ्रष्टाचार सामने आते हैं। ठगी विद्या पहले भी थी। लेकिन, उसका क्षेत्र इतना व्यापक न था। हाट-बाजार में कुछ ठग लोगों को अपने खेल में फाँस लेते थे। लेकिन आज राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ठगों की संख्या में बड़े पैमाने पर बढ़ोतरी हो रही है। देश को विकास के सपनों में डूबा कर अपनी पूँजी की बढ़ोतरी को प्रमुख उद्देश्य समझा जा रहा है।

ठग, सेठ, राजा का धोबी, मिठाई दुकानदार, डोकरी, डोकरी की बेटी, कपड़े का व्यापारी, दूसरा व्यापारी, होशियार, होशियार की माँ आदि अनेक पात्र हैं लेकिन होशियार की होशियारी के सामने सभी फीके पड़ जाते हैं। कहानीकार ने इस चरित्र को बड़े मनोयोग से सिरजा है। होशियार के छल-छद्म और उसकी चालाकियाँ अमेरिका की याद दिलाते हैं। तमाम देशों को भकुआ बनाकर अमेरिका अपना साम्राज्य-विस्तार कर रहा है। तमाम देश सुखद सपनों में जी रहे हैं। उनके लालच की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। प्रसंगतया कहानीकार में ग्लोबल इन्वेस्टर मीट, वालमार्ट, बिल गेट्स, अंबानी, टाटा, बिड़ला आदि का भी उल्लेख है।

'ठग' कहानी में गजब की पठनीयता है। सहजता है। जादुई यथार्थवाद भी है। हास्य रस का अभूतपूर्व समन्वय है। सामान्य से सामान्य पाठक के लिए यह कहानी जितनी आनंददायी है, गंभीर आलोचक के लिए यह कहानी उतनी ही सार्थक है। दो शब्दों में 'ठग' एक चमत्कृत कर देनेवाली कहानी है। कहानी के ट्रीटमेंट में जीवंतता है। सहज होकर गंभीर बातें करने का ढंग ऐसा है कि पाठक के अंदर हलचल और बेचैनी उत्पन्न हो जाती है। बोलने बतियाने के गँवई ठाट के साथ कहानीकार कहता है जिसमें न तो कोई शोर है और न ही कोई बड़बोलापन। इस कहानी पर चर्चा को बिना विस्तार दिये होशियार की होशियारी के एक-आध उदाहरण दृष्टव्य हैं—

धोबी से कहता है—"उस पहाड़ी के पार एक पेड़ है। उस पेड़ में तरह-तरह की मिठाइयाँ लगी हैं। वहीं से तोड़ लाया...." (पृ. 53)

कपड़े व्यापारी से—"मैं गुरुमंत्र को रोज सुबह इस पेड़ पर फूँकता हूँ।... धीरे-धीरे कपड़े उग आते हैं। ऐसा मुझे रोज एक बार करना होता है।" (पृ. 54-55)

व्यापारी से कहता है—"यह भालू साधारण भालू नहीं है। इसकी थूथन को जब भी जमीन पर रगड़ते हैं तो यह सोने की मोहरें हगता है। मैंने बरसों की मेहनत से इसे ढूँढ़ा है।" (पृ. 57)

धोबी से राजा और रानी के कपड़े हथियाये। कपड़े व्यापारी से एक लाख मोहरें हासिल की और व्यापारी से पंद्रह हजार रुपये ऐंठकर उसके चंगुल से अपनी जान बचाई। आशय यह कि 'ठग' हिंदी की एक रोचक और प्रभावशाली कहानी है। लोक-कथा की शैली में कहानी कह लेने के बाद कहानीकार की टिप्पणी है—"महाराजा से व्यापारियों की साँठ-गाँठ करवाई। फिर देखते-ही-देखते जरूरत की हर चीज पर व्यापारियों का कब्जा होने लगा।...बहुत कुछ बदला। पर नहीं बदला तरक्की का रास्ता कभी। दिन सौ गुनी रात हजार गुनी तरक्की होने लगी। हो रही है। और जाने कब तक तरक्की का पहिया यूँ ही देश की गर्दन पर से गुजरता रहेगा। (पृ. 65)

पिछले कुछ बरसों से कहानी में प्रेम के नाम पर भारी मात्रा में 'मसाला' डाला जा रहा है। उपभोक्तावादी समय में भोगवाद के प्रति अतिरिक्त आग्रह दिखाई पड़ता है। फलस्वरूप, सेक्स के वर्णन को कहानी में अहमियत दी जाने लगी है। उस पर भी तुर्रा यह कि प्रेम कहानी का लेखन हो रहा है। 'सेक्स' एक स्वाभाविक वृत्ति है। उससे कोई परहेज नहीं होना चाहिए लेकिन उसका आब्सशन और उससे आक्रान्त होकर लेखन मानसिक बीमारी का प्रतीक है। दरअसल, पूँजीवादी व्यवस्था ने सेक्स के अतिरिक्त वर्णन को बढ़ावा देकर मूल्यों को समाप्त करने की साजिश रची है। इस संदर्भ में सत्यनारायण की कुछ कहानियों का जिक्र करना उचित लगता है। उल्लेख किया जा सकता है कि इन कहानियों में प्रेम मानव मूल्य तथा जीवन मूल्य के रूप में चित्रित हुआ है। साथ ही, भोगवादी संस्कृति को सही जवाब देने का उपक्रम भी है। '...पर पाजेब न भीगे' की पृष्ठभूमि में बंजारा जन-जीवन है। पता नहीं, बंजारा जन-जीवन पर कितनी अच्छी कहानियाँ हिंदी में लिखी गई हैं। लेकिन, सत्यनारायण ने किस्सा का बाना पहनाकर यथार्थ को रचा है। लोक प्रचलित कथा को बड़ी ताजगी और आधुनिक संदर्भों में इस कहानी की अद्‌भुत बुनावट हुई है। मेले में बंजारा बंजारन से मिला था। उससे प्रेम हुआ। लेकिन बंजारन की एक शर्त थी कि वह बंजारा से तभी शादी करेगी जब दोनों के गाँवों को मिलाने वाली नदी पर एक बाँध ऐसा बने कि पैरों की पगथली तो भीगे लेकिन पाजेब न भीगे। बंजारन कहती है—"अगर तुम

जो यह शर्त पूरी करोगे तो मैं खुशी-खुशी तुम्हारे गाँव चलूँगी। तुमसे शादी कर लूँगी..." (पृ. 13) बंजारे ने अपने श्रम, समर्पण और बुद्धि से वैसा ही बाँध बनवाया। बंजारे और बंजारन के प्रेम की निशानी वह बाँध 'बंजारा बाँध' के नाम से आज भी जाना जाता है। सवाल यह कि बंजारन की शर्त क्यों ऐसी थी? क्या यह बंजारे की प्रेम-परीक्षा थी, बंजारे के लगाव, समर्पण, प्रेम और उसकी रागात्मकता की परीक्षा थी। लेकिन, इससे भी बढ़कर एक प्रयोजन और था। बंजारा व्यापार-व्यवसाय करता था। उस व्यापार में नमक का कारोबार सर्वाधिक था। सस्ते दाम पर लोगों को नमक मिल सके। यह भी जरूरी था। नमक आम आदमी से लेकर अभिजन तक सबकी जरूरत थी। नदी में नमक गल जाता था। कहानीकार ने लिखा भी है—"क्या करूँ कि नमक न गले? कैसे कम दाम पर नमक उपलब्ध कराऊँ?" (पृ. 11) सही कीमत पर लोगों को नमक मिले तो कोई बद्दुआ न देगा। बंजारन की शर्त केवल अपने स्वार्थ के लिए न थी, सबके लिए थी।

आज प्रेम नामे और खाते के तुलनपत्र में सीमित हो रहा है। बैंक शेष का महत्त्व है। इस स्थिति में 'बंजारा बाँध' की महत्ता हमेशा बनी रहेगी। बहुराष्ट्रीय कंपनियों से लेकर राष्ट्रीय कंपनियाँ पूरी दुनिया की नदियों पर बाँध बनाती आ रही हैं। आगे भी बनायेंगी। बंजारन की शर्त कहीं नहीं रहती है। जल, जंगल, जमीन से आदिवासी, जनजाति तथा सभ्य जाति के लोगों को विस्थापित होना पड़ रहा है। मुआवजे अगर कभी मिलते भी हैं तो ऊँट के मुँह में जीरा के समान। कहानी के अंत में लेखक की चिंता है—"घर-खेत और गाँव तक बचाना मुश्किल हो रहा है। वाकई समय बदल रहा। विकास की गंगा बह रही दिन-रात। डूब रहा सुख चैन।" (पृ. 17)

ऐसी ही एक कहानी और है सत्यनारायण पटेल की 'घट्टीवाली माई की पुलिया'। इसमें गेहूँ आदि हाथ की चक्की से पीसकर अपनी आजीविका चलाने वाली माई के दृढ़ संकल्प और प्रेम चेतना का उदात्तीकरण है। तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपार साहस का परिचय देते हुए अपने पति प्रेम को समर्पित पुलिया बनाती है।

कासीराम और मनकामना का घर खाल के पास था। खाल का पानी जब-तब उनके घर में घुस जाता था। बाढ़ में घर पानी से भर जाता था। उनके पास भैंस, गाय आदि मवेशी भी थीं जिनका बरसात के दिनों में बड़ा बुरा हाल हुआ करता था। इस दंपती के अलावा अन्य परिवारों का भी एक ही सपना था कि खाल पर एक पुलिया बन जाए। पर गरीब के सपने कब पूरे होते हैं। नागिन ने कासीराम को डँस लिया। खाल के चलते उसका दवा दारू करने दूसरे गाँव में ले जाना संभव न था। वह भगवान को प्यारा हो गया। राजा के सामने गाँव वालों ने फरियाद की थी पुलिया बनाने के लिए। लेकिन "राजा राज के नशे में चूर रहता था। कर-तौजी उगाहना और जीवन

का आनंद लूटना ही उसका एकमात्र काम था।'' (पृ. 19) राजा, मंत्री, कर्मचारी आदि के करतब कथा कहने के क्रम में बार-बार आते हैं। ये कभी प्रजा के हितैषी न थे। इनकी चर्चा सुनकर हम आज प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार, मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री, अन्यान्य विभागों के मंत्री, चापलूस नेता आदि बार-बार स्मरण हो आते हैं। कथा तब की है, लेकिन पढ़कर लगता है आज का समय चित्रित हुआ है। आम आदमी की उपेक्षा सदा से होती आयी है। राजतंत्र हो या सरकारी तंत्र, किसी ने भी गरीबों के छोटे-छोटे सपनों को पूरा होने नहीं दिया है। लेकिन, घट्टीवाली माई ने अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति और लगन से पुलिया बनाई। इससे दूसरों को भी प्रेरणा मिली। घट्टीवाली माई की पुलिया ''अंग्रेजों से लड़ाई की साक्षी रही। आजादी के कई दीवानों को उसने इस पार से उस पार पहुँचाया। फिर एक दिन देश भी आजाद हो गया।''

कहानीकार ने कथा कहने के क्रम में जन-जीवन के यथार्थ के मनोरम बिंब अंकित किये हैं। मसलन—''चूँकि राज्य में भूख, गरीबी और गैर-बराबरी खूब थी, तो चोरी, लूट और धाड़े पड़ने जैसी घटनाएँ भी खूब होती थीं। राजा के पास कोई उपाय नहीं था इसलिए राजा ज्यादातर मौन ही रहता था। उसकी छवि भी ईमानदार राजा की थी। लेकिन उसके मंत्री बड़े घाघ थे। वे उस राज्य को चारों तरफ से नोच-नोचकर, लूट-खसोटकर धन कमाने में जुटे थे।'' (पृ. 21)

बहरहाल, इस कहानी में भी कहानीकार ने भूमंडलीय यथार्थ की विडंबनाओं को भुलाया नहीं है। लोक-कथा में उत्तर आधुनिक भारत की विसंगतियों की ओर इशारा किया है। इतिहास में राजा-महाराजा और आजादी की गाथा को जरूर लिखा गया। लेकिन घट्टीवाली माई की कथा कहीं नहीं है सिवाय 'एक जेहन से दूसरे जेहन में लगातार उतरने' के। खैर, बदलते समय की दास्ताँ को लेखक के शब्दों में जाना जा सकता है—''देश की नदियों पर दानवी कब्जा बढ़ता रहा रात-दिन। अब तक जीवनदान देनेवाली नदी जीवन हरने बढ़ने लगी कदम दर कदम।...जंगल, जमीन और नदी के पानी के सौदे जारी रहे। रियाया के काम का ही नहीं, जान तक का सौदा जारी रहा।'' (पृ. 25-26)

चारों ओर भ्रष्टाचार हैं। भ्रष्टाचार की सुरंगों के मुँह बंद करना जरूरी है। अतः घट्टीवाली माई की तलाश है।

राजस्थानी में विज्जी यानी विजयदान देथा ने पशु-पक्षियों की कथा के बहाने लोक-कथा के माध्यम से मानव मूल्यों की कथात्मक अभिव्यक्ति की थी। सत्यनारायण ने 'एक था चिका एक थी चिकी' में देथाजी के काम को हिंदी में आगे बढ़ाया है। तीस बरस की रूपा रोहित की मामी और पूजा की मौसी है। उन्हें फुर्सत में केणी (कहानी) सुनाती है। यह कहानी या किस्सा लोककथा या मनगढ़ंत हुआ करती थी।

...और पूजा के माध्यम से बाल और किशोर मनोविज्ञान को उकेरा गया है तो ...के माध्यम से समाज में स्त्री की दुर्दशा के चित्र भी अंकित हैं। चिकी के प्रति ...का प्रेम और संवेदनशीलता स्पष्ट जाहिर होते हैं। समाज में व्याप्त घोर स्वार्थपरता ...मिलते हैं तो मिन्की के माध्यम से शोषक वृत्ति का परिचय प्राप्त होता है। ...तई सीमित रहने वालों के प्रति व्यंग्य है—''ऐसे गाँव में क्या रहना जहाँ लोग ...वक्त में काम न आयें? किसी की जान भी जान के बदले बचाये। थू...थू...'' (पृ. 37) इस कहानी में भी कहानीकार ने रोचक कथा की प्रस्तुति में कोई समझौता नहीं किया है।

सत्यनारायण पटेल पक्षधर कहानीकार हैं। इनकी कहानियों के पात्र पीड़ित, शोषित और निर्यातित हैं। पर वे हैं संघर्षशील। सत्ता से साँठ-गाँठ करके ये पात्र अपना निजी ...नहीं बढ़ाते हैं। वे इसके लिए निर्मित भी नहीं हैं। न ही ये पात्र सत्ता से सीधी टक्कर लेते हैं, क्योंकि उन्हें पता है कि सत्ता और पूँजी के खेल में उनकी सामर्थ्य को कुचला दिया जाता है। अपने स्तर पर जो संभव है, जितना उनसे बन पड़ता है उसका पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करते हैं। हाँ, अन्याय का सहन नहीं करते हैं। दरअसल, इस कहानीकार का यथार्थवाद से अतिशय आग्रह नहीं है। वस्तुस्थिति का पूर्ण ज्ञान है। समाज में परिवर्तन लाने के लिए इनके पात्र हिंसा का मार्ग नहीं अपनाते हैं बल्कि कर्तव्यनिष्ठा, बुद्धि और संघर्ष के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन के सपने को पूरा करने का प्रयास करते हैं।

अस्तु, सत्यनारायण पटेल की कहानियाँ युगीन यथार्थ को अत्यंत रोचक और प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत करती हैं। मालवा अंचल की कई खूबियों और अभिव्यक्तियों के समावेश से कहानियाँ जीवंत हुई हैं। रचनाकार ने कहानी कहने के दौरान जो भी स्वाभाविक रूप में शब्द, मुहावरे आ जाते हैं उन्हें यथावत् ग्रहण करने में कोई परहेज नहीं किया। जैसे, प्ठावी हो गयी थी' (कुख्यात के अर्थ में) (पृ. 14), 'मावठा बरस रहा था' (पृ. 19) यानी बे-मौसम बरसात, 'खाल कंठारा छेक बहने लगा था' (वही), अर्थात् किनारे के पार बहने लगा था, 'आप पकवान जीमना (पृ. 63)—खाना आदि। इन कहानियों में गहरे स्तर तक मानवीय संवेदना व्याप्त है। इनमें सजगता और आम आदमी की पक्षधरता है। कहानीकार की आत्मीयता मनुष्य तक सीमित न होकर मानवेतर तक व्याप्त है। इनमें स्थानीयता मौजूद है तो वैश्विक संदर्भ भी विद्यमान हैं। कथा कहने की परंपरा जो लुप्तप्राय थी उसे इस कहानीकार ने फिर से जीवनदान प्रदान किया है। कहा जा सकता है कि इस कहानीकार ने अपने समय और समाज के अंतर्विरोधों, विसंगतियों और यथार्थ को कथा के माध्यम से जीवंत ढंग से उज्जीवित किया है।

• ● •

प्रतिरोध की कहानियाँ

अनंत कुमार हिंदी के सुपरिचित कहानीकार हैं। पिछले तीस वर्षों से अनंत कुमार की कहानियाँ नियमित प्रकाशित होती आ रही हैं। अब तक उनके सात कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'चौराहे पर', 'और लातूर गुम हो गया', 'राग भैरवी', 'तुम्हारी तस्वीर नहीं है ये', 'कठफोड़वा' तथा अन्य कहानियाँ', आजादी की कहानी।' इनमें से 'और लातूर गुम हो गया' तथा 'कठफोड़वा तथा अन्य कहानियाँ' संग्रहों की काफी चर्चा हुई। हाल ही में अनंत कुमार आठवाँ कहानी-संग्रह 'ब्रेकिंग न्यूज' भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित होकर आया है। यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि अनंत कुमार सिंह की कहानियों की अपेक्षित चर्चा नहीं होती है। उनके तीस वर्षों के कथा-लेखन को कथालोचन ने समुचित तथा न्यायत: विचार नहीं किया है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि अनंत कुमार ने बिना शोर मचाये लेखन-कार्य किया है। उन्होंने साहित्य के 'पावर गेम' में कभी विश्वास नहीं किया है। अपने जीवन के साठ वसंत पार कर चुके तथा लेखन के तीस वर्ष पूरा करने वाले उस रचनाकार की कथा-दुनिया के सम्यक विवेचन करने का समय आ चुका है।

अनंत कुमार के कथा जगत् का मुख्य सरोकार उनका समय, समाज और समसामयिक जीवन है! उन्होंने अपने समय और समाज को पोथी के आधार पर नहीं, अनुभवों के आधार पर परखा और समझा है। इन अनुभव के संसार से उन्हें जीवन-दृष्टि और कथा-दृष्टि दोनों हासिल हुई हैं। यूँ तो रचनाकार प्रगतिशील होता है, परन्तु, अनंत कुमार विशेष रूप में प्रगतिशील हैं। यह इसलिये कि उनकी रचनाधर्मिता में अधिकांश लोग ऐसे मिलते हैं जो भूखे, फटेहाल, शोषित, पीड़ित, अत्याचारित, निर्यातित तबके के अंतर्गत हैं। इस कहानीकार का मन सर्वाधिक वहाँ रमण करता है जहाँ समय और समाज के दंभ और त्रासद स्थितियों को झेलने के लिए आम आदमी

अवगत होता है। यह कहानीकार केवल तटस्थ द्रष्टा बनकर नहीं रहता बल्कि उन शोषितों के अंतर्लोक में प्रवेश करते हुए जीवन यथार्थ को उद्‌घाटित करता जाता है।

अनंत कुमार सिंह की कहानियाँ वैविध्य से भरपूर हैं। इनमें गाँव, कस्बा, शहर, महानगर मौजूद है तो प्रेम, विरोध, प्रतिरोध, नाते-रिश्ते की मजबूत डोर भी विद्यमान है। भूमंडलीकरण के दौर में बदलते समय और समय की त्रासदी है तो भूख की असह्य पीड़ा से कराहते लोगों की आर्त्त की पुकार भी। सांस्कृतिक विघटन की चिंता से पीड़ित कहानीकार की अभिव्यक्ति सामने आती है तो पूँजी की छद्‌म लीला का अनावरण भी हुआ है। आशय यह है कि अनंत कुमार की कहानियों में मानव जीवन संपूर्णता के साथ अभिव्यंजित हुआ है। कहानी केवल जीवन की आईना तो नहीं होती, वह जीवन-दृष्टि को भी व्यंजित करती है। बहुआयामी होती है। उसका कौन-सा आयाम उभरेगा, यह तो दृष्टिकोण पर ही निर्भर करता है। अनंत कुमार की कथा-दृष्टि उनकी कहानियों से गुजरने के बाद ही स्पष्ट होगी। पूर्वग्रह से ग्रसित न होकर कहानी-पाठ के पश्चात् उसका परिचय मिल सकता है।

भूमंडलीकरण और बाजारवादी अर्थव्यवस्था ने गाँव तक को अपने कब्जे में ले लिया है, आदमी को अत्यधिक प्रतियोगी और अस्थिर बना दिया है। प्रतिस्पर्धा इतनी तेजी के साथ बढ़ रही है कि चारों ओर अविश्वास और संदेह का वातावरण बना हुआ है। आज का मनुष्य हताश, उदास और अकेला जीवन जी रहा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ बड़ी चालाकी से मुनाफा कमा रही हैं। उनके चक्रव्यूह में शहर ही नहीं गाँव भी पिस रहा है। ऊपर से क्रिकेट के प्रति हमारी बढ़ती दिवानगी को ये कंपनियाँ खूब भुना रही हैं। इस प्रतिक्रिया में अपने सारे देशी खेल लुप्त होते जा रहे हैं। कृषि-भूमि कंपनियों के हवाले हो रही है। बीज का पेटेंट जारी है। तमाम लोक नृत्यों को जलती आग में डाल कर डिस्को का उद्‌दाम नृत्य कायम है। ग्रामीण जन-जीवन में बाजार का परकाया प्रवेश तेजी से हो रहा है। असली मुद्‌दा यह है कि गाँव को गाँव न रहने दिया गया है। उससे भी बड़ी चिंता कि मनुष्य को मनुष्य बने रहने के अधिकार से च्युत कर दिया गया है। इस पृष्ठभूमि के साथ 'भुच्चड़' कहानी का पाठ हो तो कहानीकार की चिंता से पाठक रू-ब-रू होंगे। कहानी के विरोध परिप्रेक्ष्यों को स्पष्ट कर सकेंगे। ढहते मूल्यों और जीवनादर्शों को बचाने के प्रयास कर सकेंगे। सबसे बड़ी बात है कि मनुष्य बन कर जीवन धारण कर सकेंगे। खुशी की बात है कि कहानी का मैं यानी एम.ए. पास आनंद, जो अर्धसरकारी संस्थान का कर्मचारी है, गाँव के नये ढंग से परेशान है। गनीमत है कि वह विदेशी पेयों में अपने को डुबाए नहीं रखता। वह दस वर्ष बाद गाँव आया है देखने। गाँव बदला या नहीं, यह बताना मुश्किल है। लेकिन गाँव के सारे लोगों की मानसिकता का कायापलट हो चुका है—''दिनभर हल,

बैल कुदाल, गाय-भैंस, पुलाव, सानी-पानी मतलब रखने वाले निरक्षर घनु चाचा और विश्व कप क्रिकेट? कहाँ से कहाँ पहुँच गये घनु चाचा और कैसे? ऐसा गुणात्मक परिवर्तन? एकदम चोला ही बदल गया।'' (पृ. 11) यह एक बहुत ही छोटी कहानी है पर बड़ी चिंता को समेटती है। मौजमस्ती, शराब-कवाब आदि में गाँव के लोग जुटे रहेंगे तो भला कौन-सा सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक विकास संभव होगा? 'मुआर नहीं' का विक्रम भी शहर से गाँव आता है दशहरे की छुट्टी में। ग्रामीण यथार्थ की एक बेहतरीन कहानी है 'मुआर नहीं'। कहानी में चित्रित चाचा, विक्रम और सोनू-मोनू तीन पीढ़ियों के प्रतिनिधि हैं। विक्रम ईमानदार है तो व्यावहारिक भी है। इस कहानी में विदेशी कंपनियों की धूर्तता से भी लोगों को सावधान कराया गया है। कॉरपोरेट फार्मिंग के नाम पर कंपनियाँ मालामाल हो रही हैं और किसान आत्महत्या के लिए मजबूर। विक्रम की चिंता है—''महाराष्ट्र में विदर्भ के किसानों की स्थिति जगजाहिर है जहाँ ऊबे-टूटे किसानों की आत्महत्या का दौर चल पड़ा है। बुंदेलखंड विशेष कर बाँदा जनपद में कई किसानों ने फाँसी लगाकर अपनी जान दे दी। भारत सरकार द्वारा विकास और विज्ञान के नाम पर कॉरपोरेट घरानों की खिदमत की जा रही है...तब कैसे बचेंगे खेत...खेती...किसानी का तो नाम ही नहीं रह जाएगा।'' (पृ. 20) खेत, खेती और किसानी को न बचा पाने का आशय यह है कि भारतीयता को गहरे संकट में डालना है। कहानी में गाँव की हालत यूँ बताई गई है—''आधे लोग एक शाम खाना खाते हैं। कर्ज में डूबे हैं यहाँ के लोग। लड़कियाँ शादी के बिना बूढ़ी हो रही हैं। खाने के अभाव में बुधिया कलहट कर मर गई। सुकन को टी.बी. हो गई है और मौत का इंतजार कर रहा है। खेत रहते ये लोग कंगाल है। कितने ही लड़के पंजाब, गुजरात भाग गये हैं। जो हैं वे लूट-मार करेंगे...भूख क्या नहीं करा देती....'' (पृ. 24) गाँव की ऐसी दयनीय स्थिति से विक्रम अत्यंत चिंतित है। परेशान भी। लेकिन वह हाथ पर हाथ धरे बैठा नहीं रहता है। इस स्थिति का सामना करने के लिए उपाय के बारे में सोचता है। उसे जरूरी लगा कि गाँव के लोगों को चेतनशील बनाया जाये। उनमें जागरूकता फैलाए। एक लघुनाटक 'पेनतालुकागिरी' खेला गया। नाटक के चरमोत्कर्ष में महाराष्ट्र के पेनतालुका क्षेत्र के किसानों ने फैसला किया था कि वे हक छीनने वालों की हत्या करेंगे न कि विदर्भों के किसानों की तरह आत्महत्या। कहानी में विक्रम का प्रयास सफल होता प्रतीत हो रहा है। आलोचक कह सकते हैं कि कहानी में समस्या का समाधान क्यों? समाधान नहीं दिया गया है बल्कि उसकी ओर इशारा किया गया है कि एक रास्ता यह भी हो सकता है।

एम.ए. पास चौधरी मुरारचंद्र शास्त्री रिक्शा चलाते हैं। उनकी सारी जमीन यादवों ने अपने कब्जे में ले ली है। उन्हें न्याय चाहिए। न राबड़ी देवी के जमाने में इंसाफ

और न नीतीश कुमार के शासन काल में। ऊपर से उन्हें पागल करार दिया गया। आम आदमी न्याय की भीख माँगे तो उसका क्या हश्र होता है? इसका चित्रण अनंत कुमार सिंह ने 'वाह रे! आह रे! चौधरी मुरारचंद्र शास्त्री' कहानी में किया है।

प्रेमचंद ने 'कर्मभूमि' में औपनिवेशिक शिक्षा-व्यवस्था के बारे में कहा था— "शिक्षालय क्या जुर्मानालय है।" पर आज की शिक्षा-व्यवस्था उससे भी भयानक साबित हो रही है। शिक्षा भी व्यवसाय में बदल चुकी है। 'अच्छा कैंपस' का मतलब है चमकती इमारतें और फीज लाखों में, शिक्षकों का शोषण आदि। मूल्यों को बनाए रखना पुराणपंथी का पर्याय माना जाता है। अमानवीयता का चरम निदर्शन बनकर आ रहा है यह 'एलीट स्कूल', मृत्यु पर भी शोक न मनाने की तालीम दी जा रही है— "'स्कूल का एक लड़का एक्सपायर कर गया है।' आकाश ने उत्साहित होकर कहा। उसका चेहरा गहरी मुस्कराहट से सराबोर हो गया।" (पृ. 36) स्कूल की मालकिन मधुबाला कपूर इस इलाके की रानी हैं। बड़े शहरों में उनसे भी बड़ी रानियाँ हैं। कहानीकार की चिंता है—"जहाँ आम आदमी की पहुँच ही नहीं है उन्हीं स्कूल में तैयार किये जा रहे हैं संवेदनहीन, नैतिकताहीन, जमीन से कटे हुए स्वप्नजीवी बच्चे, जिनमें न राष्ट्रीयता की भावना है, न मानवता का दर्शन है और न नैतिकता का पाठ है। व्यवहार करो और फेंक दो, अधिक से अधिक पाने की हवस और दुनिया मेरी मुट्ठी में। बस इसी किस्म की होड़ है...दौड़ है।...लूट है...।" (पृ. 37) उपभोक्तावादी संस्कृति को फलने-फूलने देने में पूँजी ने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है अनंत कुमार सिंह की कहानियों में गरीब, निर्धन, सर्वहारा के चित्र बार-बार उकेरे गये हैं। 'पहियों पर पहाड़' शीर्षक कहानी में रिक्शाचालक अनवर तथा बस्ती के तमाम दलितों और उपेक्षितों के प्रति कहानीकार की प्रबल संवेदना अभिव्यक्त हुई है। प्रसंगतया सामाजिक व आर्थिक विषमताओं का भी वर्णन किया गया है। समाज तथा देश में व्याप्त घूसखोरी, बेईमानी, कमीशनखोरी, अराजकता आदि के विरुद्ध आवाज उठाई गई है। कथाकार ने रिक्शावाले का बिंब अंकित किया है—"दुबला-पतला, पल-पल खाँसता, खाँसते-खाँसते बेदम हो जाता, हाँफता, डगमगाता, कश बाहर फेंकता बिहारी।...कभी-कभी कहता है—बीमार पर गइल रहीं...खाँसी हो गइल रहे।" (पृ. 55) इसी क्रम में 'मुखड़ा-दुखड़ा-टुकड़ा' का भी अवलोकन किया जा सकता है। यह कहानी भी लगभग आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई है। मुंबई की लोकल ट्रेन में सवार बिहार का युवक जब यह जानता है कि किसी ने ट्रेन की पटरी पर आत्महत्या कर ली है तो अचानक एक स्मृति तरोताजा हो उठती है जो उसके गाँव में घटित हुई थी। नदी के किनारे आधी रात को फूट-फूटकर रोने वाली महिला को कथा-वाचक ने आत्महत्या से बचाया था। जीवन में कुछ स्मृतियाँ

ऐसी बनी रहती हैं कि वे कभी किसी स्थान पर अचानक उभर आती हैं और व्यक्ति उनमें तल्लीन हो जाता है। इस कहानी में महानगरीय जीवन की भागमभाग है तो नदी किनारे का इलाका भी चित्रित हुआ है। दूसरों की मदद करने की ललक और त्याग की भावना से प्रेरित हैं कहानियाँ—'मुखड़ा-दुकड़ा-दुकड़ा', 'पहियों पर पहाड़' आदि।

सदियों से भारत के मासूम लोगों को धर्म के नाम पर भरमाया जा रहा है। भटकाया जा रहा है। भारतीयों की सबसे बड़ी कमजोरी है धर्म का वास्ता। धर्म के ध्वजाधारी पूजा-अर्चना, कर्म-कांड आदि के बहाने अपना मतलब सीधा करते रहते हैं। 'मुँह में राम-नाम बगल में छुरी' कहावत को ये पंडे-पुजारी चरितार्थ करते आ रहे हैं। अनंत कुमार ने 'राह जहाँ मिलती है' के स्वामी योगानंद के माध्यम से तथाकथित पुजारी की न केवल काली करतूतों को उघाड़ा है बल्कि उसके दुष्कर्मों का प्रतिरोध भी करवाया है। सामान्य जन को संगठित कर संघर्ष के लिए प्रेरित किया है। कोई कह सकता है कि यहाँ भी कहानीकार समाधान प्रस्तुत कर रहा है। लेकिन, ध्यान से देखा जाए तो तथाकथित साधु-संन्यासियों का भंडाफोड़ होते ही आमजन का विरोध और प्रतिरोध स्पष्ट देखा जाता है। इस दृष्टि से कहानी में यथार्थ का अंकन हुआ है न कि कोरा आदर्श का विवरण प्रस्तुत किया गया है। क्रोध, आवेश और विरोध का स्वर रामदास उठाता है—"देखिए दीना भाई! अब वह समय बीत गया जब काला बिल्ला लगाने पर प्रबंधन काँप जाता था। अब प्रबंधन ढीठ हो गया है—निर्लज्ज! और आपका हाकिम तो बजबजाती नाली का कीड़ा है। उसे बाहर की साफ हवा से घुटन होगी, साफ पानी से उबकाई आने लगेगी। उसे उसी भाषा में समझाना होगा।" (पृ. 77)

आज हिन्दी की कई पत्रिकाएँ प्रेम-कहानी के विशेषांक निकाल रही हैं। प्रेम के नाम पर पाठकों के सामने जो कुछ परोसा जा रहा है वह किसी भी अर्थ में स्वस्थ मानसिकता का प्रतीक नहीं है। नंगापन बोल्डनेस का प्रतीक बन रहा है। इस संदर्भ में अद्‌भुत प्रेम-कहानी हैं अनंत कुमार की 'जिनगी के मितवा'। औपनिवेशिक भारत की एक महत्त्वपूर्ण घटना के आधार पर कहानी का ताना-बाना बुना गया है। यह कहानी बहुआयामी भी है। जाति के आधार पर होने वाली हिंसा की वारदातों के लिए एक शिक्षणीय प्रसंग भी। 1935 के जमाने में परबतिया की बेटी सुगमनिया के प्रेम में मड़ई दुबे का मड़ई डोम घोषित होना किसी भी ऐतिहासिक घटना से कम नहीं है। अमरूदी डोम की पत्नी परबतिया द्वारा स्टीफेन साहब की वासना का विरोध न करना कि 'जमींदारों के मालिक ने उसे इस लायक समझा' तत्कालीन औपनिवेशिक मानसिकता का सूचक है। मड़ई के माध्यम से लेखक ने कहलवाया है—"प्रेम से बड़ा कुछ भी नहीं होता...न दुनिया का आदमी, न कोई वस्तु और न भगवान। जाति धरम प्रेम की राह में रोड़ा नहीं अटका सकता। प्रेम के आगे मैं किसी की नहीं समझता।" (पृ. 93)

क्यों न हम 'अकथ कहानी प्रेम की....' से सीख लें और दुनिया को प्रेममय तथा आनंदमय बना दें। अनंत कुमार सिंह की एक और कहानी है 'बसन्ती बुआ'। यह भी प्रेम पर आधारित है। यह भी बहुआयामी है। इसमें दस वर्ष के बालक के मनोविज्ञान का यथार्थ चित्रण है तो हिन्दी प्रदेशों में आबरू बचाने, जाति व कुल की प्रतिष्ठा में कोई आँच न आने देने की कोशिश में संतान की हत्या करने वालों की मानसिकता को चित्रित किया गया है। जाति, धर्म, संप्रदाय के नाम पर समाज के ठेकेदारों की निर्ममता पर व्यंग्य भी है। दुनिया इक्कीसवीं सदी में हो और लोग पुराणपंथी बने रहें तो भला सामाजिक विकास कैसे संभव होगा? 'बसन्ती बुआ' से गुजरने के बाद तमाम सवाल उभरते हैं। सवालों का उभरना कहानी की सार्थकता का परिचायक है। नाते-रिश्ते की महीन डोर के अत्यंत सावधानी से सँवारना पड़ता है। परंतु, भूमंडलीकरण के इस दौर में हमारे मानवीय संबंध व आत्मीय संबंध दरकते जा रहे हैं। आज संपर्क का माया-जाल प्रबल हो रहा है। टूटते, बिखरते, कराहते संबंध मानव जाति के लिए गंभीर संकट उत्पन्न कर रहे हैं। आज संबंध नहीं है, संपर्क है। धन का प्राबल्य देखिए कि माँ तथा पिता की मृत्यु पर भी पुत्र अपने आत्मीयजनों के बीच नहीं जा पाता है। उसे अत्यधिक प्रेम है अपनी नौकरी से, पदोन्नति से, साहब की खुशामदी से। रुपयों के सामने सारे नाते-रिश्ते बौने, ठिगने और निर्जीव बनते जा रहे हैं। कैसी विडंबना है यह जमाने की! संवेदनाएँ छीज रही हैं, सूखती जा रही हैं। टी.वी. चैनल में काम करने वाले विवेक के माध्यम से अनंत कुमार ने बहुत ही उम्दा कहानी लिखी है— 'ब्रेकिंग न्यूज'। संवेदनशील पाठक को झकझोर कर रख देती है यह कहानी। इस एक कहानी के आधार पर अनंत कुमार सिंह दशकों तक पहचाने जायेंगे। प्रशंसनीय कहानी है। अमानवीयता और असंवेदनशीलता का मौन विरोध है तो मानवीयता और रिश्तों की ऊष्णता को बचाए रखने के लिए प्रबल आग्रह कहानीपन का अभाव नहीं है। भाषा और तकनीक समर्थ है।

अनंत कुमार सिंह की कहानियों में यथार्थ के कई रूप हैं। उनकी कहानियाँ अति यथार्थ से मुक्त हैं। उनकी कहानियों में समता, भाईचारा और सौहार्द्र की उत्कट कामना है तो मनुष्य विरोधी शक्तियों के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर बुलंद हुआ है। यह सच है कि कहानीकार का विरोध और प्रतिरोध का स्वर शोरगुल नहीं मचाता बल्कि संश्लिष्ट रूप में मुखर होता है। कहानीकार की प्रगतिशील दृष्टि कहानी के रेशा-रेशा में जाहिर होती है। उसकी सहज तथा संप्रेषणीय भाषा कथ्य को बड़ी सफलता के साथ अभिव्यक्त करती है। उसकी अधिकांश कहानियों में जनभाषा तथा बोलियों का बेहिचक प्रयोग हुआ है। इससे स्वाभाविकता तथा विश्वसनीयता उत्पन्न होती है। ऐसा कहा भी सकता है कि मगही, भोजपुरी आदि के प्रयोग में इस कहानीकार ने

बड़ी सफलता हासिल की है। यह उसकी ताकत है। सामर्थ्य है। कहानी को मर्मस्पर्शी बनाने में लोकभाषा के प्रयोग ने बड़ी भूमिका निभाई है। अनंत कुमार सिंह की कहानियाँ अपनी सहजता और प्रतिबद्धता के चलते आने वाले दिनों में पाठकीय स्मृति में बनी रहेगी, यह निर्विवाद है। यदि कथालोचक अनंत कुमार सिंह की कहानियों में कमजोर शिल्प देखते हैं तो उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि कहानी शिल्प के आधार पर कालजयी नहीं बनती है। कहानी में मार्मिकता होनी चाहिए। कल्पनाजीवी की कहानी मार्मिक नहीं होती है। सामाजिक संघर्ष, जीवनानुभव और ठोस जमीन से संबद्धता हो तो कहानी पाठक को बाँधे रखने की सामर्थ्य हासिल करती है। कहानीकार की कहानी भले समाप्त हो जाए, पाठक की नहीं होती। कहानी समाप्त कर लेने के बाद वह कभी बेचैन होता है तो कभी प्रश्नाकुल और कभी निर्वाक बन जाता है। ऐसा कर पाना कहानीकार की सफलता नहीं सार्थकता है।

• ● •

विकटतम स्थितियों में भी जिंदगी जीने का लालच

किरण सिंह हिंदी की सिरीयस कहानीकार हैं। यह सिरीयसनेस उनके सरोकार के चलते हैं तो कहानी के प्रति उनकी दृष्टि के कारण भी। 'तुरंता' में कहानी लिखकर छपवाना, प्रशंसाएँ बटोरना और चर्चा में बने रहना इस कहानीकार का न तो कभी उद्देश्य रहा है और न ही कोई आकांक्षा। इक्कीसवीं सदी के पहले दशक से आज तक बमुश्किल दर्जन भर कहानियाँ ही लिखी हैं इस कहानीकार ने। बहुतायात में लेखन इनका स्वभाव नहीं है। लेखन और प्रकाशन के मामले में बहुत ही गम्भीर। इसी के फलस्वरूप पचास की उम्र में एकमात्र संग्रह 'यीशू की कीलें' प्रकाशित हुआ है। इसमें संकलित अधिकांश कहानियाँ 'हंस' में और एक-आध 'कथादेश' में छप चुकी हैं। लेकिन किरण की कहानियाँ 'हंस मार्के' की नहीं हैं। यह सच है कि वे स्त्रियों के दुःख-तकलीफों को उभारती हैं, उससे उनकी स्त्री विषयक दृष्टि का पता चलता है लेकिन फिर भी इन्हें आप स्त्री-विमर्श के खाते में ही नहीं रख सकते। यानी उनकी कहानियाँ स्त्री-विमर्श की देह तक सीमित नहीं कर सकते। देह से बढ़कर जीवन होता है। इसे मन्नूजी ने अपनी आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' में दिखाया भी है। किरण सिंह की रचनाएँ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक सरोकारों से युक्त हैं। इनमें रचनाकार का व्यक्तित्व, उसकी सम्पृक्ति, उसकी प्रतिबद्धता और उसका जुड़ाव सहज ही दृष्टिगोचर होते हैं।

कहानी कहने और कहानी लिखने में बड़ा फर्क है। आजकल कहानियाँ लिखी बहुत जा रही हैं, कही या सुनाई बहुत कम। प्राचीन काल से कहानी का घनिष्ठ संबंध कहने और सुनने से रहा है। कहने और सुनने अथवा सुनाने की परंपरा जारी रहे तो उसके दूरगामी प्रभाव परिलक्षित होते हैं। हिंदी कहानी के एक सौ सोलह साल के इतिहास में तमाम परिवर्तन देखे जा सकते हैं। लेकिन इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि जहाँ भी 'कथा' या आख्यान की परंपरा का अवलंबन हुआ है उसकी

प्रभावोत्पादकता में वृद्धि हुई है। सरसता, रोचकता, ग्रहणशीलता आदि में भी अंतर दिखाई पड़ता है। कहानी विधा के सामान्य पाठकों के लिए कहानी में 'कथा' या 'आख्यान' का समायोजन अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है। पंकज मित्र, सत्यनारायण पटेल जैसे कुछ ही कथाकारों के यहाँ 'कथा' का समायोजन हुआ है। किरण सिंह की कहानियाँ कथातत्त्व से भरपूर हैं। लेकिन मनोरंजन इनका लक्ष्य नहीं है। ये कहानियाँ हमें बार-बार डिस्टर्ब करती हैं, बेचैन करती हैं, झकझोरती हैं साथ-ही रचनाकार के सरोकार और दृष्टि से रू-ब-रू कराती हैं। जीवन की जटिलताओं और समय के अंतर्विरोधों के बीच मानवीय जिजीविषा को बचाए रखने की जद्दोजहद भी यहाँ देखी जा सकती हैं। तमाम विपरीत स्थितियों में भी पराजय का वरण न करना और संघर्षशीलता जारी रखना इन कहानियों में अभिव्यक्त हुआ है। किरण सिंह ने लिखा भी है—"बस इतना जान लीजिए कि मेरे लिए कहानी, वह आग है जो उस तरफ लगी हुई जंगल की आग को बुझाने के लिए, इस तरफ से लगा दी जाती है। मैं अपने को और दूसरों को नष्ट करने वाला मानव बम नहीं बनना चाहती। मैंने अपने क्रोध को रचनात्मकता में तब्दील किया है। मेरी कहानियाँ, सामंती सोच वाले समाज से, मेरा रचनात्मक प्रतिरोध है। मेरा व्यक्तिगत मत है कि स्त्री की अधिकांश क्रिया, क्रिया नहीं, प्रतिक्रिया होती है। स्त्री या तो रक्षात्मक रहती है या आक्रामक, वह सहज मनुष्य नहीं रहती। मेरे लिए कहानी, विकटतम स्थितियों में भी जिंदगी जीने का लालच। मैं अपनी कहानियों की शुरुआत नहीं जानती लेकिन अंत जानती हूँ। विकटतम स्थितियों में भी मेरी नायिकाएँ न हारेंगी, न मरेंगी। वे डरेंगी पर वे लड़ेंगी। 'न दैन्यं न पलायनं'। मनुष्य से इतर किसी भी शक्ति में मेरा विश्वास नहीं। 'नहिं मानुषात हि श्रेष्ठतरं किंचित्। 'नियति यदि बदनियति पर उतरी तो उसे मनुष्य के इस्पाती इरादों से टकराना होगा।" अस्तु कुछ कहानियों के माध्यम से इन मुद्दों का खुलासा करने का प्रयास किया जाना उचित लगता है।

किरण सिंह कहानी का प्लाट अपने जीवन के इर्द-गिर्द से लेती हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियों में 'सत्यता' और विश्वसनीयता मौजूद रहती हैं। मसलन 'संझा' कहानी का प्लाट अपने ममेरे भाई जुगल किशोर के सच्चे जीवन पर आधारित है। थर्ड जेंडर की जीवन-यंत्रणा और उनकी विडंबनाओं के साथ-साथ अस्मिता की खोज करने वाली इस महत्त्वपूर्ण कहानी में रचनाकार की दृष्टि और उसके रचना-कौशल का सुंदर परिचय मिलता है। इक्कीसवीं सदी में भी समाज की मानसिकता पूर्ववत् रूढ़िग्रस्त बनी हुई है। उसमें कोई बदलाव नहीं आया है। ऐसा होना न ही परिवार और समाज के लिए घातक है बल्कि राष्ट्र तथा मानवता के लिए भी अत्यंत चिंताजनक है। सामाजिक प्रतिष्ठा और गौरव के नाम पर हो अथवा मर्दवादी वर्चस्व के चलते

थर्ड जेंडर की सत्ता को ठेस पहुँचाना अथवा उसे मनुष्य के रूप में स्वीकार न करना बीमार मानसिकता का प्रतीक है। किरण लिखती हैं—''मामा अपने घर के दरवाजे पर खड़े होकर जुगल भइया को गाली देकर ही बुलाते हैं। उनके लिए जुगुल किशोर, उनके पौरुष पर ऐसा कलंक है जो दिन-रात उनकी आँख के आगे नाचता रहता है। जुगुल भइया अपना उभरा सीना छिपाने के लिए झुकते चले गए। (यीशू की कीलें, पृ. 196) ग्रामीण जीवन की पृष्ठभूमि में रची गई इस कहानी में वैद्य की पुत्री संझा के व्यक्तित्व को बड़ी बारीकी से प्रस्तुत किया गया है। वैद्यजी के अंतर्द्वंद्व, उनकी ऊहापोह आदि को भी वे जीवंत रूप में कथा के बहाने चित्रित हुआ है। संझा जीना चाहती है अपने तरीके से। अपनी शर्त पर। लेकिन उसे नहीं पता है कि स्वाभाविक जीवन और अस्वाभाविक जीवन होते क्या हैं। चरक, सुश्रुत, धन्वंतरि आदि ने उस जैसे की तकलीफ के बारे में कुछ नहीं लिखा है। और इधर समाज के 'लोग उन्हें गालियाँ देते हैं, थूकते हैं, उनके मुँह पर दरवाजा बंद कर लेते हैं, उन्हें घेर कर मारते हैं।' समाज के लिए अछूत और घिन्न खाने लायक समझने वाली संझा अपने बाउदी के सामने अपनी इच्छा व्यक्त करती है कि वह उन्मुक्त रूप से विचरना चाहती है तथा स्वाभाविक मनुष्य बनकर जीना चाहती है—मैं बाहर निकलना चाहती हूँ बाउदी! मैं औषधि की पत्तियाँ छूना चाहती हूँ। बहता पानी...गीली मिट्टी...जंगल...आसमान देखना चाहती हूँ। बाउदी। मैं दौड़ना चाहती हूँ...खूब जोर से हँसना चाहती हूँ...सबके जैसे जीना चाहती हूँ।'' (पृ. 179) कहना न होगा कि किरण के पास सादगी से गंभीर और मार्मिक विषय को अभिव्यक्त करने की जबर्दस्त सामर्थ्य मौजूद है।

'मानुख' और ' छि: मानुख' के अंतर को कथाकार ने अत्यंत संवेदनापूर्वक चित्रित किया है। ललिता महाराज जैसे नचनिया के पालित पुत्र कनाई के साथ संझा के विवाह के बाद संझा के चरित्र और व्यक्तित्व-अंकन में कथाकार के विशिष्टताबोध का परिचय प्राप्त होता है। ससुराल में आने के बाद लोगों ने स्पष्ट स्वीकार किया—संझा बिटिया के कारण यहाँ की हवा बदल रही है। बसुकी और कनाई को रातभर मचान पर छोड़कर संझा चारों दिशाओं में पहरा देती। अपनी सुरक्षा और पत्नी के कर्त्तव्य-संपादन का यह अद्भुत उपाय है। बसुकी के गर्भवती हो जाने के बाद गाँववाले भड़कते हैं। उनसे भी अधिक ललिता महाराज। संझा का साथ न तो उसका पति देता है और न ही वे लोग जिनके लिए उसने अपनी पूरी सेवा निस्वार्थ भाव से समर्पित की थी। इस कहानी में थर्ड जेंडर के प्रति कथाकार की दृष्टि स्पष्टतया परिलक्षित होती है। इस कहानी की खूबी को रेखांकित करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है—'''संझा' आज की कहानियों में एक विशिष्ट उपलब्धि है। इसमें स्त्री और पुरुष से ऊपर एक नवीन मानवीय स्पर्श है।'' कहा जाना चाहिए कि यह कहानी-विमर्श तक परिमित नहीं है। इसके

माध्यम से समाज में व्याप्त सड़ी-गली मान्यताओं, दकियानूसी विचारों, जर्जर हो रही परंपराओं एवं अंधविश्वासों पर सशक्त प्रहार भी है। हाल ही में प्रकाशित चित्रा मुद्गल का उपन्यास कमरा नं. 203 नाला सोपारा' के साथ इस कहानी को मिला कर पढ़ा जाए तो थर्ड जेंडर पर हिंदी की कथा दृष्टि का कुछ परिचय मिल सकता है तथा इसके वितान की व्यापकता और गहनता को भली-भाँति समझा भी जा सकता है।

'हत्या' कहानी में सुमन, दीपा, सुधा दीदी आदि के बहाने किरण सिंह ने अभावग्रस्त नारी की आत्म-सजगता, संघर्षशीलता और स्वाभिमान को नये अंदाज लेकिन अत्यंत आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया है। स्कूल की डांस टीचर सुमन अजितेश की पत्नी और लकी की माँ है। परजीवी है पति। पत्नी की कमाई से पलता है। घर और बेटे की पढ़ाई का सारा खर्च सुमन को ही उठाना पड़ता है। उसके भाई से कोई मदद नहीं मिली और उससे भी बड़ी बात यह कि माँ सब कुछ जानकर भी चुप रहीं। यह कैसा समय है कि माँ, भाई आदि आत्मीय होते हुए भी उनमें कोई आत्मीयता नहीं रह गयी है। अजितेश श्री श्री अजिताचार्य बनकर दुनिया को ठगने के पहले अपनी पत्नी को ठगे जा रहा है। ऐसा पूछा जा सकता है कि सुमन उसे छोड़ क्यों नहीं देती? स्वतंत्र जीवन क्यों जीने के लिए निकल नहीं पड़ती? अपने सहपाठी मित्र से बातचीत के दौरान वह इस संबंध में कहती है—"जिस घड़ी मैं पहचान गयी कि लकी मुझसे यह नहीं पूछेगा कि मैंने उसके पिता को क्यों छोड़ा...वह दिन होगा कि मैं लकी का हाथ पकड़ूँगी और उस घर को लात मारकर निकल जाऊँगी।" (पृ. 142) घर का सारा काम, स्कूल की ड्यूटी, ट्यूसन के बाद खाना, बर्तन, रसोई की सफाई, अम्माजी के पैरों में मालिश, लकी को अम्माजी के कमरे में सुलाने के बाद सुमन जब कमरे में पहुँचती तो अजितेश प्रतीक्षा कर रहा होता है अपने शरीर की भूख मिटाने के लिए। दरअसल, वह 'रोज' कहानी की नायिका मालती से भी बदतर स्थिति में है। लेकिन सुमन जानती है अपने आप को, पहचानती है अपनी सामर्थ्य को और हार मानना उसके स्वभाव में नहीं है। वह यथार्थ से अनभिज्ञ नहीं है। तभी वह राज से अपने मन की बात कहती है—"मैं अजितेश से नफरत करती हूँ। वह मेरा खून पीकर जिंदा रहने वाला परजीवी है। मैं अपनी सास से भी प्रेम नहीं करती। उन्होंने अजितेश को सही-गलत की तमीज नहीं सिखाई।" (वही) अपने बेटे की खुशी के लिए वह गर्भावस्था में भी वामा क्लब में नृत्य करती है। सुधा दीदी का स्नेह उसे मिलता है तथा उसकी कला कुशलता की प्रशंसा भी होती है। नृत्य के बाद वह गिर पड़ती है। कथाकार ने लिखा है—"बेहोश होती हुई सुमन की जाँघ पर, काला-कत्थई, टुकड़ा-थक्का रक्त, भल्ल...भल्ल...बह रहा था।" (पृ. 147) हत्या यानी भ्रूण की जो सुमन चाहती न थी। लेकिन उस हत्या को भी जानना जरूरी है जहाँ सुमन की इच्छाओं और अरमानों का

...पल में गला घोंटा जा रहा था। इस कहानी की सबसे बड़ी ताकत है लकी के ...तुमन का ममत्व और उस ममत्व के लिए अपनी जिद और संघर्षशीलता को बचाए ...ना। सहपाठी राजन की संवेदनशीलता कहानी को नया आयाम देने में समर्थ है। ...यह कहानी पुरुष के विरोध में नहीं बल्कि मर्दवादी मानसिकता के और पुरुष वर्चस्व ...के खिलाफ है।

किरण सिंह की कहानियाँ विश्वसनीय हैं और पाठकों में भरोसा जगाती हैं। यह ...इसलिए कि वे जमीनी सच्चाई को अपना कर कथा सुनाती हैं। 'यीशू की कीलें' ऐसी ...एक कहानी है। गजब का अवलोकन है कथाकार का। उसने अपने समकाल के ...राजनीतिक परिदृश्य को जिस शिद्दत के साथ प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र बहुत कम ...दिखाई पड़ता है। बिना गहरे जुड़ाव, लगाव और प्रतिबद्धता के ऐसी अंतर्दृष्टि संपन्न ...कहानी लिखना बहुत मुश्किल है। अन्य कहानियों की तरह इसका भी कलेवर लंबा ...है। हमारे समय की राजनीतिक पतनशीलता का साक्ष्य प्रस्तुत करती है यह कहानी। ...यहाँ के राजनीतिक परिदृश्य में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक पराभवों का ...भी चित्रण हुआ है। सत्ता का दोगलापन हो अथवा उपेक्षित नारी दृष्टि, भ्रष्टाचार हो अथवा घेरेबंदी, जाति की दुहाई हो अथवा ईश्वर की, सत्तासीन बने रहने के तमाम ...षड्यंत्रों की रचना युग-स्पंदन को साकार करना है। कहानी पढ़ते हुए कई मर्तबा शरीर में स्वाभाविक कंपन होता है। झकझोर कर रख देने की सामर्थ्य है। आप डिस्टर्ब हुए बिना नहीं रह सकते। जिस प्रकार यीशू के बदन पर ठोंके गये काँटों की कल्पना मात्र से हमारे अंदर सिहरन होने लगती है ठीक उसी तरह 'आश्रम' में रहकर पलने-बढ़ने वाली आठ लड़कियाँ युवती बनकर किन अनुभवों से गुजरती हैं, उसका चित्रण स्वयं कथाकारों के शब्दों में जान लेना जरूरी है—''मेरे लिए आदमी का मरदा अंग, यीशू के बदन पर ठोंकी गई कीलों की तरह प्राण तक थीं। बाइस साल की उम्र तक मुझे शरीर के हर छेद से इतना सफेद पानी पिलाया गया कि मेरा खून सफेद हो गया। मैं ऊँगली डालकर उल्टी करती रहती थी और चित लेटते ही कांपने का दौरा पड़ जाता था। मैं हमेशा बीमार रहने लगी थी और बेकार हो रही थी। आश्रय अनाथालय और पहिया पार्टी सुप्रीमो में डील हुई।'' (पृ. 132) चुनाव का समय हो अथवा टेंडर दिलवाने का मौका हो, किसी भी काम के लिए या तो पैसे की डील हो रही है अथवा स्त्री शरीर का इस्तेमाल—''पार्टी जितनी बार घोटालों में फंसी, उतनी बार मुझे कच्छी की तरह वर्जिनिटी झिल्ली पहना दी जाती थी। जज, सीबीआई के अधिकारी, कॉर्पोरेट दलाल मुझे केश से नाखून तक पहचानते हैं।'' (वही) पच्चीस पार की लड़कियाँ बूढ़ी घोषित कर दी जा रही हैं। ताउम्र कुँवारी और गर्भाशय निकाली बांझ लड़कियों की तादाद बढ़ाकर सरकार महिला सशक्तीकरण का काम कर रही है। सत्ता और व्यवस्था

के इस अनाचार को चुपचाप सहने की विवशता ही कहानी में हो तो रचनाकार के विजन का पता नहीं चलता और न ही यह स्थिति अग्रगामी बनाती है। ऐसे में यह कहानी महत्त्वपूर्ण बन जाती है जब निर्यातित स्त्री अपनी जबर्दस्त सूझ-बूझ का परिचय देते हुए सर्वशक्तिमान सत्ता के प्रतिनिधि अरिमर्दन सिंह की हत्या कर देती है। वही अरिमर्दन जो औरत को इंसान नहीं समझता और स्त्री को घर की चहारदीवारी के अंदर देखना चाहता है, हर औरत को हत्यारिन और वैश्या बनने के लिए उकसाया करता है। अतः सही मायने में देखा जाए तो यह शोषणमुक्ति हेतु संघर्षशील स्त्री की कहानी भी है।

चुनाव प्रचार के दौरान गाँव, कस्बे की शोचनीय आर्थिक स्थिति के बारे में परिचय मिलता है। विद्यालय का भवन नहीं है, पीपल के तले कक्षा लगती है, लेकिन कंप्यूटर बाँटे जा रहे हैं। आजीविका के लिए काम करते हुए किसी के हाथ कटे हैं तो किसी की जांघ, नेताओं का प्रलोभन जारी है। सारे हथकंडे अपनाये जा रहे हैं ताकि वे सत्तासीन हो सकें। लगभग निरंकुश बन चुके अरिमर्दन का असली चरित्र उनकी पत्नी दीदीजी के निम्न वक्तव्य से स्पष्ट होता है—''मेरे पति कहते हैं, मैं जिस औरत को आँख उठाकर देख लूँ वो मेरे बिस्तर पर सोती है और जिस आदमी को आँख उठाकर देख लूँ वो चिता पर'' (पृ. 110) यह है हमारे देशभक्त नेताओं, भारतमाता के सपूतों और राष्ट्रसेवियों का वास्तविक चेहरा। ऐसी स्थिति में सारा उस्मानी का हिम्मत के साथ सामने आना बहुत स्वाभाविक है, केवल 'विश्फुल थिंकिंग' नहीं। 'सोशल इंजीनियरिंग' के आधार पर देश का मतदान होने का उल्लेख करके कथाकार ने अपनी गहरी चिंता व्यक्त की है। जाति, धर्म, नस्ल के आधार पर मनुष्य को विभाजित करना कई तरह के संकटों को न्योता देना है। कहना न होगा कि 'यीशू की कीलें' अपने सामाजिक जीवन के खोखलेपन और पारिवारिक जीवन की विसंगतियों को अत्यंत मर्मस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत करने वाली एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। राजनीति केवल सत्ता तक सीमित नहीं रह गयी है, यह हमारे जीवन के तमाम संदर्भों और परिप्रेक्ष्य को नियंत्रित करने लगी है। पति-पत्नी के मधुर संबंध तक को बुरी तरह से कलुषित करने वाले इस तत्त्व को बड़ी बारीकी से तमाम अंतर्विरोधों के साथ प्रस्तुत करने में कथाकार को महारत हासिल है। भाषा का प्रवाह और कहन के कारण यह कहानी खास बन जाती है। नाटकीयता से भरपूर, जमीनी सचाई तथा रचनात्मक कल्पनाशीलता से संपृक्त यह कहानी निस्संदेह हिंदी की महत्त्वपूर्ण कथा-कृति है।

'हंस' के रजत जयंती विशेषांक, 2011 में प्रकाशित 'कथा सावित्री सत्यवान की' पढ़कर हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है—''किरण के

कथा कहने की समर्थ शैली है और कथा के चरित्रों की मन:स्थितियों की गहरी है।'' 'कथा के चरित्रों की मन:स्थितियों की गहरी समझ' होना कथाकार का बहुत बड़ा गुण है और कथा की बड़ी शक्ति। मिथक में उल्लेख मिलता है कि ...त्री ने अपने पति सत्यवान को यमराज के मुँह से लौटाया था। तब से लेकर आज ...पुरुष नामक प्राणी यह उम्मीद लगाए बैठा आ रहा है कि पति को मृत्यु के जबड़े ...खींचकर लाने की जिम्मेदारी पत्नी की है। रेनू चौधरी के माध्यम से पुरुष द्वारा ...ली गई और विश्वासघात की गई स्त्री जीवन की कराह, छटपटाहट और मनोव्यथा ...के साथ-साथ बौद्धिक जगत् की चोरी पर भी चिंता जाहिर की गई है। लेखक-समाज ...में ईमानदारी के अभाव से उत्पन्न स्थिति का भी चित्रण मिलता है।

पत्र शैली में लिखी गई इस कहानी की सतत प्रवाहधर्मिता पाठक को बाँधे रखने की पूरी ताकत रखती है। 'बीमार आदमी की औरत' शीर्षक कहानी के लेखक विजयन ने रेनू चौधरी की निजी जिंदगी की छल से ली गई छायाप्रति के सहारे कथा नायिका की अस्मत उतारकर नंगई उतारी है। धोखाधड़ी और निजता की हानि के साथ-साथ अन्य मुद्दों पर मुकदमा चलाया जाता है। इस संघर्ष की गाथा को रचना में चित्रित किया गया है। विजयन जैसे कहानीकारों की असलियत का खुलासा इन शब्दों में किया गया है—''ये औरतों की महीन-अंतरंग बातें जानने के लिए उनका मनोविज्ञान, उनकी निजी जिंदगी से बावस्ता सभी पहलुओं को समझने के लिए, उनके साथ गहरी दोस्ती या मुहब्बत का नाटक करते हैं।'' (पृ. 52) और भी, ''इनके जैसे लोग ड्रेकुला से भी भयानक हैं, क्योंकि ये आधा खून स्वयं पीकर आधा खून अपने साथियों को चाटने के लिए छोड़ देते हैं। उस शिकार का पीछा करने के लिए बर्बर आदिम लालच भी जगाते हैं।'' (पृ. 55) साहित्य के क्षेत्र में स्त्री को यूज करके अपनी ख्याति अर्जित करने की गलत परंपरा पर भी कटाक्ष किया गया है। पूरी कहानी में पक्ष-विपक्ष का प्रस्तुतिकरण महज विजयन और रेनू का न होकर अपने समय में व्याप्त मानसिकता का उद्घाटन बन गया है। पति हो या प्रकाशन संस्थान का मालिक हर्ष केशरी स्त्री का शोषण मानो उनका अधिकार बना हुआ है। बीमार आदमी की पत्नी की स्थिति देखी जा सकती है—''मैं बिना रखवाले की दानेदार फलियों वाली खेत हूँ। हर जानवर यहाँ मुँह मारना और पाँव उठाकर पेशाब करना चाहता है।'' (पृ. 64) आश्वस्ति की बात यह कि इस लंबी लड़ाई में रेनू की जीत होती है। इस न्याय-सभा के सरपंच वरिष्ठ तथा तटस्थ आलोचक बलिहारीजी ने निर्णय सुनाया—''सभी पंच इस पर एकमत हैं कि विजयनजी दोषी हैं। दंडस्वरूप विजयनजी तीन किश्तों में, एक साल के भीतर छः लाख रुपया रेनूजी को अदा करेंगे।''

किरण सिंह की कहानियों में वैविध्य है। यह विविधता वर्ण्य-विषय को लेकर ही नहीं फैली संबंधी भी है। लोक-कथा के आधार पर लिखी गई 'ब्रह्म बाघ का नाच' शीर्षक कहानी में गाँव-गाँव घूमकर 'नरसिम्हा और उसका बेटा' की अनोखी कथा निराले ढंग से सुनाने वाले का अद्भुत चरित्र-चित्रण किया है। इसे लेकर लोगों की मान्यता अथवा विश्वास को भी उजागर करने का सुंदर प्रयास हुआ है। गाँव वालों ने कथावाचक का नामकरण तक किया—'बरम बाघ' यानी बरगद के पेड़ के नीचे रहने वाला और कथा नाच दिखाने वाला। इस कथावाचक बरमबाघ के बारे में भ्रांतियाँ भी फैलाने का रोचक ढंग से वर्णन किया गया है। कथा सुनाई जाती है पद्य में तो कहानीकार ने गीतों को खूब बढ़िया ढंग से उपस्थापित किया है।

शेर बहादुर का बेटा था नरसिम्हा। अपने माता-पिता की मदद के लिए उनके साथ जाता। इसी क्रम में वह बगावती हो जाता है। लेकिन बगावत से बढ़कर भी बड़ी चिंता पाठक को इस शब्दों से गुजरकर होती है—"हम लोगों से डरते क्यों हैं? हम फेंकी हुई वस्तुएँ क्यों लेते हैं? मैं रक्त टपकती खाल नहीं ढोऊँगा। मैं गोबर में का अनाज नहीं खाऊँगा।" (पृ. 76) घोर अमानवीयता की स्थिति को रचनाकार ने चित्रित करते हुए जाति-विमर्श के साथ-साथ असमान आर्थिक और सामाजिक संरचना का भी उजागर किया है। इसीलिए किरण की कहानी विमर्श के लिए लिखी गयी कहानी नहीं है। हाँ, यह जरूर है कि उनकी कहानी से विमर्श उभरती है।

एक बात और भी है कि लोक, कला और संगीत को बचाए रखने का काम ये देहाती कलाकार ही करते आ रहे हैं। लेकिन, इधर किसी का ध्यान नहीं जाता है। बहरहाल इस कहानी की अंतर्वस्तु और इसकी बुनावट हमें फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कई बार याद दिलाती है। नरसिम्हा बाघ नाच करते समय जो सुनाता है उसे युगीन संदर्भ के साथ जोड़कर देखा जाए तो कहानी के कई आयाम खुलेंगे। अर्थात्, कहानी की बहुआयामितता स्पष्ट हो जाएगी। नरसिम्हा और दमयंती पुत्र सिंहासन मेले के मौके पर बाघा नाचा प्रस्तुत करता है तो लोगों को शंका होती है और वे अपनी शंका का निवारण करने के लिए उसकी चिकोटी काटकर परखना चाहते थे कि वह मृत्यु का देवता है या नहीं। दुस्साहसी नवयुवक ने चिकोटी काटी तो असलियत सामने आ गई। कहानी में एक दम नया मोड़ आता है जब भीड़ में सिंहासन की चिकोटी काटने की होड़ मच गई। दमयंती खुद जल जाती है लेकिन अपने बेटे को बचाने में सफल रहती है। सवाल यह है कि नरसिम्हा ने लोगों को जीवनभर डरा कर क्यों रखा था? उसने अपनी बाल्यावस्था में जो भोगा था, उसकी प्रतिक्रिया तो नहीं थी यह? खैर, यह कहानी ढेर सारे सवाल खड़ा करती है और कोई कहानी ऐसा करने में सफल है तो उसकी सफलता असंदिग्ध हो जाती है।

ग्रामीण जीवन के चित्र अपनी तमाम खूबियों तथा कमियों के साथ चित्रित करने में कथाकार सफल रही हैं। ग्लोबल संदर्भ में बदलते गाँव को उसकी सच्चाई के साथ इन कहानियों में उकेरा गया है। 'जो इसे जब पढ़ें' के अंतर्गत '1977 का जेठ मास' अथवा '1978 का क्वार मास' या कोई भी उप-शीर्षक पढ़कर उपर्युक्त तथ्य को महसूस किया जा सकता है। मसलन, घर की औरतों की अपनी सोच रखने की आदत खत्म कर दी गई थी। बीती रात के अंधेरे में सुने गए शब्दों को पचाकर, वे सुबह आँगन में उगलती थीं। "हाँ, तो जिस घर हमारे कोई बाबा बदला लेने गए, उस घर के मुखिया ने अपनी अंधी लड़की का सिर जांत पर रखकर गड़ासे से काट दिया, बाबा को फँसाने के लिए।" (पृ. 91) छः उप-शीर्षकों से गुजर कर यह भी अनुभूत किया जा सकता है कि अब इस समाज के लिए सुभावती की कितनी जरूरत है। आत्मचेतस होना और अन्यायियों से जूझना कितना आवश्यक है। इसी तरह 'देश देश की चुड़ैलें' के दोनों खंडों में स्त्री-जीवन के संत्रास का मार्मिक चित्रण है। विश्वास के बदले उसे धोखा ही मिलता आया है। विकट समय में स्त्री जीवन की विडंबना कहानीकार के शब्दों में दृष्टव्य है—"मैं चाचा, भाई, दोस्त, पड़ोसी किसी पर भरोसा नहीं करती। मैं बोलती नहीं। हँसती नहीं। अखबारों से, फिल्मों से, आंदोलनों से भागती हूँ। बलात्कार—इस शब्द की एलर्जी से मुझे अस्थमा के दौरे पड़ते हैं। मैं अकेली पड़ती जा रही हूँ बाबा।" (पृ. 161) इस कहानी में चितमन, पंडिजी, बृखभनुजा, काकी आदि तमाम पात्रों के संवाद के माध्यम से कथाकार ने ग्रामीण समाज का यथार्थ चित्रण भी प्रस्तुत किया है।

'द्रौपदी पीक' शीर्षक कहानी न केवल किरण सिंह की बल्कि समकालीन हिंदी की एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। सांकेतिकता, बहुआयामितता, प्रवाहधर्मिता, प्रभावशीलता, नाटकीयता, संवादधर्मिता, सुघड़ता आदि की दृष्टि से भी यह एक सफल कहानी है। इस कहानी में पर्वतारोहण के रोमांच का वर्णन करना कथाकार का उद्देश्य नहीं है। न ही एवरेस्ट के शिखर पर पहुँचने के पहले की रोंगटे खड़ी कर देनेवाली घटनाओं का यथातथ्य वर्णन करना है। इसके जरिए विकटतम स्थितियों में भी आत्मसम्मान बचाए रखने और संघर्षशीलता जारी रखने की दुर्वार जिजीविषा है। इस कहानी में सोलह बार समिट कर चुके दोरजी की आत्मीयता, युवा योगी की मनोग्रंथियाँ अथवा हिंदू धर्म ध्वजा एवरेस्ट पर फहराने का जुनून, अदम्य साहस और जिजीविषा की प्रतिमूर्ति घुँघरु, शोमा, पुरुषोत्तम आदि पात्रों के माध्यम से कथा की सरसता और लेखकीय सरोकार दोनों का प्रतिफलन दिखाई पड़ता है। बिना बेस कैम्प में गये इस कहानी के पाठक वहाँ के जीवन और स्थितियों का जीवंत वर्णन प्राप्त कर लेता है। इसे लेखकीय

जीवन की सफलता ही माना जाएगा। लेकिन जैसा कि उल्लेख किया गया है किरण की कहानी का व्यापक वितान है। धर्म की जकड़बंदी और सोच की संकीर्णता से उनका कथाकार परेशान है, चिंतित रहता है। सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था में प्रचलित जकड़न और सीमाबद्धताएँ मानवता को किस रूप में नुकसान पहुँचा रही हैं, इस पर भी कथाकार की गहरी दृष्टि का परिचय मिलता है। इस कहानी से गुजर कर प्रो. रोहिणी अग्रवाल की स्थापना है—''बेशक, हिंदी कहानी की कुछेक महत्त्वपूर्ण कहानियों में एक है यह कहानी।''

किरण की कहानियाँ हमें उत्तेजित करती हैं लेकिन यह उत्तेजित होना वैसा नहीं है जो रहस्य और रोमांच से भरपूर रचनाओं से मिलता है। इनके लिए घटना सिर्फ घटना नहीं बल्कि यह किसी परिघटना का अंग है। आप भारतीय संस्कारों की विडंबना को गहरी जीवन परिस्थिति के अंतर्विरोध से जोड़ लेने की सामर्थ्य रखती हैं। पंडितजी सभी औरतों के लिए एक जैसी भविष्यवाणी करते हैं। इसका कारण पूछे जाने पर उत्तर मिलता है—''दुनिया में औरतों का भाग्य और सब्जी मंडी में सब्जियों का भाव एक बराबर होता है। काहे कि सब सब्जी वाले मिलकर तय कर लेते हैं। कोई दाम बिगड़ने वाला हो तो उसे जात बाहर किया जाता है।'' (पृ. 24)

अब इस स्थिति के बारे में क्या कहा जाए जो बहू बालक बाबा से गुहार लगा रही है—''बालक बाबा! हमारी सास हमारे और हमारे उनके बीच खटिया डाल के सोती है। आप तो देवता हैं...आपसे कहे में क्या लाज! गरीब के पास बेऔलादी दूर करे का और कौनो उपाय कहाँ है! अमीर-उमरा तो सुना शीशी-बोतल में संतान बो के जमा ले रहे हैं। बाबा! ऐसा जुगाड़ बइठे कि मेला से लौटूं तो सास का मरा मुख देखने को पाऊँ।'' (पृ. 26)

धार्मिक उन्माद और लोगों को गुमराह करने तथा भड़काने का काम महामंडलेश्वर के संबोधन से उजागर होता है—''आर्यावर्त में जब मुसलमानों का शासन हुआ तब हमारे पूर्वजों ने जिंदा रहते श्राद्ध किया, घर छोड़ा, कपड़े नदी में बहाए और धर्म रक्षा के लिए हथियार उठाया। हम मुसलमानों से लड़े अंग्रेजों से लोहा लिया...माहौल तैयार करके अपने आदमी को दिल्ली की गद्दी पर बैठाया।...हम समझ गये हैं कि धर्म-युद्ध अकेले ही लड़ना है। इस हेतु हमने नव-नागाओं का अपना संगठन तैयार किया। कल के शाहीस्नान के पश्चात् हमारी आर-पार की लड़ाई शुरू हो रही है। दो-चार आत्माओं का हवन हो सकता है। आप सब तैयार हैं?'' (वही) इतना ही नहीं कुमारी और विधवा गर्भवती कन्याओं को उनके परिजन त्याग देते हैं तो उन्हें अपने आश्रम में रखते हैं और बच्चा जनमते ही उसे अपने पास रखकर उसकी माँ को जंगल

जोड़ आते हैं। हिंदू राष्ट्रवाद का यह रूप भी देखना आवश्यक है—''मुझे सुन रही माताओं! मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि अपना एक पुत्र हमें दें। हम आपके बालक को राष्ट्र-निर्माण, धर्म-संस्कृति पुनरुत्थान के लिए तैयार करेंगे।...आप स्वयं देखिए कि गंगा जो हमारी पहचान है—वह कैसी मैली हो रही है। देखिए कि कानपुर में...भैंसों के चमड़े ये मुसलमान जानबूझकर गंगा में धोते हैं...पिशाब कहीं भी लगी हो आकर गंगा में करेंगे...हम अब ये सब सहन नहीं करेंगे।'' (पृ. 28) अनशन के बारहवें दिन केवल भभूत चाटकर जीवित रहने का रहस्य भरत बताता है कि महामंडलेश्वर का भभूत पीसा हुआ बादाम-अखरोट है। तभी तो पुरुषोत्तम ने बैनर लहराया—हवा-पानी-पेड़ बचाइए। सबसे पहले बच्चे बचाइए।

घुंघरू, दोरजी, शोमा, पुरुषोत्तम का दल द्रौपदी पीक पर चढ़ने वाला आखिरी दल था। अचानक बर्फ के पहाड़ उखड़ने लगे। मृत्यु से जूझते हुए घुंघरू, दोरजी आदि गिरते हुए जमीन के करीब पहुँच रहे थे, किसी सुरंग में थे। इस दौरान घूँघरू सोचती है—''मरना तो सबको है। कोई आगे, कोई पीछे। लेकिन वह हार नहीं मानेगी। वह मरेगी भी तो जीने की कोशिश करके मरेगी।''

मरणासन्न दशा में भी योगी स्त्री से बात न करने, याक के खून की बर्फी खाने से धर्म-भ्रष्ट हो जाने की बात करना, बारहवें दिन तक आते-आते वह घटित होता है जिससे उसका ब्रह्मचर्य छीन जाता है। वह सोमा को पिशाचिनी कहता है। सोमा योगी की असलियत का खुलासा करते हुए बताती है—''तुम्हारे आश्रम के मानवेंद्र, पद्मानंद...इन्हें इनकी माँ के प्रेमियों ने फेंका...मर्दों के लिए प्रेम, सिर्फ संभोग था...बिना जिम्मेदारी के मजा था...प्रेम अवैध था...इसलिए इस प्रेम से पैदा बच्चे अवैध थे। तुम संत...नागा सब उन्हीं की शाखा हो, क्योंकि तुम्हारी किताबों में...स्त्री सहवास की पर्यायवाची है और सहवास पाप का। मैं तुम्हारे देवताओं की कुंडली खोलूँ।'' (पृ. 46) कहना न होगा कि धर्म के ध्वजाधारी और पाखंडी बाबाओं को कृत्रिम तथा अस्वाभाविक जीवन छोड़कर सहज एवं स्वाभाविक जीवन स्वीकार करने के लिए स्त्री शक्ति बाध्य करती है।

और अंत में किरण सिंह के सरोकार को समझने के लिए उनके दो आग्रहों का जिक्र करना समुचित प्रतीत होता है—''मैं यहाँ बैठे पुरुषों से कहना चाहती हूँ कि मेरे लिए, मेरे उन चाचाओं जैसे मत बनिएगा जो मेरी चौकीदारी करते हुए मेरे अगल-बगल चलते थे और कहते थे कि तुम्हें रास्ता दिखाने के लिए तुम्हारे साथ चल रहे हैं।...यहाँ स्त्रियों से कहना चाहती हूँ मेरे लिए मेरी उस दीदी जैसी न बनियेगा जो...जरूर बताती थीं कि कैसे परिवार की एक सुंदर लड़की को एक गोड़ से संबंध

रखने के लिए जात पर लिटाकर फरसे से काट डाला गया।'' फुफेरेभाई से उन्होंने अपने भीतर के डर के जिन्न पर काबू पाना सीखा था, पुरुष वैसे बनें और स्त्री उनकी सहेली सुभावती की तरह बनें जो अपने प्रेमी से आखिरी बार मिलने गई थी और ठाकुर के लड़कों के कुप्रस्ताव पर उनमें से कुछ को मार गिराया था। अर्थात् किरण सिंह के विजन में समाज तथा राष्ट्र के साथ-साथ मानव समाज में परिवर्तनेच्छा, समता और बंधुत्व बहुत महत्त्वपूर्ण तत्वों के रूप में उभरते हैं। इसलिए कहानीकार ने स्त्री चिंता ही नहीं भारतीय जीवन संदर्भ में घटित स्थितियों के अनुभवों के आधार पर वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में कथा की दुनिया को बड़ी शिद्दत के साथ प्रस्तुत किया है। भारतीय जीवन-मूल्य को महत्त्व देते हुए जीवन की संभावनाओं के लिए संघर्ष को जीवित रखा है। किरण की कहानियों से गुजर कर राष्ट्रीय जीवन की कुछ धड़कनें स्पष्ट रूप में सुनी जा सकती है। ऐसा होना कहानीकार तथा कथाप्रेमियों के लिए सुखद अनुभव है।

समय और समाज के असली चेहरे को तलाशती कहानियाँ

युवा कहानीकार अनुज एक परिचित नाम है। 'कैरियर, गर्लफ्रैंड और विद्रोह' अनुज का पहला कहानी-संग्रह है। इसमें कुल नातिदीर्घ दस कहानियाँ संकलित हैं। इन कहानियों की सबसे बड़ी खूबी है कहानीकार का रचना-वैविध्य। लगभग सभी कहानियों को भाव-बोध भिन्न-भिन्न हैं। व्यक्ति से लेकर समाज तक, समाज से लेकर देश तक, देश से लेकर विश्व तक की यात्रा कराने में अनुज सफल रहे हैं। इनमें मानव जीवन की समस्याएँ हैं तो समाज की विडंबनाएँ भी मौजूद हैं। धार्मिक अंधविश्वास, कुसंस्कार का चित्रण है तो सांप्रदायिकता की विभीषिकाएँ भी हैं।व्यक्ति का अंतर्मन गुंफित हुआ है। विश्वविद्यालय की छात्रावस्था या छात्र-राजनीति के दाँव-पेंच के साथ-साथ बाजारवादी, उपभोक्तावादी सभ्यता के माया-जाल का भी चित्रण है। आशय यह कि अनुज बड़े रचना-फलक के कथाकार हैं। वे जीवन के करुण और कठोर अनुभवों को अपनी कहानियों में दर्ज करते हैं तो उनका समय उनमें झाँकता नजर आता है। इन कहानियों में समय ही नहीं सभ्यता की समीक्षा भी कथा-प्रेमी की संवेदनाओं से जुड़ती चली जाती है। अनुज के कहानी-पाठक को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह उसके कहानीकार का ही नहीं बल्कि उसका भी अपना अनुभव-जगत् है।

कहानी-संग्रह का शीर्षक महज एक नाम नहीं है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक से लेकर आज तक की युवा-पीढ़ी की सोच और मानसिकता का द्योतक है। उसकी प्राथमिकताओं का भी परिचायक है। युवा-पीढ़ी में सहज तथा स्वाभाविक रूप में सबसे पहले विद्रोह हुआ करता था। लेकिन आज की युवा पीढ़ी की सर्वाधिक प्राथमिकता है कैरियर। कैरियर भी ऐसा-वैसा नहीं, बहुराष्ट्रीय कंपनियों में मोटी रकम के बदले नौकरी करना या फिर अकूत पूँजी जुटाना। येन-केन-प्रकारेण कैरियर को सँवारना, माँजना और सजाना अर्थात् पूँजी की दासता स्वीकार कर लेना आज की युवा पीढ़ी

की सर्वाधिक वांछित चेतना है। इसके बाद गर्लफ्रेंड को दूसरी प्राथमिकता दी जाती है। ध्यान से देखा जाए तो यह भी उपभोक्तावादी सभ्यता का एक 'बाई-प्रॉडक्ट' है। 'इस्तेमाल करो और फेंक दो' का पर्याय जैसा है। इन दोनों चेतना-स्तरों को पार करने के बाद अंत में विद्रोह का स्थान है। पूँजी का कठपुतला और भोगवाद का दास बन जाने के बाद भला विद्रोह कहाँ जीवित रहता है? अतः कहानी-संग्रह के शीर्षक से ही अपने समय का यथार्थ साकार होता नजर आता है।

हिंदी के कहानी आलोचकों की अक्सर यह शिकायत रहती है कि आज की कहानियों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ नहीं है। गाँवों से आकर नगर और महानगरों में रहने वाले कहानीकारों के पास ग्राम्य-जीवन की स्मृतियाँ हैं। स्मृति कहानी नहीं बनती। इस तरह के कई आक्षेप आज के कहानीकारों पर किये जा रहे हैं। प्रसन्नता की बात है कि तीन-चार कहानियों में ग्रामीण यथार्थ चित्रित हुआ है। कहानीकार की गहरी पकड़ है इन कहानियों में। 'खूँटा', 'माइक्रोटावर', 'कुंडली' और 'खड़ेसरी बाबा' शीर्षक कहानियों में ग्राम्य-जीवन से अपने प्रत्यक्ष, रागात्मक संबंध की छाप मिलती है। इन कहानियों में ग्राम्य-जीवन का संघर्ष है, जिंदादिली है, स्पंदन है। साथ ही, इनमें ग्राम्य-जीवन में व्याप्त अंधविश्वास, कुसंस्कार, जड़ता, धार्मिक रूढ़ियाँ और जर्जर मान्यताएँ भी हैं। सबसे बड़ी बात है कि इन कहानियों में संवेदना का स्रोत प्रवाहित है। कोरा यथार्थ नहीं, सरस चित्रणों से भरपूर यथार्थ विद्यमान है। उन्होंने बड़ी सूझ-बूझ के साथ भारतीय ग्रामीण समाज के विविध संदर्भों को रूपायित किया है। ग्रामीण जीवन के प्रति गहरी रागात्मकता के बावजूद अनुज उसकी विसंगियों और विकृतियों को अनदेखा नहीं करते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि 'खूँटा' शीर्षक कहानी ने अनुज को सर्वाधिक प्रसिद्धि दी है। लेकिन, यह भी सत्य है कि 'खूँटा' के व्यामोह में अनुज बँधे हुए नहीं हैं। 'खूँटा' न केवल अनुज की बल्कि हिंदी की एक प्रसिद्ध कहानी है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था में बैल ही नहीं मनुष्य भी बिकाऊ है। बैल का खूँटे में बँधे रहना उसकी नियति है। मनुष्य की भी नियति कुछ ऐसी ही है। भारतीय जन-जीवन में बैल पशु मात्र नहीं होते, किसान-परिवार के सदस्य भी होते हैं। सुख-दुःख के साथी भी होते हैं। बैलों को बार-बार माँ के द्वारा रोटियाँ खिलाना, माथे पर टीका लगाना, गले में घंटी बाँधना, सींगों पर सिंदूर लगाना और आरती दिखाकर माथा चूमते हुए भाव-विभोर होकर उन्हें विदाई देते समय आँखें भर आना, आदि कहानीकार की व्यापक संवेदना का परिचायक है। बाजार में बैलों की जो स्थिति थी, मनुष्य की भी वही स्थिति बरकरार है—''कोई हरकत नहीं, न ही कोई विरोध। मेले में आकर खूँटे से बंध जाना, कतार

में खड़े रहना और पूँछ पटक-पटककर मक्खियों से लड़ते रहना—यही थी उनकी नियति।" (पृ. 105) सितुआ दलाल है, बाजार उसी से फलता-फूलता है। अनुज ने सितुआ में मानवता को जीवित दिखाया है, तभी तो इच्छित मोल पाने के बावजूद उसने कसाई को बैल नहीं बेचे थे। लेकिन नई पीढ़ी के शहर में पढ़े-लिखे अवध का कोई लगाव नहीं रह जाता है बैलों से। एक अत्यंत मार्मिक कहानी है 'खूँटा' जो पाठकों को झकझोर देती है।

'खड़ेसरी बाबा' में ढोंगी, पाखंडी, दुराचारी साधुओं का भंडाफोड़ किया गया है। कोई कह सकता है कि पुराना प्लॉट है यह। लेकिन, क्या भारतीय गाँव, कस्बा, नगर या महानगर सभी कुसंस्कारों से आज भी ग्रसित हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के चरम विकास काल में जंतर-मंतर, जादू-टोना का वर्चस्व जारी है। अशिक्षित ही नहीं शिक्षित और उच्च शिक्षित भी अंधविश्वासों के चक्रव्यूह में फँसकर मुक्ति-मार्ग की खोज कर रहे हैं। ऐसे में परम भोगी, विलासी, कामातुर बाबाओं से सावधान करने तथा उनकी कलई खोलने के लिए अनुज ने यह कहानी लिखी है। कहानीकार 'छोटकी चाची' के साथ है। बालक का मनोजगत् इस कहानी में साकार हो उठा है। कथावाचक बालक है। उसने धर्म के बहाने दैहिक, आर्थिक तथा मानसिक शोषण करने वाले खड़ेसरी बाबा की सच्चाई पेश की है।

माँगलिक बेटी के विवाह में आनेवाली समस्याओं को कहानीकार ने 'कुंडली' शीर्षक कहानी में उज्जीवित किया है। कुंडली न मिलना एक बहाना है। असली बात तो 'सौदा' न पटना है। अविवाहित पुत्री के पिता की मन:स्थिति हो अथवा माता की परेशानियाँ हों या भाई की चिंताएँ—अनुज ने सबका बड़ा ही सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया है। एक-एक घटना का ऐसा चित्रात्मक वर्णन हुआ है कि पाठक कहानी से जुड़ते चला जाता है। 'पापा' का जो चरित्र है वह हिंदी समाज का वर्गीय चरित्र है। झूठ-फरेब-तिकड़म से सदा दूर रहने का उपदेश देनेवाले पापा लाचार होकर पंडित के रणनीति का शिकार होते हैं, नकली कुंडली बनवाते हैं लेकिन कहानी की सबसे मार्मिक घटना है—होनेवाली सास का कहना—"बहनजी...अब सौदा करने आये हैं तो ठीक से देख-दाख कर ही करेंगे ना।" न माँ से रहा गया और न बेटी से। 'बोल्ड' दीदी पापा के पास सरक आई और बोलीं—"पापा, मैं शादी नहीं करूँगी...इस परिवार में तो बिल्कुल नहीं, चलिए यहाँ से।" (पृ. 26) 'माइक्रोवेव टावर' शीर्षक कहानी की भी पृष्ठभूमि गाँव है। भूत-प्रेत आदि के बारे में किशोरों की मान्यताओं का चित्रण प्रसंगानुसार हुआ है। परंतु जातिवाद, धार्मिक सांप्रदायिकता, ग्रामीण जीवन के छल-छद्म आदि की भयानकता को कहानीकार ने तटस्थ रूप में चित्रित किया है।

एक सच्चे संवेदनशील रचनाकार के रूप में अनुज सामाजिक विकृतियों की उपेक्षा नहीं करते बल्कि उनसे मुठभेड़ करते हैं। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रचनाकार अपने दायित्व को भली-भाँति समझता है और सजग भी रहता है। उसकी रचनाओं में मानवीय मूल्यों के प्रति गहरी आस्था है।

परतंत्र भारत ही नहीं स्वतंत्र भारत में भी सांप्रदायिकता एक विकट समस्या है। भारत ही क्यों, पूरे विश्व की गंभीर समस्या के रूप में सांप्रदायिकता खड़ी है। खुशी की बात है कि अनुज ने इस भयानक समस्या पर 'भाईजी' व 'माइक्रोवेव टावर' कहानियाँ लिखी हैं। सांप्रदायकिता की विष-ज्वाला को भड़काने में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के शाखा प्रभारी भाईजी की करतूतों को जगजाहिर किया है। हिंदुत्ववादी एजेंडा पर अड़े रहनेवाले बाल्यावस्था या तरुणावस्था से मासूमों के दिल-ओ-दिमाग में मुसलमानों के प्रति जो घृणा-भाव उत्पन्न करवाते हैं, उसको बिना लाग-लपेट के पेश किया है। सह-अस्तित्व को नकारने तथा अंध हिंदुवाद से उत्पन्न विभीषिकाओं का बारीक अध्ययन इस कहानी में किया गया है। 'भाईजी' कहानी में माँ 'भाईजी' के बारे में कहती हैं—''सारे बच्चों के मन में जहर भरता रहता है। लगता है सर्वनाश कराके ही दम लेगा। आप लोग भी भाईजी का ही साथ देते रहते हैं।'' (पृ. 34) हिंसा, घृणा, अविश्वास, विद्वेष, वैमनस्य को बढ़ावा देने वाली सांप्रदायिक ताकतों की समाप्ति होनी चाहिए। यह युगीन माँग है।

शहर और नगर जीवन की विसंगतियों पर अनुज की कहानियाँ हैं 'बनकटा', 'अनवर भाई नहीं रहे' और 'हंसा रे...।' यूँ देखा जाए तो अनुज की कहानी 'कैरियर, गर्लफ्रैंड और विद्रोह' की कथा भी जे.एन.यू. पर आधारित है। लेकिन सबसे पहले कार्यालयी जीवन और कर्मचारियों तथा अधिकारियों की मन:स्थितियों पर आधारित 'अनवर भाई नहीं रहे' की चर्चा अपेक्षित है। अनवर भाई की मृत्यु हो जाती है। उसके साथ काम करने वालों को इसका रंचमात्र भी दु:ख नहीं है। मगरमच्छ के आँसू तक नहीं बहाते। अनवर की पत्नी के रूप-सौंदर्य के बारे में जानने के लिए तीव्र उत्साह दिखाई पड़ता है। संवेदनाएँ भोथरी होतीं तो भी कुछ बातें बनतीं। संवेदनाएँ छीज गई हैं। पुरुष हो या नारी सभी अपने-अपने स्वार्थों से बँधे हुए हैं। तमाम विकृतियाँ मौजूद हैं उनमें। महानगर हो या शहर सभी मशीनी सभ्यता के चपेट में है। संवेदनहीनता का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है—''रिश्तेदारों के चेहरों पर गम से अधिक सुकून के भाव दिख रहे थे।'' (पृ. 52) इस कहानी में उपभोक्तावादी सभ्यता के दुष्प्रभाव भी परिलक्षित होते हैं। एक अत्यंत प्रभावी कहानी है 'अनवर भाई नहीं रहे'। तनावग्रस्त बनकटा दो बेटियों का पिता है। वह सदा अपनी बेटियों—दुर्गेश और सर्वेश को लेकर

...कित रहता है। शहर का वातावरण अत्यंत विषैला हो उठा है—''भरी दोपहर में ...च सड़क से उस लड़की को गुंडों ने जबरदस्ती उठाकर गाड़ी में बैठा लिया था। ...सी ने विरोध करने का साहस नहीं किया था।'' (पृ. 68) ''कॉलेज की किसी लड़की के साथ गुंडों ने चलती कार में बलात्कार किया और बलात्कार करते हुए देर रात ...क शहर में घूमते रहे।'' (पृ. 69) बताना जरूरी है कि इस 'बनकटा' कहानी में सूचनाएँ ...ही हैं। इसमें समय और समाज, सत्ता और शासन की साफ-साफ तस्वीरें उतारी गई ...। बनकटा एक कमजोर चरित्र है। लेकिन समाज में ऐसे चरित्रों की भरमार है। इस ...विषय पर चर्चा होनी चाहिए और कहानी का विश्लेषण भी जरूरी है कि बनकटा को कमजोर बनाया किसने? रोज-ब-रोज की दम घोंटनेवाली घटनाओं से कोई भी बनकटा ...जैसे बन जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। अतः इस कहानी के माध्यम से कहानीकार ने अपनी व्यापक चिंता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। भयावह समय की ओर ...इशारा किया है जिसमें मानव विरोधी शक्तियों का वर्चस्व है।

छल-प्रपंच, दाँव-पेंच, उठा-पटक आदि राजनीति के अंग बन चुके हैं। 'कैरियर, गर्लफ्रेंड और विद्रोह' में जे.एन.यू. कैंपस की राजनीति का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत किया गया है। इस विश्वविद्यालय में वामपंथी छात्राओं का वर्चस्व रहा है। आजमगढ़ निवासी श्यामाकांत सिंह 'विद्रोही' जैसे तमाम कस्बाई युवकों के सपने परिसर के पत्थरों में दफना देने वाले तत्त्वों में राजनीति के तिकड़मों का बड़ा हाथ होता है। 'आइसा' की कमान सम्हाल रहे विनयजी की स्वार्थपरता, महत्त्वाकांक्षा और अवसरवादिता के चलते विद्रोही न अपनी पीएच.डी. पूरा कर पाये और न तूलिका को पा सके। वे सांप्रदायिक संगठनों के एजेंट घोषित कर दिये गये। अंत में उनकी लाश पत्थरों पर ही मिली थी। आज ईमानदार और समर्पित कार्यकर्त्ता की हत्या कर दी जाती है और भ्रष्ट, पतित, बेईमान अवसरवाद जनतंत्र का ताज पहने घूमता फिरता है। दरअसल, यह कहानी न तो शैक्षिक संस्थानों तक सीमित है और न एस.एफ.आई. और 'आइसा' तक। सर्वत्र प्रतिबद्ध एवं समर्पित कार्यकर्ताओं का ऐसा हश्र होता आया है। तभी तो कहा गया है "देखो हत्यारे को मिलता राज-पाट सम्मान, जिनके मुँह में कौर मांस के उनको मगही पान।''

'कास्मोमोल कोटा' शीर्षक कहानी में अनुज ने वामपंथी नेताओं की अर्थलिप्सा और शक्ति व सत्ता के दुरुपयोग का खुलासा किया है। इस कहानी में होलटाइमर पिता की व्यथा-कथा भी चित्रित है। उनके जैसे तमाम कार्यकर्ता पार्टी की भलाई के लिए पूरी जिंदगी झोंक देते हैं लेकिन सत्तासीन नेता उनकी एक भी विनती नहीं सुनते। इंजीनियरिंग और मेडिकल की पढ़ाई के लिए 'कोटे' के आधार पर सीट उसे मिलती

है जो मोटी रकम दे सके। यदि मोटी रकम जमा करनेवाला आर.एस.एस. का भी हो तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता। दरअसल, आज की राजनीति पूर्णतया भ्रष्ट हो चुकी है। सिद्धांतों की लड़ाई नहीं होती। स्वार्थपूर्ति मूलाधार बन चुकी है। सेवा तो दूर यह पेशा से भी बदतर बन चुकी है। अनुज लिखते हैं—''सभी राजनैतिक दलों का चरित्र एक जैसा था। भिन्नता केवल धंधे के रंगों में होती थी, प्रकृति और प्रवृत्ति में नहीं।'' (पृ. 97)

अनुज की इन कहानियों से गुजरना एक वैविध्यमय दुनिया से गुजरना है। अपने समय और समाज के असली चेहरे की खोज करना है। समकालीन यथार्थ से रू-ब-रू होना है। मनुष्यता के संहारकारी तत्त्वों की शिनाख्त करते हुए एक बेहतर समाज की चिंता से परिचित कराती हैं—अनुज की कहानियाँ।

जीते हैं हम एक सपने के लिए

पिछले तीन दशकों की हिंदी-कहानी का स्वर उसकी पूर्ववर्ती कहानी की दुनिया की आवाज से बहुत कुछ बदलता हुआ प्रतीत होता है। इस दौर की कहानियों का मिजाज अलग है। संवेदना का सुर बदला है। नई कथा-भाषा भी निर्मित हो रही है। इसलिए, आज की हिंदी कहानी ठहराव का शिकार नहीं हुई है। कहानी को हाथोंहाथ लिया जा रहा है। दरअसल, पिछले तीस वर्षों की अवधि में भारत सहित पूरी दुनिया में बड़ी तेजी के साथ बदलाव आये हैं। हिंदी के कहानीकारों ने उन परिवर्तनों को न केवल लक्षित किया है बल्कि उन्हें भोगा तथा सहा है। तमाम सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उथल-पुथलों से प्रभावित होकर बड़ी भारी संख्या में कहानीकारों ने कहानियाँ लिखी हैं। उन्होंने बाहर की तेज आँधी से अपनी मिट्टी में घटित होने वाले बदलावों को बड़ी शिद्दत के साथ चित्रित किया है। खुशी की बात है कि युवा कहानीकारों का एक बड़ा वर्ग इस काम में जुटा हुआ है। अपनी जमीन से जुड़ी समस्याओं को कथा में पिरोने का काम कर रहा है। समय की चुनौतियों, उलझनों, परेशानियों और सवालों से बार-बार टकरा रहा है, उनसे जूझ रहा है। युवा कहानीकारों की सक्रियता से ना-उम्मीदी के माहौल में उम्मीदें बँधती हैं। संभावनाएँ दिखाई पड़ती हैं।

इस परिदृश्य में युवा कहानीकार अनुज की 'कथादेश' के नवंबर, 2012 में प्रकाशित कहानी 'अंगुरी में डँसले बिया नगिनिया' की चर्चा की जाएगी। यह कहानी प्रकाशित होते ही चर्चित हुई है। 'परिकथा' ने इस कहानी को केंद्रित करते हुए 'कथाभूमि' शीर्षक से बहस करवाई है। इस बहस की पहली कड़ी में वरिष्ठतम आलोचक प्रो. मैनेजर पाण्डेय और प्रसिद्ध कथालोचक डॉ. शंभु गुप्त के विचारों को

'परिकथा' ने अपने सद्यतम अंक मई-जून, 2013 में प्रस्तुत किया है। कहना न होगा कि अनुज की उक्त कहानी में बड़े पैमाने पर हिंदी प्रेमियों का ध्यान खींचा है। प्रो. मैनेजर पांडेय ने इस कहानी को 'पूरी तरह से अग्रगामी राजनीतिक दृष्टिकोण की कहानी' के रूप में स्थापित किया है। उन्होंने एक 'महत्त्वपूर्ण' 'प्रभावशाली' कहानी के रूप में इस कहानी का पाठ करने का आग्रह किया है। उन्होंने 'समाज की भयानक वास्तविकता का सच' को कहानी के माध्यम से ढूँढ़ने का प्रयास किया है। प्रो. पांडेय ने उचित ही लिखा है—"एक तरह से यह कहानी इशारे में यह बताती भी चलती है कि गरीब, निर्बल, असहाय और दलितों की आह का फल भुगतना पड़ता है और लेखक ने इसे कहानी में बहुत ही कलात्मक और प्रभावशाली ढंग से दिखाया भी है।" (परिकथा, मई-जून 2013, पृ. 21) उन्होंने इस कहानी में स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श के तत्त्वों की मौजूदगी की ओर भी संकेत किया है।

'अंगुरी में डँसले बिया नगिनिया' पर दूसरी बहस डॉ. शंभु गुप्त की है। एक लंबी बहस है यह। 'परिकथा' के आठ पृष्ठों में फैली हुई कहानी के आलोचक ने लिखा है—"इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में उभरी हिंदी की नई ताजा कथा पीढ़ी के एक महत्त्वपूर्ण कथाकार अनुज की एक उल्लेखनीय कहानी...कहानी अपने शाब्दिक कलेवर में चाहे थोड़ी सीमित और एक घटना विशेष पर संकेंद्रित हो लेकिन अपने इस छोटे से कलेवर में ही अपने अंदर एक बड़ी ऐतिहासिक परिघटना को समेटे है।" (यथोपरि, पृ. 22) उन्होंने यह भी लिखा है—"इस कहानी का कथात्मक कलेवर काफी व्यापक और बहुआयामी है।" (यथोपरि) उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि आलोचक ने 'अंगुरी में डँसले बिया नगिनिया' को 'उल्लेखनीय कहानी' तथा कथात्मक कलेवर को 'बहुआयामी' स्वीकार किया है। यह स्वीकारोक्ति लेख के प्रथम अनुच्छेद के प्रथमार्द्ध में है। लेकिन इसके बाद आलोचक ने कहानी को ध्वस्त करने के लिए अपनी ओर से तमाम तर्क प्रस्तुत किये हैं। ढेर सारे सवाल भी खड़े किये हैं। उनमें से कुछ सवाल या 'गड़बड़ियों' को उद्धृत किया जा रहा है।

1. "सवाल दरअसल यह है कि हम जिसे अपनी कहानी या कोई भी चीज समर्पित कर रहे हैं, वह इस दुनिया में है या नहीं?...असल सवाल यह है कि ये दलित विधवाएँ और बच्चे यहाँ प्रासंगिक हैं ही नहीं।" (परिकथा, मई-जून 2013 अंक, पृ. 23)
2. "लेखक ने इन दोनों को क्रमशः 'नकारात्मक' और 'सकारात्मक' कहकर एक तरह का सरलीकरण किया है जिसके चलते इन दोनों के पीछे की राजनीति पूरी तरह उजागर होने से रह गई है।" (वही)

3. ''क्या ब्रह्मेश्वर और उसकी सेना के विषय में ऐसा कहा जा सकता है कि वे एक उद्देश्यहीन लड़ाई में हैं और उसके पीछे उनका कोई खास मकसद छुपा हुआ नहीं है?'' (वही) (घनघोर स्वार्थ को 'उद्देश्य' कैसे कहें?)
4. ''लेखक ने इन दोनों के बीच की बातचीत में...जिस कथित विचार मंथन को जगह दी है और उन उलझनों को सुलझाने की जो लंबी कवायद की है, वह कम से कम मुझे कतई विश्वसनीय और वास्तविक और सतर्कता-भरा कथांकन नहीं प्रतीत होता।'' (वही)
5. ''खुद लेखक ने कहानी का मध्योत्तर काफी बड़ा हिस्सा यह साबित करने में खर्च किया है कि जेल में रहते हुए और जेल से बाहर आने के बाद बरहम बाबा आमूलचूल रूप से कुछ से कुछ हो आये थे।'' (वही, पृ. 24)
6. ''यह कैसा अजीब लेखकीय न्याय है इस कहानी का कि जिसका जूता उसके सिर या जैसे कि उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे या कहें कि बंदर की बला तबेले के सिर!
7. ''लेकिन इससे यह कहाँ पता चलता है कि वह छावनी की मुखबिरी करने जाती थी।'' (वही)
8. ''यह मौका लेखक से चूक कैसे गया?'' (वही)
9. ''इस पूरे प्रकरण में असल सवाल यही तो है कि लेखक को आखिर ऐसी क्या बेताबी और जल्दबाजी थी कि एक के बाद एक बारी और कथात्मक न्याय को धता बताती अनगिनत खामियाँ वह कहानी में छोड़ता चला गया और उस पर तुर्रा यह कि हम जातिवादी हिंसा के खिलाफ खड़े हैं।'' (वही, पृ. 25)
10. ''और जैसा कि हम देख रहे हैं, असल एजेंडे की तलाश करते-करते कहानी किस तरह बिखर-बिखर जा रही है।'' (वही)
11. ''दरअसल लग यह रहा है कि बहुत सारी परस्पर विरोधी वस्तुस्थितियों को एक साथ ले लेने और उन्हें उल्टे-सीधे और मनमाने तरीके से जोड़ते चलने की कोशिश के आग्रही चक्कर में कहानी लेखक के रचनात्मक नियंत्रण से एकदम बाहर हो गई है और जो कुछ कहने का तय करके वह चली होगी, उसकी लगभग विपरीत दिशा में आगे बढ़ती चली गई।'' (वही)
12. ''कहानी के अंत में पता नहीं किस जादू की छड़ी से लेखक ने इसे फिर से बसा दिया और ऐसा बसाया कि वहाँ जश्न भी होने लगे।'' (वही)
13. ''लेकिन देखने की बात यह है कि जब गाँव में बड़की दीदी के अलावा बसनी कहीं जाती ही नहीं थी तो सेना की मुखबिरी आखिर करती किससे थी? क्या हवा से या एम-सी.सी. के किसी जाँबाज से जिसका हवाला लेखक ने देना जरूरी

नहीं समझा या जो कि, जैसा कि मैंने ऊपर कहा, कहानी की घटनात्मक सतर्कता के लिए जरूरी था।" (वही)

14. "ऐसी स्थिति में यह कैसे सोचा जा सकता है कि इस हत्या और छावनी के हमलों के खराब होने के पीछे बसनी का हाथ है।" (वही)

15. "साफ है कि कहानी में गड़बड़ियाँ ही गड़बड़ियाँ भरी पड़ी हैं।" (वही)

आलोचक ने अपने आलेख के पहले चार पृष्ठों में उपर्युक्त पन्द्रह (संभवतः इससे भी अधिक) 'गड़बड़ियाँ' दिखाई हैं। आलेख के शेष चार पृष्ठों में और भी पन्द्रह से अधिक सवाल या 'गड़बड़ियों' के बारे में उल्लेख किया गया है। एक कहानी में तीस या उससे भी अधिक 'गड़बड़ियाँ' हों तो वह कहानी 'उल्लेखनीय' कैसे बन जाती है, यह समझ में नहीं आता है। पुनः कथात्मक संरचना में 'वास्तविकताओं का अभाव' है तो इतनी लंबी चर्चा की आवश्यकता क्या है? कहानी को पूरी तरह से ध्वस्त करने के प्रयास में उसकी भाषाई विशेषताएँ या कमियाँ पूरी तरह से भुला दी गई हैं। एक पंक्ति में भी उसके शिल्प पर चर्चा नहीं की गई है। आलोचक स्वतंत्र होता है कि वह किसी कहानी को किस रूप में ग्रहण करे। लेकिन, आलोचक इतना भी स्वतंत्र नहीं होता है कि किसी 'उल्लेखनीय' कहानी को कु-तर्कों के सहारे पूर्वग्रह से ग्रसित होकर उसे धराशायी कर दे। आलोचक का सीधा संबंध साहित्य से है। सहृदयता के अभाव में कोई आलोचक अपना आलोचना-कर्म कैसे संपादित कर सकता है? बहरहाल, 'अंगुरी में डँसले बिया नगिनिया' के आधार पर जो आपत्तियाँ उठाई गई हैं उनमें से कुछ एक की चर्चा अपेक्षित है।

अनुज ने इस कहानी को देशभर में हो रही जातीय हिंसा की घटनाओं में मारे गये लोगों की विधवाओं एवं उनके बच्चों को समर्पित किया है। एक जागरूक रचनाकार देशभर में फैली जातीय हिंसा की संहार लीला से चिंतित होता है। दिन-ब-दिन मारे जा रहे लोगों के परिवार की विधवाएँ एवं बच्चे सर्वाधिक प्रभावित होते हैं। उनके दुःख-कष्ट के प्रति संवेदनशील होकर कहानीकार ने अपनी रचना समर्पित की है। इसमें उसकी संवेदनशीलता निहित है। ये 'लोग' केवल किसी अंचल विशेष के नहीं हैं। किसी जाति या संप्रदाय विशेष के भी नहीं। चूँकि, रचनाकार जातीय हिंसा का विरोधी होता है, पीड़ित मानवता का पक्षधर होता है, इसलिए वह 'लोगों' की मृत्यु से पीड़ित होता है। विधवाओं और बच्चों को कहानी समर्पित करने के पीछे लेखक का सोच जाहिर होता है। उसकी चिंता झलकती है। आलोचक ने लेखक की संवेदना को समझे बिना बाल की खाल निकालने में अधिक दिलचस्पी दिखाई है। कहना न होगा कि ऐसी आलोचना से आलोचना जगत् की हानि होती है। आलोचना की

विश्वसनीयता समाप्त होती है। सच है कि रचना में एक-आध कमियाँ होती हैं। उन्हें प्रस्तुत किये जाने की जरूरत है। यदि रचना में कमियाँ ही कमियाँ हैं तो भला उसे 'रचना' का दर्जा कैसे दिया जा सकता है? उसे कम-से-कम 'उल्लेखनीय' तो कथमपि घोषित नहीं किया जा सकता है। 'कीचड़ से लिसड़ी हुई रचना' पर चर्चा ही क्यों हो?

आलोचक ने अपने आलेख का शीर्षक रखा है—'कदम-कदम पर कहानी को अपने शिकंजे में कसता लेखक' यानी रचनाकार ने पूरी तरह से कहानी को अपने ढंग से चलाया है। कहानी को स्वतंत्र ढंग से अंत:संरचना के आधार पर स्वायत्त रहने नहीं दिया। बकौल आलोचक—''लेकिन लेखक वस्तुत: इतना आजाद भी नहीं होता है कि कहानी को केवल अपने हिसाब से चलाए। कहानी की अपनी अंत:संरचना वस्तुत: स्वायत्त होती है और एक सीमा के बाद उसके नियंत्रण से बाहर हो लेती है। अनुज की इस कहानी के साथ सबसे बड़ी दिक्कत यही पैदा हुई है कि लेखक ने कदम-कदम पर कहानी को अपने शिकंजे में कसे रखना चाहा है।'' (वही, पृ. 29) 'कदम-कदम पर कहानी को अपने शिकंजे में कसे रखने' वाले कहानीकार के लिए आलोचक कह चुका है—''कहानी लेखक के रचनात्मक नियंत्रण से एकदम बाहर हो गई....'' (विस्तार के लिए 'गड़बड़ी' संख्या-11 द्रष्टव्य है)। आलोचक के विचार में निहित अंतर्विरोध को भलीभाँति देखा जा सकता है। ऐसी आलोचना से साफ जाहिर होता है कि कहानी को खारिज करने की सु-नियोजित योजना थी। परंतु अपनी लिखी हुई बात को भुलाकर उसके विरुद्ध तर्क खड़े कर दिये गये हैं। आलोचक को इस विषय पर ध्यान देना चाहिए था।

आलोचक ने यह जो सवाल उठाया है कि समर्पित करने वाला 'इस दुनिया में है या नहीं? इसका कहानी से कोई संबंध नहीं है। मूल बात है कि इसमें रचनाकार की भावना क्या है। किसी सोच से प्रेरित होकर वह समर्पण कर रहा है। कोई भी चीज या रचना केवल जीवितों को या मृतकों को ही समर्पित होगी, ऐसा नियम नहीं है। यहाँ भी आलोचक को रचनाकार के भाव को समझना जरूरी था। खैर....

आलोचक ने निखिल आनंद (मुझे पता नहीं है कि यह निखिल आनंद कौन हैं, समाजशास्त्री, साहित्यकार, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री अथवा संपादक, जिनके लेख 'ब्रह्मेश्वर मुखिया की हत्या के निहितार्थ' को आधार बनाया है। यह लेख 'हंस' के जुलाई, 2012 में प्रकाशित हुआ था। इस लेख के आधार पर कहानी को परखा गया है। इस लेख को कहानी का प्रतिमान बनाया गया है। ध्यान रहे कि अनुज ने कोई रिपोर्ताज या खुफिया विभाग के लिए रपट नहीं लिखी है। उन्होंने बाथे दलित

जनसंहार को केंद्र में रखकर कहानी लिखी है। कहानी लेखक को छूट मिलती है कि वह अपनी दृष्टि से कथा की संरचना बुने। रिपोर्टर का 'एजेंडा' अलग होता है और कहानीकार का अलग होता है। यहाँ कहानीकार ने जातीय हिंसा की नृशंसता, क्रूरता और बर्बरता के विरुद्ध आवाज उठाई है। दलित जनसंहार का विरोध किया है, भले ही परोक्ष रूप में हो। कहानी के मूल में यह विचार निहित है। इसे समझना अत्यंत आवश्यक है। अनुज ने 1-12-1997 के लक्ष्मणपुर बाथे के जनसंहार से उद्वेलित होकर कहानी लिखी है, न कि निखिल आनंद की रिपोर्ट पढ़कर आंदोलित हुए हैं। रचनाकार का कोई 'एजेंडा' होता है तो बस यह कि पाठकों की संवेदना को जाग्रत करना। रचनाकार अपनी संवेदना का विस्तार करता है। मानवीय गरिमा को स्थापित करता है जबकि रिपोर्टर घटना का विवरण प्रदान करता है। इसलिए, किसी संवाददाता के एजेंडे को साहित्यकार के एजेंडे से तुलना नहीं हो सकती है। पुनः यह कि 'असल एजेंडे की तलाश करते-करते कहानी' को बिखरी हुई साबित करना कहानी के साथ अन्याय है। 'अंगुरी में डँसले बिया नगिनिया' कहानी सत्ता और सामंती व्यवस्था के खिलाफ खड़ी कहानी है। दलितों और पीड़ितों की हिमायत करने वाली कहानी है। नृशंस अत्याचार और दमन के विरुद्ध आवाज उठाने वाली कहानी है। संक्षेप में यह एक व्यापक संदर्भ की कहानी है। बहुआयामी कहानी है।

इस कहानी की आलोचना का बड़ा भारी अंश ब्रह्मदेव बाबा के हृदय परिवर्तन को अस्वाभाविक तथा अविश्वसनीय सिद्ध करने में खर्च किया गया है। जेल में प्रो. रामाधार और ब्रह्मदेव बाबा की बातचीत को भी असहज कराया गया है। ('गड़बड़ी' संख्या 4 को देखा जा सकता है) विचाराधीन कैदियों के रूप में जेल की सजा भुगत रहे ब्रह्मदेव बाबा और प्रो. रामाधार एक-दूसरे के घोर शत्रु जरूर थे। लेकिन ऐसी कुछ परिस्थितियाँ होती हैं जहाँ शत्रुता चिरस्थायी नहीं रह पाती। 'सदाशयतापूर्ण सदस्थिति' को अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता है। कहानी में भले ही एक दिन का वर्णन हो लेकिन दोनों वर्षों से कैदी बनकर सजा काट रहे थे। दोनों की बातचीत पर्याप्त समय के बाद का परिणाम है। जेल जीवन में परस्पर शत्रु माने जाने वाले भी खुलकर वार्तालाप कर सकते हैं। दरअसल, जेल की चहारदिवारी में सभी बन्दी ही होते हैं। उनका एकमात्र परिचय है कि वे कैदी हैं। वहाँ बाहर की लड़ाई समाप्त होती है। जरूरत पड़ने पर सभी एकजुट हो जाते हैं। प्रशासन के खिलाफ संघर्ष भी करते हैं। ऐसी स्थिति में आपसी मनमुटाव और बैर भुलाकर अन्यायी प्रशासन के विरुद्ध हड़ताल भी करते हैं। ऐसी घटनाएँ अक्सर घटित होती हैं सहज और स्वाभाविक ढंग से। इसलिए अनुज ने हिंसा और वर्चस्व के प्रतीक ब्रह्मदेव बाबा तथा एम.सी.सी. के

थिंकटैंक प्रोफेसर रामाधार की बातचीत को समावेशित कर न तो अविश्वास का माहौल उत्पन्न किया है और न ही वे कल्पना की लंबी उड़ान भरे हुए हैं। अब थोड़ी-सी चर्चा 'हृदय परिवर्तन' वाले मुद्दे को लेकर की जानी चाहिए। कहानी से गुजरकर साफ पता चलता है कि बरहम बाबा का अचानक हृदय परिवर्तन नहीं हुआ है। बसनी से प्रेम, जेल की सजा, प्रो. रामाधार के तर्क आदि प्रसंगों के बाद ब्रह्मदेव बाबा का हृदय परिवर्तन होता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य अपने कु-कर्मों से बाज आता है। अपने को सुधारता है। अपनी गलतियों को सुधारने और उनकी पुनरावृत्ति न हो, इसका प्रयास करता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। अंगुलीमाल डाकू भी तो बदल गया था। बरहम बाबा के हृदय परिवर्तन को लेकर आलोचक के निम्न कथन कत्तई स्वीकार्य नहीं हैं—''कथित तौर पर कहानी में चाहे कुछ भी दिखाया गया हो, कहानी की भाषा और वृत्त संरचना यह संकेत देती है कि बरहम बाबा का जेल में रहते हुए बदल जाना और मलिनों के प्रति न्यायिक हो उठना मात्र एक शाब्दिक आग्रह है।'' (वही, पृ. 28) और भी द्रष्टव्य है—''लेखक ने विभिन्न उपक्रमों से कथित रूप से जो बार-बार यह स्थापित करने की कोशिश की है कि बरहम बाबा बदल गए थे और मलिनों के प्रति अपनाये—जैसा भाव उसमें आ गया था,...कहानी के कथात्मक यथार्थ की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।'' (वही, पृ. 28) बरहम बाबा का बदल जाना कथा-संरचना की दृष्टि में उनके चरित्र का विकास है। ऋणात्मकता से धनात्मकता की यात्रा है। साहित्य में घृणा का प्रचार नहीं होता है। प्रेम और सद्भाव को महत्त्व दिया जाता है। बरहम बाबा इस कहानी के नायक हैं। नायक जेल से निकलकर अपनी नृशंस लीला को जारी रखता तो कहानी में एकरसता भी आ जाती तथा रचनाकार की दृष्टि के सामने प्रश्न चिह्न लग जाता। इसलिए भी हृदय परिवर्तन जरूरी था कि उन जैसे हिंसक और दमनीय व्यक्ति की समाज को आवश्यकता नहीं हो जो जातीय हिंसा को अधिक भड़काए। एक स्वस्थ तथा आदर्श समाज की कल्पना में बरहम बाबा को हृदय परिवर्तन के साथ चित्रित करना आवश्यक था। अनुज ने लिखा है—''जेल ने बाबा के जीवन को ही नहीं उनकी सोच तक की चूलें हिला दी थीं। अब तक उनकी सभी पूर्ववर्ती धारणाएँ ध्वस्त हो चुकी थीं और वे दार्शनिकों-सी बातें करने लगे थे। शायद जेल की ऊँची-ऊँची दीवारों के पीछे ही बड़े-बड़े दर्शन जन्म लेते हैं।'' (कथादेश, नवम्बर, 2012, पृ. 48) जेल से निकलने के बाद वे अपने को सैद्धांतिक और दार्शनिक रूप से मजबूत करने में लग जाते हैं। कहानीकार ने स्पष्टतया लिखा भी है—''लेकिन बाबा ज्यों-ज्यों अपने को सिद्धांतों में तल्लीन करने लगे थे, वे अपने को मलिनों के दुख-दर्द के करीब महसूस करने लगे थे। ऐसे में मलिनों के प्रति उनकी पूर्ववर्ती

आक्रामकता क्षीण पड़ने लगी थी और वे अपने ही बनाए नियमों में शिथिलता दिखाने लगे थे।" (वही) बरहम बाबा का यह हृदय परिवर्तन अचानक नहीं निश्चित प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप स्वाभाविक रूप से हुआ है।

आलोचक ने इस कहानी की बड़ी 'गड़बड़ी' के रूप में बसनी की मुखबिरी के प्रसंग में देखा है। 'बेताबी और जल्दबाजी' के चलते लेखक से 'चूरू' की बात करता है। आलोचक स्वतंत्र होता है। कुछ भी अपने ढंग से कह सकता है। इस प्रसंग में बस इतना कहना पर्याप्त होगा कि कहानी का लेखक कहानी का लेखक होता है, उपन्यास का नहीं, जासूसी उपन्यास का तो कत्तई नहीं। कहानी में सारी बातें कही नहीं जाती हैं। लेखक संकेत भर कर दे तो पाठक अपनी समझदारी से कथा-सूत्र को जान-समझ लेता है। कहानी में 'डिटेल्ड माइन्यूट्स' देने की गुंजाइश नहीं रहती है। कहानी में समधिया दुसाध की छोटी बेटी बसनी बड़की दीदी के यहाँ जाती तो थी। मुखबिरी किससे करती थी, उसका नाम, उम्र, पता आदि कहानीकार ने जरूर उल्लेख नहीं किया है। कहानी में यह परम आवश्यक भी नहीं है। सुनरदेव शर्मा के माध्यम से लेखक ने कहलवाया भी है कि ब्रह्मदेव बाबा की हत्या के पीछे बसनी की साजिश है। लेखक ने कहा है—"कहाते थे बरहम बाबा अउर बुझाता अलुआ नहीं था कुछो, बतकही शुरू करते थे तो खतमे नहीं होता था, जइसे सारा दुनिया हीत ही बइठा हो, लगेंगे सारा इदिया-गुदिया उकटने, हम बोले थे कि नगिनिया है, बच के रहिएगा...डँसेगी एक-ना-एक दिन...लेकिन ना...सुनना ही नहीं था किसी का...हो गया ना...अब जे बा से कि बुझाया ना...गए ना ऊ धाम, अब तो हो गया मन शांत...." (वही, पृ. 43)

कहानीकार बिल्कुल स्वतंत्र होता है कि वह किसी घटना अथवा कथा को अपने ढंग से कॉन्स्ट्रैक्ट करे। वह घटना का ज्यों का त्यों चित्रण करने को मजबूर नहीं है। ऐसा करना अपेक्षित भी नहीं है। मूल बात यह है कि उसकी रचना मनुष्य विरोधी न बने। कहानीकार भले ही इतिहास का जानकार हो लेकिन वह इतिहासकार नहीं होता है, न बनना चाहता है। इसलिए कहानीकार 'अपने हिसाब से कल्पना और किंवदंतियों इत्यादि का सहारा लेते हुए' कुछ गढ़ता है तो कोई अन्याय नहीं करता है।

'अंगुरी में डँसले बिया नगिनिया' कहानी को 'किसी कीचड़ में लिसड़ी मानकर, पूर्व निश्चित एजेंडे के अंतर्गत आलोचना की जाएगी तो हानि कहानी की कितनी होगी, यह नहीं पता, परंतु हिंदी आलोचना को नुकसान होगा, यह निश्चित है। दरअसल, किसी भी रचना की उत्कृष्टता उसके पाठकों द्वारा तय होती है। इस कहानी पर भी पाठक विचार करेंगे। अतः उक्त कहानी पढ़ने के बाद अपनी कुछ प्रतिक्रियाओं को प्रस्तुत करना अनुचित न होगा।

कहानी का शीर्षक महेन्द्र मिसिर के एक गाने की पहली पंक्ति है। इस गाने का पहला पद कुछ इस प्रकार है—

''अंगुरी में डँसले बिया नगिनिया रे
ये ननदी दियरा जरा द तनि भैया के जगा द
उनहि से उतरी इ जहरिया रे
ननदी...''

यहाँ भौजाई ननद से कह रही है कि नागिन ने ऊँगली में डँस लिया है। जरा रोशनी कर दो। अपने भैया को जगा दो। यह जहर उन्हीं से उतर सकता है। यह गाना उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें-नौवें दशक के आसपास लिखा गया था। ध्यान देने की बात है कि 1878 ई. में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पारित हुआ। इसके तहत अभिव्यक्ति की आजादी पर पाबंदी लगाई गई थी। साम्राज्यवादी शक्ति से भारतीय डँसे जा रहे थे। अँगरेज किसी नागिन से कम न थे। महेन्दर मिसिर ने सुषुप्त भारतीयों को जगाने के लिए, आत्म-गौरव प्रतिष्ठित करने के लिए, अस्मिता को जागृत करने के लिए यह गाना लिखा था। कथाकार अनुज ने अपनी कहानी का शीर्षक 'अँगुरी में डँसले बिया नगिनियाँ' रखकर उपर्युक्त परिदृश्य को आज के संदर्भ में विश्लेषित किया है।

उल्लेख किया जा चुका है कि अनुज ने जातीय हिंसा को आधार बनाकर कहानी का ताना-बाना बुना है। हिंसा की आड़ में छिपी स्वार्थपरता, बर्बरता, राजनीति के छल-छद्म, सत्ता की चालाकियों को उघाड़कर कहानीकार ने कराहती इंसानियत पर चिंता भी व्यक्त की है। विकराल जातीय हिंसा में विध्वंस की करुण गाथा के साथ-साथ अदम्य जिजीविषा और स्वतंत्रता की महिमा को भी कहानीकार ने सांकेतित रूप में सफलता के साथ चित्रित किया है। इसलिए, इस कहानी में मर्सिया नहीं पढ़ी गई हैं बल्कि जीवन की सार्थकता और अस्मिता की तलाश को भी अंकित किया गया है। दरअसल, कहानी वह सार्थक नहीं होती है जो बस रुलाती रहे। कहानी की सार्थकता इसमें है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी संघर्ष जारी रखने की प्रेरणा को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करे। स्वतंत्रता और अस्मिताबोध की प्रतिष्ठा कर सके। इस दृष्टि से 'अंगुरी में डँसले बिया नगिनिया' का विवेचन हो तो यह कहानी हमें निराश न करेगी। एक बात और है कि भले ही इस कहानी में बिहार के मोतिहारी जिले के लखीमपुर बाथे का उल्लेख है लेकिन यह बाथे तक सीमित नहीं है। जहाँ-जहाँ जातीय हिंसा की वारदातें होती हैं वहाँ तक बाथा व्याप्त है। अतः कहानी व्यापक फलक की है। वृहद् भूखंड से संबंधित है। बाथा तो बस एक नाम है, संकेत भर है।

सत्ता का खेल बड़ा अजूबा होता है। अजूबा ही नहीं, बड़ा महीन भी होता है। उसकी चाल बड़ी निराली होती है। मकसद काफी गुप्त रहता है। आम आदमी की अक्ल में नहीं आता है। जातियों, संप्रदायों, मजहबों को आपस में लड़ाकर सत्ता अपना उल्लू सीधा करती जाती है। अनुज ने सत्ता के नकाबों को उघाड़कर रख दिया है। इस कहानी में सत्ता के खेल में रणवीर सेना और मलिन काउन्टर कमांड (एम.सी.सी.) शामिल होकर सत्ता के इशारे पर चलते दिखाई पड़ती हैं। रणवीर सेना को सत्ता प्रोमोट करती है। मलिन सेना उसके विरुद्ध है। वोट की राजनीति का शिकार बनकर दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के खून की प्यासी बन जाती हैं। पर अंतिम लाभ केवल सत्ता को मिलता है। बरहम बाबा, सरयू सिंह, सुनरदेव शर्मा और समदिया सभी सत्ता के खिलौने हैं। दुःखद स्थिति यह है कि सवर्ण और दलित लोग सत्ता के खेल को समझने में असफल हैं। गाँव के पाँच-सात आततायी जमींदारों को घरों से निकालकर मार देने के बाद मलिन सेना पर बाबा के सैनिक बहुत अधिक आक्रामक हो गये थे। सुनरदेव शर्मा ने नारा बुलंद किया—

> *"बारा के बदला बाथे में*
> *तिन इन्ची ठोकब माथे में।"* (वही, पृ. 44)

जातिगत विद्वेष की आग ऐसी भड़की कि एम.सी.सी. की सेना को कीड़े-मकौड़े की तरह कुचला गया। बाबा की सेना के नृशंस अत्याचारों से मौत का सन्नाटा छा गया। हृदय-विदारक दृश्य का वर्णन द्रष्टव्य है—"टूटती चूड़ियों की कड़कड़ की आवाज ने भी ऐसे शोर मचाया था जैसे अलाव में मानव-मुंड चटक रहे हों, अभी चीत्कार की यह ध्वनि दूर घाटियों से टकराकर लौटती, इससे पहले ही ट्रैक्टर से आती कच्च-कच्च और फच्च-फच्च की आवाज तेज हो आई थी। हर बार होता।" (वही, पृ. 46)

मलिनों को लिटाकर उन पर ट्रैक्टर चला देना निर्ममता का चरम उदाहरण है। 'सैडिस्टिक प्लेजर' का दृष्टान्त है। लेकिन, कहानी का महत्त्व इस कठोर आक्रमण, निर्मम हत्या में नहीं है। कहानीकार ने बड़ी खूबसूरती के साथ बसनी और बाबा के प्रसंग को जोड़ा है। ब्रह्मदेव बाबा की सेना बसनी को बाथे से लेकर आ गई थी। बसनी की आँखों के सामने उसके आत्मीय को ट्रैक्टर से कुचला गया था। बसनी युवती थी। सुंदर थी। वह बरहम बाबा का पहला प्यार बन गयी थी। वह छावनी में रानी बनकर रहती थी। उसे अपनी बस्ती में जाने-आने की भी छूट थी। बाबा के जेल से लौटने के बाद मलिनों के प्रति उनकी दृष्टि भी बदलने लगी थी। कुछ ही दिनों में ए.के. छप्पन की गोली का शिकार बनते हैं बाबा। बरहम बाबा की हत्या को प्रशासन

ने पारिवारिक दुर्घटना कहा। बाबा की अर्थी उठाने की पूरी तैयारी हो गई। बसनी का ही इंतजार था। बसनी लाल जोड़े में भखरा सिंदूर माँग पर लगाए बाहर निकली। नारंगी रंग का भखरा सिंदूर शादी के समय दुल्हन की माँग में डाला जाता है। बसनी ने उसी सिंदूर से अपनी माँग भरी थी। लेकिन क्यों? क्या बाबा की मृत्यु (हत्या) से वह कोई रस्म अदायगी कर रही है?...अनुज ने बसनी का जो चित्रण किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सदा मौन रहकर भी बसनी ने जो क्रांतिकारी कदम उठाये हैं, अन्यत्र उसका अभाव है। अनुज के शब्दों में—"आज से पहले बसनी को इस रूप में कभी किसी ने देखा भी तो नहीं था, इसलिए सभी भौंचक्क खड़े थे।...आँखों से जैसे अंगारे बरस रहे थे, चेहरे पर तो मातम का नामोनिशान तक न था।...फिर उसने एक लंबी खरास खींची और अचानक थूक दिया बाबा के मुँह पर, 'आक् थू'।" (वही, पृ. 49)

दरअसल, यहाँ बसनी ने ऐश-ओ-आराम, वैभव आदि को ठुकरा दिया है। उसके अंदर जमा हुआ बरसों का मौन बाँध तोड़कर फूट पड़ता है। उसे 'लिबरेशन' का आनंद प्राप्त हुआ। मुक्ति मिली। इसलिए वह उस मलिन बस्ती की ओर नंगे पाँव भागने लगी जहाँ उसका वजूद सुरक्षित है। जहाँ वह अपनी अस्मिता को जीवित रख सकेगी। वह स्वतंत्र ढंग से जी सकेगी। इसलिए अनुज ने बड़े ही प्रतीकात्मक ढंग से कहानी का समापन किया है—"लाउड स्पीकर से आने वाली आवाज धीरे-धीरे और तेज होने लगी थी।" (वही, पृ. 49)

लाउड स्पीकर पर बजने वाले गाने का साफ-साफ सुनाई देना और तेज होना दलित नारी की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होना है। मुक्ति-संग्राम में विजयी होना है अथवा विजय की प्रबल संभावना को उद्घाटित करना है। कहानीकार ने दलित-विमर्श और नारी-विमर्श को बड़ी कुशलता के साथ एक साथ पिरोया है। यहाँ विमर्श के लिए विमर्श नहीं हैं। कहानी में से विमर्श उभरता है। सत्ता-विमर्श हो अथवा दलित-विमर्श, नारी-विमर्श हो अथवा जाति-विमर्श, अनुज ने सबको एक सूत्र में पिरोया है।

दलित विमर्श और नारी विमर्श के आधार पर 'अंगुरी में डँसले बिया नगिनिया' की संक्षेप में चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है। दलितों की अस्मिता पर लिखी गई इस खूबसूरत कहानी में अनुज ने दलितों की सामर्थ्य पर विश्वास दिखाया है। दलितों के सदियों से शोषित, दमित, निर्यातित और उत्पीड़ित जीवन का मुखर विरोध और प्रतिरोध को भी कहानीकार ने चित्रित किया है। यह सभी स्वीकार करेंगे कि सवर्णों द्वारा दलित शताब्दियों से अत्याचारित होते आ रहे हैं। मलिन काउन्टर कमांड (एम.सी.सी.) के बहाने सवर्णों की वर्चस्ववादी सत्ता को चुनौती दी गई है। यह अलग बात है कि प्रशासन, राजनेता, सत्ता का वरद हस्त रणवीर सेना पर है। रणवीर सेना एम.सी.सी. को बुरी

तरह कुचलती है। लेकिन, दलितों का संघबद्ध होना, पीछे से वार करना, बरहम बाबा की हत्या आदि प्रसंगों से कहानी साफ बताती है कि कहानीकार दलित अस्मिता का पैरोकार है।

कहानी के प्रारंभ में बरहम बाबा की लाश पोस्टमार्टम हेतु पड़ी दिखाई गई है। इसे डोम छूने से मना कर देते हैं। डॉक्टर डोमों को झिड़की लगाता है। फटकारता है। उनकी आनाकानी को 'नाटक' करारता है। यह समझने की कोशिश नहीं करता है कि आखिर डोमों की आनाकानी की मूल वजह क्या है? भले ही सहमी हुई, दबी हुई आवाज में क्यों न हो, डोम की अस्मिता जागृत दिखाई पड़ती है। उसका स्पष्ट कहना है—''नाटक का कौनो बात नहीं है हुजूर...लेकिन हम इस पापी का लहास नहीं छूएँगे। और ई सब बात का हम भूल जाएँगे कि ई हतियारा सब बाथे और सेनारी में कइसा तांडव मचाए हुए था। अरे दादा रे..., छोटका-छोटका ननकिरवा सब को भी...! बाप रे बाप...! ई सब का कोनो कम नाटक किया था, जो आप हमको कह रहे हैं कि हम नाटक बतिया रहे हैं....? अरे छुअल न छोड़ दीजिए...जाने दीजिए हुजूर...हमसे नहीं होगा बस...।'' (वही, पृ. 42) 'समझा-बुझाकर चंद झूठे वायदे से डॉक्टर ने डोम को मना लिया तो वह लाश चीरने के लिए तैयार हो गया। परंतु, दलित का आक्रोश ज्यों-का-त्यों बना हुआ था। इसका संकेत लेखक ने कहानी में किया है—''डोम ने भी अपने तरीके और सामर्थ्य के अनुरूप मृत शरीर से ही अपने लोगों का बदला ले लिया हो।'' (वही) 'मृत शरीर से बदला' अथवा बसनी का बरहम बाबा के शव पर थूकना को आलोचक अमानवीयता का चरम निदर्शन मान सकते हैं। परंतु, समझना चाहिए कि सदियों से निर्यातन और प्रताड़न का शिकार बना समुदाय अपने क्रोध, आक्रोश, विरोध, प्रतिरोध आदि की अभिव्यक्ति ऐसे ही आक्रामक रूप से कर सकता है। सवर्णवादी दृष्टि में ऐसा करना अमानवीय हो सकता है। रणवीर सेना की तांडव लीला से दलितों का गाँव उजड़ गया। ऐसे में उस संहार तथा संत्रास से बचे लोगों से मन में आक्रोश होना स्वाभाविक है। कहानीकार ने उस त्रासद स्थिति के बारे में लिखा है—''बाथे में छावनी के सैनिकों ने ऐसा हमला किया कि पूरा गाँव ही उजड़ गया। उजड़ा भी ऐसे कि फिर दोबारा कभी बस न पाया था। बाथे पर हुए इस हमले ने पूरे देश को हिलाकर रख दिया था।'' (वही, पृ. 43)

दलितों के प्रवक्ता प्रोफेसर रामाधार थे। कहानीकार ने पूरे मन से प्रोफेसर साहब को चित्रित किया है। रणवीर सेना की तरह मलिन सेना भी लड़ती है। वार करती है। लेकिन दोनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। जेल में बरहम बाबा से प्रोफेसर कहते हैं—''ब्रह्मदेव भाई, यही तो बात आपकी समझ में नहीं आ रही है, हम लड़ते हैं एक

सपने के लिए, एक सपने को साकार करने के लिए, जबकि आप सपनों के दुश्मन बने बैठे हैं। हम सत्ता और सामंती व्यवस्था के खिलाफ खड़े हैं, जबकि आप सत्ता के दलालों के पक्ष में खड़े हैं। मकान बनाने और दुकान सजाने में बहुत अंतर होता है ब्रह्मदेव भाई।'' (वही, पृ. 47) सत्ता अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए सवर्णों को इस्तेमाल करती है। दलाली करवाती है। मलिन इस गूढ़ तत्त्व को समझते हैं। इसलिए ये सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध खड़े होते हैं। उपर्युक्त उद्धतांश के साथ निम्नलिखित कथन को मिलाकर पढ़ा जाए तो अर्थ की व्यापकता का अंदाजा हो सकता है—''हम लोगों की लड़ाई और आप लोगों की लड़ाई में बहुत अंतर है ब्रह्मदेव भाई। आप लोगों की लड़ाई एक उद्देश्यहीन लड़ाई है जिसके पीछे कोई मकसद नहीं है, और थोड़ा बहुत कुछ है भी तो वह सकारात्मक नहीं नकारात्मक है जिससे समाज का कुछ बनने वाला नहीं है।'' (वही, पृ. 46) पूरी कहानी से गुजरकर जो लड़ाई के बारे में एहसास होता है वह यह कि रणवीरों की लड़ाई वर्चस्व को कायम करने की लड़ाई है जबकि मलिनों की लड़ाई अपनी अस्मिता को जीवित रखने की जद्दोजहद है। बरहम बाबा की सेना सत्ता की दलाली भी कर लेती है। सत्ता को विलासिता के 'साधन' तक पहुँचाती है। सत्ता की कृतज्ञ है तो सत्ता को कृतज्ञ भी बनाती है। जबकि मलिन सेना उपेक्षित ही नहीं शोषित भी है। अपनी अस्मिता की रक्षा करने के लिए, आक्रमण से बचने के लिए तथा क्रूरता एवं अन्याय का विरोध करने के लिए उसे लड़ाई लड़नी पड़ती है। उसके पास कोई चारा भी न था। इसलिए उसकी लड़ाई 'नकारात्मक' नहीं, 'सकारात्मक' है। संक्षेप में, रणवीर सेना और मलिन सेना की लड़ाई वर्चस्व और अस्मिता की रक्षा की लड़ाई है। ताकतवर शोषक और कमजोर दबे-कुचले लोगों के संघर्ष को कहानीकार ने बड़ी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है।

हिंसा के खेल में विजयी होकर मुखिया कुँवारी लड़कियों को अपनी छावनी में ले आता था। ये लड़कियाँ/युवतियाँ मुखिया की संपत्ति बनती थीं। विलास की पूर्ति का माध्यम बनती थीं। इस तथ्य की भी कहानी से जानकारी हासिल होती है। समदिया की बेटी बसनी की यातना और वेदना को मर्मस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत तो किया ही गया है, लेकिन, उसके विद्रोह को कहानीकार ने जिस रूप में अभिव्यक्त किया है, वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। बसनी की आँखों के सामने उसके आत्मीय स्वजनों को गोलियों से भूना गया, ट्रैक्टर से कुचल डाला गया। जिन्होंने ऐसा किया उन्हीं के बीच उसे रहना पड़ा। ऐसे में स्वाभाविक है कि उसके आक्रोश और विद्रोह का स्वर चरम पर होगा।

इस कहानी में राजनीति, दलित अस्मिता और नारी अस्मिता परस्पर संग्रंथित हैं। कहानी के प्रथमार्ध में राजनीति का स्वर प्रबल है। हालांकि कहानी के चरमोत्कर्ष तक

वह अंतर्धारा के रूप में मौजूद रहती है। परंतु नारी-विमर्श और दलित-विमर्श दोनों एक-दूसरे से गहरे रूप से जुड़े हुए हैं। इन्हें अलग करके देखना उचित न होगा। मूल कारण यह है कि इन दोनों विमर्शों की सफल अभिव्यक्ति बसनी के माध्यम से हुई है। बसनी नारी है और दलित परिवार की भी। कहानीकार ने बखूबी चित्रण किया है उसके चरित्र का। कथा-दृष्टि के केंद्र में है बसनी। कहानी के केंद्र में तो है ही। यदि उसे केवल दबी-कुचली, असहाय, निर्बल, पीड़ित, शोषित, उत्पीड़ित रूप में चित्रित किया गया होता तो कहानी अवश्य ही अपनी अर्थवत्ता खो देती। कहानी इसलिए प्रशंसनीय बनी है कि उसमें अपार संघर्ष की चेतना है। बोल्डनेस है। प्रतिरोध की चेतना है। अन्याय तथा अत्याचार के तीव्र विरोध की सामर्थ्य विद्यमान है। सबसे बड़ी बात है, कि सदियों से अभिशप्त जीवन से मुक्ति की तलाश मौजूद है। एक प्रगतिशील क्रांतिकारी नायिका है बसनी। तमाम भोग-विलास, ऐशोआराम, संपत्ति को दुत्कार कर, यूँ कहें कि उस पर थूक कर वह वहाँ 'भागने लगी नंगे पाँव' जहाँ उसका वजूद सुरक्षित है। वह है दलित बस्ती। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि वह 'रणछोड़' बनकर भागती है। अपनी अस्मिता के हत्यारों की जमकर खबर लेने के बाद ही वह 'भखरा सिंदूर' अपनी माँग में डालकर निकलती है। स्पष्ट है कि बसनी ने मातादीन के मुँह में हड्डी डालने का साहस करने वाली सिलिया से भी बढ़कर काम किया है। दलित-विमर्श का जबर्दस्त स्वर बसनी के माध्यम से सुनाई पड़ा है। एक लंबे अरसे से मौन रहने वाली बसनी का महाविस्फोट 'आक् थू' के माध्यम से हुआ है। तभी तो अनुज लिखते हैं—''आँखों से जैसे अँगारे बरस रहे थे, चेहरे पर तो मातम का नामोनिशान तक न था, होंठों पर हल्की-सी मुस्कान जरूर दौड़ रही थी।'' (वही, पृ. 49) पूछा जा सकता है कि अर्थी के सामने 'मुस्कान' कैसी? यह 'मुस्कान' अपनी विजय की है जो लंबे संघर्ष के पश्चात् हासिल हुई है। कहानीकार ने अन्यत्र लिखा है—''जब से ई नगिनिया आई है, तबही से सेना का लोग मरने लगा है और सेना का हमला खराब होने लगा है, अरे भाई, ई कइसे होने लगा है कि कोई हमला हुआ नहीं कि चारों तरफ से टिटिहरी जइसा निकल पड़ता है सब बंदूक लेके, अउर सेना को भागना पड़ता है जान बचाके...।'' (वही, पृ. 48)

कहा जा सकता है कि जातीय हिंसा के सूक्ष्म पर्यवेक्षण, गहरी तल्लीनता, पर्याप्त गंभीरता और संवेदनशीलता के अभाव में ऐसी महत्त्वपूर्ण कहानी नहीं लिखी जा सकती है। अनुज अपने समय के जरूरी सवालों से बिना मुँह मोड़े उनसे जूझते हैं। कहानी की बुनावट और कहन प्रभावशाली है। भोजपुरी का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। कहानी में कई मार्मिक स्थलों के चित्रण में लेखक को सफलता मिली है। एक उदाहरण द्रष्टव्य

है जो बरहम बाबा के पिता का कथन है—''भाई हम तो वो अभागा हैं कि अपने बाप का भी किरिया-करम किए हैं और बेटा का भी करने जा रहे हैं। अरे भाई...हम तो बोल-बोल के थक गए कि आह मत लो निहत्था गरीब सब लोग का, लेकिन माने तब ना!'' (वही, पृ. 49) मर्मस्पर्शी अंश तो है ही, यहाँ रचनाकार की एक बड़ी चिंता भी जाहिर होती है कि हिंसा की आग में इंसानियत की करुण पुकार है। मानवता कराहने लगती है। जघन्य नरसंहार की इतिश्री होनी चाहिए। मानवता को लील लेने वाली हिंसा की समाप्ति होनी चाहिए।

कहना न होगा कि 'अंगुली में डँसले बिया नगिनिया' में जातीय हिंसा के दंश के दुष्परिणाम की कथात्मक अभिव्यक्ति हुई है। राजनीति के छल-छद्म, चालाकियों और साजिशों का संश्लिष्ट चित्रण हुआ है। दलित विमर्श और नारी-विमर्श को कथा के बहाने उकेरा गया है। अस्मिता और आजादी की महत्ता के बोध को कथा-सूत्र में पिरोया गया है। आक्रोश, विरोध, प्रतिरोध एवं संघर्ष को आधार बनाकर दलित असंभव को संभव कर सकते हैं, ऐसा विश्वास जगाया गया है। संक्षेप में, 'अंगुरी में डँसले बिया नगिनिया' अनुज की रचनाशीलता का एक नया पड़ाव है। यह एक अत्यंत उल्लेखनीय तथा प्रभावशाली कहानी है।

भूमंडलीय यथार्थ की कहानियाँ

हिंदी कथा-जगत् की समृद्ध पृष्ठभूमि को विकसित करने में पिछले दसेक वर्षों के दरमियान युवा कहानीकारों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। युवा पीढ़ी के कहानीकारों में प्रत्येक के लगभग दो-तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। किसी भी रचनाकार के दो-तीन संग्रहों के आधार पर एक मुकम्मल राय बनाई जा सकती है। यह टटोला जा सकता है कि कहानीकार की दुनिया कैसी है? कहानीकार अपने दूसरे-तीसरे संग्रह तक आते-आते लगभग यह स्पष्ट कर देता है कि वह किस दिशा की ओर प्रवृत्त है। कहने का आशय यह है कि युवा पीढ़ी के कथा-संसार का पूर्वग्रहरहित विश्लेषण करने का उपयुक्त समय आ गया है। युवा पीढ़ी के अधिकांश कहानीकार उपन्यास की ओर शिफ्ट कर रहे हैं। कुछ रचनाकारों के उपन्यास आ चुके हैं तो कुछ कथाकारों के उपन्यास पर काम चल रहे हैं, ड्राफ्ट बन रहे हैं अथवा प्रेस में हैं। अत: बहुत जरूरी है कि कहानी विधा पर, जो पिछले दस-पंद्रह वर्षों में लिखी गई हैं, गंभीरतापूर्वक बात हो। समग्रता और संपूर्णता से विचार-विमर्श हो। यह काम कथालोचन का है।

बहरहाल, उमाशंकर चौधरी की कहानियों के आधार पर कुछ पाठकीय प्रतिक्रियाएँ दर्ज की जायेंगी। लेकिन, इसके पहले यह बताना जरूरी है कि 'अयोध्या बाबू सनक गये हैं' (2011) से उमाशंकर ने युवा-पीढ़ी के लेखन में अपनी एक विशिष्ट पहचान बताई है। कविता, कहानी और आलोचना में समान रूप से सक्रिय उमाशंकर को साहित्य अकादमी का युवा पुरस्कार और भारतीय ज्ञानपीठ का नवलेखन पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। इस कहानीकार को अपने खास अन्दाज के लिए, प्रयोग के लिए विशेष रूप से जाना जाता है। हिंदी की तमाम महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं में जब भी उमाशंकर की कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं, वे चर्चित हुई हैं।

यह सच है कि उमाशंकर ने बहुत कम कहानियाँ लिखी हैं। 2011 में पहला संग्रह प्रकाशित हुआ था और 2013 में दूसरा संग्रह। उनका मितलेखन उनकी विशेषता है और सामर्थ्य भी। भाषिक संरचना और शिल्प के स्तर पर ही इन कहानियों का पाठ हो तो बात अधूरी रह जायेगी। भूमंडलीकरण, बाजारवादी अर्थ-व्यवस्था, पूँजीवादी आतंक, आवारा पूँजी के दुष्परिणाम, उपभोक्तावादी संस्कृति, सामाजिक-आर्थिक विषमताओं और विसंगतियों से पीड़ित आम आदमी की कराह और छटपटाहट, उसकी अपार संघर्षशीलता और जिजीविषा आदि को कहानीकार ने कथात्मक सूत्रों में पिरोया है। अत: कहानीकार की मूल चिंता भाषा की जादूगरी और कलाबाजी नहीं बल्कि तेजी से बदलते, ह्रासोन्मुख होते भारत की तस्वीर पेश करना है। इस प्रस्तुतिकरण में भाषा साधन बनकर आती है, साध्य नहीं।

कहना न होगा कि भूमंडलीकरण ने बाजारवाद को फलने-फूलने दिया। बाजार ने पूरी दुनिया को 'प्रॉडक्ट' में तब्दील कर दिया। मनुष्य भी बिकाऊ हो गया। संबंध दरकते-टूटते और बिखरते गये। संपर्क का माया-जाल मजबूत हो गया। पूँजीवादी व्यवस्था ने मुनाफा को इस कदर बढ़ावा दिया कि उसके सामने मनुष्य और मनुष्यता की कोई कीमत नहीं रह गयी। सारे संबंध बौने और ठिगने साबित हो गये। अपनी जड़ से उखड़ने की पीड़ा एवं मशीन बन जाने की छटपटाहट को उमाशंकर ने अपनी कहानियों में पिरोया है। उन्होंने अपनी कहानियों में ऐसे अनेक संदर्भों और पहलुओं को भी उकेरा है जिन पर उनकी पीढ़ी के कहानीकारों की नजर नहीं गई थी। हाँ, सत्ता और पूँजी की साँठ-गाँठ को अथवा राजनीति की चालाकियों को भी बड़ी सफलता से उघाड़ा है। साथ ही, हाशिए पर पड़े समाज की दुर्दशा और उस पर हो रहे शोषण का चित्रण किया है। सबसे बड़ी बात यह है कि इस युवा कथाकार ने समय की विडंबनाओं को बड़ी शिद्दत के साथ प्रस्तुत किया है। कहानियाँ लंबी हैं। मसलन, 'कट टू दिल्ली : कहानी में प्रधानमंत्री का प्रवेश' चौवालीस पृष्ठों की है तो 'मिसेज वाटसन की भुतहा कोठी' इकतीस पृष्ठों की है। लेकिन, पठनीयता बनी रहती है। विश्वसनीयता जारी रहती है। कथा कहने का ढंग विशिष्ट है। अपनी चिंताओं से रचनाकार रू-ब-रू कराते हुए आगे बढ़ जाता है परंतु पाठक उस पर सोचने के लिए विवश होता है। यह कहानीकार की एक बड़ी खूबी है।

उमाशंकर की कहानियों में गाँव, देहात, कस्बा, नगर और महानगर तक की कथाएँ हैं। गाँव की कथा नगर अथवा महानगर से और महानगर की कथा गाँव देहात से अंतर्ग्रंथित हुई है। इन कथाओं को अलग-अलग करके न देखकर संश्लिष्ट रूप से देखना उचित होगा। कारण यह है कि इक्कीसवीं शताब्दी में केवल कुछ सुविधाओं को छोड़ दें तो महानगर और देहात में अंतर कुछ रह न गया है। राजनीति का

छल-छद्म, पूँजी का वर्चस्व आदि गाँव तथा महानगर को समान रूप से प्रभावित कर रहे हैं। इसकी मात्रा में अंतर हो सकता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की जड़ें नगर, महानगर तक सीमित नहीं रही हैं बल्कि गाँव-देहात में भी बड़ी तेजी से पसर रही हैं।

सबसे पहले, 'कट टु दिल्ली : कहानी में प्रधानमंत्री का प्रवेश' न केवल लोकतंत्र की विद्रूपताओं को उजागर करती है बल्कि पूँजी के सामने घुटने टेकने वाली व्यवस्था का पर्दाफाश भी करती है। दिल्ली सत्ता का केंद्र है। भगवत रावत के शब्दों में "कहते हैं कि दिल्ली की आबोहवा कुछ और है।" उदय प्रकाश के अनुसार "ख्वाजा तुमको पता होना चाहिए कि दिल्ली दौलतमंद लुटेरों की नगरी है...।" दीन-हीन जनता के वोट पाकर नेता दिल्ली के लिए 'कट' हो जाते हैं और सत्ता के मद में अपने देश तक को बोली लगा देने में पीछे नहीं हटते। अपने जीवन मूल्यों को तिलांजलि देते हुए 'कट टू दिल्ली' हो जाते हैं। बिहार राज्य के बेगूसराय जिला के चिड़ैयाटार गाँव के झोला छाप डॉक्टर बच्चा बाबू बिंदेश्वरी प्रसाद सिंह "हड्डी जोड़ने में माहिर थे। एकदम सिद्धहस्त।" उन्होंने पूरे इलाके में अपनी 'देसी कला' के माध्यम से नाम कमाया। इस कार्य को मिशन के तौर पर लिया। ठेठ गाँव के आदमी थे बच्चा बाबू। दो पुत्रियों के पिता। पुश्तैनी जमीन के नाम पर दो खेत थे उनके पास। बेटियों के विवाह हेतु सूद भरने पर खेत बंधक रखे गये। जमींदार फूलसिंह ने खेत अपने नाम कर लिये। मामला दर्ज हुआ। पर आम आदमी को न्याय भला कब मिला है जो बच्चा बाबू को न्याय मिलता? बच्चा बाबू के लिए खेत सिर्फ खेत न थे। दोनों जमीन के टुकड़े उनके लिए बेटे थे। ऐसा आत्मीय लगाव और उसका मर्मस्पर्शी चित्रण अन्यत्र नहीं मिलता है। एक ओर यहाँ जमींदारी शोषण-व्यथा है तो दिल्ली में फायदेमंद कंपनी के मालिकाना अधिकार को विदेशी धन्ना सेठों के हाथ में दे देने की डील चल रही है। आम आदमी के अधिकारों का हनन तेजी के साथ हो रहा है। प्रसंगतया, गाँव की दुर्दशा का चित्रण तो हुआ ही है परंतु बच्चा बाबू का चरित्र अत्यंत प्रभावशाली बना है। उसका घर सूना हो गया, परंतु वह टूटा नहीं। अनन्य संघर्षशीलता के नायाब उदाहरण हैं बच्चा बाबू।

प्रधानमंत्री की रीढ़ की हड्डी के निचले हिस्से की ठीक बगल वाली हड्डी टूट या उलझ गई। इसका निदान देश के डॉक्टर तो क्या अमेरिकी डॉ. प्रेंकफिन पिट की टीम के भी पास न था। बच्चा बाबू ने प्रधानमंत्री का सही इलाज कर दिया। उनकी पूरी सेवा की। प्रधानमंत्री कट टू दिल्ली हो गये। भारत रत्न से नवाजा गया डॉ. पिट को, उपेक्षा हुई बच्चा बाबू की। उसके अधिकारों का हनन हुआ। उसे पागल बना दिया समाज ने। पाठक आश्वस्त होता है जब सचाई सामने आती है कि बच्चा बाबू ने ही प्रधानमंत्री का स्वास्थ्य ठीक किया था। परंतु बड़ी बात है कि बच्चा बाबू में प्रतिशोध की भावना जीवित है। उसकी आत्मभर्त्सना युगीन सत्य को उद्घाटित करती है—

''चूतिया हैं हम ही जो तुम पर विश्वास करते हैं। साले अमेरिका जाकर वहीं का थूक चाटो बैठकर। मार दो हमको। हमको जिंदा ही क्यों छोड़े हो।'' (पृ. 139) कहानी को कहानीकार जहाँ विराम देता है वहाँ पाठक का सोचना शुरू हो जाता है। आम आदमी के छोटे-छोटे सपनों को कुचलने वाली ताकतों के विरुद्ध विद्रोही हो उठता है। वह चिंतित हो उठता कि देश का तथाकथित राष्ट्रनायक पूँजी के सामने ठिगना बना रहता है। पूँजीवादी राष्ट्र के इशारे पर नाच रहा होता है। जनतंत्र के नाम पर प्रसरित दासतंत्र की भविष्यवाणी करता है। इसलिए, इस कहानी को व्यापक परिप्रेक्ष्य की कहानी कहा जा सकता है। यह भूमंडलीय परिवेश में सतत विघटित होती कथा है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रधानमंत्री की स्वीकारोक्ति है—''मेरे हाथ-पाँव दिखते भर हैं, लेकिन सब कटे हुए हैं। मैं तो इस कुर्सी पर बैठा एक गाँव का लोथड़ा भर हूँ। बड़े हित को साधने के लिए छोटी-छोटी घटनाओं को, छोटे-मोटे कीड़े-मकोड़े जैसे आम आदमी को भूलना ही पड़ता है।'' (पृ. 138) कहानीकार ने भूमंडलीय यथार्थ को बिना किसी लाग-लपेट के प्रस्तुत कर दिया है ताकि हम सचेत हों और भूमंडलीकरण की चकाचौंध की असलियत को पहचान सकें।

'कन्हैयालाल वल्द रामरतन सिंह' एक उम्दा कहानी है। इसमें हाशिए के समाज के प्रति 'सभ्य' समाज के नजरिये का पता चलता है। अभाव, असुविधाओं व तकलीफों में जीने वाले उपयुक्त शिक्षा तथा अवसर के अभाव में कुछ भी करने को तैयार हो जाते हैं। इसके लिए जितने जिम्मेदार वे हैं उससे कहीं अधिक है हमारी व्यवस्था। रामरतन सिंह का पुत्र कन्हैयालाल चोरी करता है, छीना-झपटी करता है, गँजोड़ है, गाँजा की कालाबाजारी करता है, नशे में धुत्त रहता है, नशे के लिए पैसे न मिलने पर अपने माँ-बाप को बेरहमी से मारता-पीटता है। बावजूद इसके उसमें मनुष्यत्व जीवित है। गाँव वालों की जरूरत के समय काम भी आता है। जिम्मेदारी भी भली-भाँति निभाता है। कभी वह अपने ही गैंग के लोगों से ठगा जाता है तो कभी तथाकथित सभ्य समाज के द्वारा।

कन्हैयालाल इस कहानी में हीरो है और एंटी हीरो भी। वह जो भी है उसे छिपाता नहीं है। संभवतः उसे छिपाना आता नहीं है। रामरतन सिंह और कन्हैयालाल की परिस्थितियों में कोई अंतर नहीं आया है। एक पीढ़ी गुजर गयी। पर, परिवेश और परिस्थितियाँ यथावत् बनी हुई हैं। और हम हैं कि विकास का ढोल पीटे जा रहे हैं। थोड़ी बनाकर गुजर-बसर करने वाले परिवार की हम आलोचना जरूर कर रहे होते हैं। लेकिन कैसे और किन उपायों से उस परिवार की शोचनीय स्थिति बदल सकती है, उस पर कुछ नहीं सोचते। न समाज कुछ करता है और न व्यवस्था। लेकिन टिप्पणी जरूर की जाती है—''रतना भी तो पाँचवीं पास है बस। तो बेटा कैसे निकलेगा! सब

दिन चोरी किया है तो बेटा भी तो चोर ही निकलेगा।'' (पृ. 26) कहानीकार ने आगे भी लिखा है—''हमारे मोहल्ले के लिए कन्हैया का पूरा परिवार आलू के ढेर में सड़े हुए एक आलू की तरह था।'' (पृ. 31) सड़ा हुआ आलू दुर्गंध फैलाता है। उसे फेंकना जरूरी होता है अन्यथा वह दूसरे आलू को सड़ा देगा। मानो कन्हैया आदमी न था, सड़ा हुआ आलू था। ऐसा सोचना घोर अमानवीयता है। अत्यधिक क्रोधी, नशेड़ी, चोर कन्हैया को थोड़ा-सा प्यार मिलते ही वह अत्यंत दायित्ववान हो जाता है। कथावाचक की बहन की शादी में लगातार तीन रात वह साथ रहा। सामान्य बना रहा। ''बारातियों की आवभगत में उसने जोर-शोर से भाग लिया।'' (पृ. 37) परंतु ट्रेन की डकैती में जब निर्दोष कन्हैया को पकड़ कर पुलिस थाने में ले गई तब अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बचाने के लिए कथावाचक के पिता ने चूँ तक नहीं की। न ही समाज का कोई दूसरा आगे आया। बिना कुछ जुर्म किये कन्हैया पर पुलिस ने रात भर थर्ड डिग्री चलाई। उससे स्वीकार करा लिया गया कि वह उस रात को शादी में नहीं बल्कि डकैती में शामिल था। पुलिसिया क्रूर दमन का कथाकार ने हृदय को विदीर्ण करने वाला चित्रण किया है, उससे गुजरकर हमें हरिशंकर परसाई का मातादीन और विजय तेंदुलकर का घासीराम कोतवाल याद आ जाते हैं। झूठ को सच और सच को झूठ में तब्दील करना कोई इन्हीं से सीखे। मिलिटरी पुलिस भी एंटी इमरजेन्सी के नाम पर यही करती है। अपने पिता की तरह कन्हैया के पाँव को भी लकवा मार गया था। कन्हैया जेल में सड़ता रहा। कहानी की निम्नलिखित पंक्तियाँ हमारी व्यवस्था के सामने बहुत बड़ा सवालिया निशान खड़ा करती हैं—''भैया, हम जो छोटा-मोटा पाप किये थे उसका इतना बड़ा सजा मिल गया। लेकिन इ हरामी लोग का कोई पाप नहीं लगेगा जो बिना कारण हमरा जेल में बंद कर दिया है।'' (पृ. 43) कन्हैया का भीतर और बाहर एक-सा है। उमाशंकर के प्रथम-संग्रह की कहानी 'ददा यानी मदर इंडिया का सुनील दत्त' की तरह नहीं है जो घरवालों के लिए तो भला लेकिन बाहरी दुनिया के लोगों के लिए अपराधी हो। ऐसा कन्हैया नहीं है। इस पात्र को कहानीकार ने मन से गढ़ा है। इस पात्र तथा उसके पिता के माध्यम से हाशिए पर पड़े और शताब्दियों से कराह रहे, अपराध की दुनिया को अपनाने हेतु मजबूर लोगों की व्यथा-कथा को रचनाकार ने गहरी संवेदनशीलता के साथ अंकित किया है।

उमाशंकर की कहानियाँ सामाजिक संदर्भों, घटनाओं और विसंगतियों से भी जुड़ी हुई हैं। 'ललमुनिया मक्खी की छोटी सी कहानी' और 'पोट्टम, हरे पत्ते और दिल्ली की उमस भरी शाम' कहानियों को 'कट टू दिल्ली' के साथ मिलाकर पाठन किया जा सकता है। यह इसलिए कि भूमंडलीकरण के बाद के भारत में फैले अंधकार, उसकी

दहशत और आतंक को चित्रित करने का प्रयास है। यूँ तो हिंदी में इस तरह की कहानियाँ का कोई अभाव नहीं है। लेकिन उमाशंकर की इन कहानियों में केवल उस अंधकार का चित्रण नहीं है, उससे टकराने और मुठभेड़ करने की तस्वीर भी मिलती है। 'ललमुनिया मक्खी की छोटी-सी कहानी' का देवाशीष मुकर्जी और 'पोट्टम, हरे पत्ते और दिल्ली की उमस भरी शाम' का पोट्टम इसी तरह के पात्र हैं। दोनों की स्थितियाँ अलग-अलग हैं। लेकिन, भूमंडलीकरण की 'सामर्थ्य' है कि सारी स्थितियों को पाट देती है—एक ही धरातल पर खड़ा कर देती है। सबको अपने रंग से रंग लेती है। महामंदी (ग्रेट डिप्रेशन) के दौरान उसका असली चेहरा सामने आता है। झटके से सारे सपने चूर-चूर हो जाते हैं। ये झूठे सपने भी उस दैत्य ने दिखाये थे। देवाशीष जो मार्क्सवादी पिता का पुत्र था और मार्क्सवादी विचारधारा में कोई विश्वास नहीं रखता था, उसे अपने पिता की राह सही नजर आती है। पोट्टम को पेड़-पौधे, हरे पत्ते, हरियाली बेहद पसंद हैं। उस हरियाली में उसके प्राण बसते हैं। महानगरीय जीवन में भी वह उसे बचाए रखने की पूरी जद्दोजहद करता है। हालाँकि, उसकी कंपनी, जहाँ वह काम करता था, उसके जीवन का सारा रस चूस लेने को आमादा रहती है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ देवाशीष और पोट्टम जैसे को मक्खी के बराबर समझती हैं। लेकिन, कहानीकार ने यह दिखाया है कि मामूली मक्खी भी उन कंपनियों को ललकार सकती है, चुनौती दे सकती है। उमाशंकर ने मक्खी ललमुनिया को कहानी का पात्र बनाकर एक सफल प्रयोग किया है। पोट्टम वाली कहानी में ट्रेन के सफर में कई दिनों से उनींदा पोट्टम मोबाइल चलाकर देर रात तक गीत सुनने वाले युवक को चलती गाड़ी से बाहर फेंक देता है। यह कुछ अस्वाभाविक व अविश्वसनीय प्रतीत हो सकता है। लेकिन, क्रोध में मनुष्य जो न करे और पोट्टम मनुष्य था। इन दोनों कहानियों की तुलना करें तो पोट्टम वाली कहानी का रेंज बड़ा है। संबंधों की ऊष्मा को जीवित रखने की भरसक कोशिश जारी है। अपनी जड़ से जुड़े रहने की अपार चेष्टाएँ हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि जिजीविषा है।

संग्रह की एक और कहानी 'मिसेज वाटसन की भुतहा कोठी' में रोचकता है। इसलिए, यह कहानी ध्यान आकृष्ट करती है। इस कहानी के केंद्र में 'अधूरा पुरुष' निरंजन सिंह की पत्नी अनुराधा से अपने पति को रोज घुटते हुए देख नहीं पाती। संतानसुख नहीं मिलता है। अनुराधा ने नौकर विलायती को साँपों से भरे अस्तबल में बुलाकर शारीरिक संबंध स्थापित किया और वह गर्भवती हुई। शुद्ध नैतिकतावादियों के लिए यह अनैतिक हो सकता है, अनुचित प्रतीत हो सकता है। परंतु अनुराधा ने पीढ़ियों से चली आ रही पहले पुत्र का निस्संतान होने की पीड़ा से जमींदार परिवार को मुक्त किया। फिर नैतिकता और अनैतिकता का सवाल कैसा? इस कहानी में मिसेज

मटरसन का आम के बगीचे से प्रेम का भी पर्यावरणीय पाठ हो सकता है। बावजूद इसके यह कहानी प्रभावशाली नहीं हो पाई है। उमाशंकर की शैली की खूबी है कि वे एक ही बैठक में कहानी पढ़वा लेते हैं। जेंडर डिस्कोर्स के नजरिये से कहानी का पाठ हो तो कहानी का कुछ अलग महत्त्व स्थापित हो सकता है।

कहना न होगा कि गाँव, शहर, महानगर की जिंदगी के बदलाव को कहानीकार ने अपनी आँखों से देखकर उसके प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत किये हैं। कहानी में शुरू से अंत तक कहानीकार की मौजूदगी है। हर बेहतर कहानीकार हमेशा अपनी कहानी में मौजूद रहता है। उमाशंकर का कहानीकार इस तथ्य से अवगत ही नहीं बल्कि उसे मानता भी है।

उमाशंकर की कहानियाँ पढ़ने से उनके शिल्पगत कौशल का पता चलता है। कहानी कहने का सुंदर तरीका इस रचनाकार के पास है। इसके पास पाठक को बाँधे रखने की क्षमता भी मौजूद है। आकर्षक शब्द संपदा है। उसमें एक तराश है, धार है, मारक क्षमता है और भेदन शक्ति भी। कहानीकार स्वयं बेचैन होता रहता है और अपने पाठकों को बेचैन करता रहता है। यह उसकी कहानियों से भी जाहिर होता है। आलोच्य कहानीकार कवि भी है। अत: उसकी कहानियों की भाषा में कविताई है। इससे भाषा की रवानगी दिखाई पड़ती है। इसकी कई कहानियाँ हमारी स्मृति में बचे रहने की सामर्थ्य रखती हैं। निस्संदेह उमाशंकर चौधरी अपनी पीढ़ी के प्रतिनिधि कहानीकार हैं।

स्त्री के जीवन-यथार्थ की कहानियाँ

हिंदी कथा-साहित्य के विकास में स्त्री कथाकारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा आदि की पीढ़ी के बाद अलका सरावगी, गीतांजलिश्री, मधु कांकरिया आदि ने हिंदी कथा-साहित्य को समृद्ध किया। इसके बाद युवा-पीढ़ी की रचनाशीलता में महुआ माजी, किरण सिंह, मनीषा कुलश्रेष्ठ, वंदना राग, जयश्री राय, सारा राय, कविता, इंदिरा दांगी, प्रज्ञा आदि की कथा-दुनिया में हिंदी कहानी को वैविध्यपूर्ण बहुरंगी और बहुआयामी बनाया है। इसी क्रम में ज्योति चावला की चर्चा की जा रही है। प्रसंगतया उल्लेख किया जा सकता है, ज्योति कवयित्री भी हैं। उनका पहला कविता-संग्रह 'माँ का जवान होता चेहरा' को पाठकों ने खूब सराहा है। बहरहाल, ज्योति की कहानियाँ पुस्तकाकार होने के पहले काफी चर्चित हुई थीं। उन्होंने अपनी कहानियों में समय और समाज की चिंताओं, समस्याओं, उलझनों तथा धड़कनों को बड़ी सहजता के साथ अंकित किया है। अत्यंत स्वाभाविक ढंग से पेश किया है। सभी जानते हैं कि सहज और स्वाभाविक चित्रण कितना कठिन काम होता है।

ज्योति चावला की आठ कहानियों का संग्रह है 'अंधेरे की कोई शक्ल नहीं होती'। किसी भी रचनाकार की सामर्थ्य को जानने के लिए कहानियों की संख्या पर्याप्त नहीं होती है। उसकी क्षमता उसके सरोकार से जानी जाती है। यह देखा जाता है कि उसके रचना जगत् के कन्सर्न क्या तथा कितने व्यापक हैं। यह भी देखा जाता है कि रचनाकार ने अपने कन्सर्न को कितने प्रभावशाली तथा संप्रेषणीय बनाया है। ज्योति की कहानियों से गुजरकर प्रसन्नता होती है कि उपर्युक्त प्रतिमानों के आधार पर वे खरी सिद्ध होती हैं।

ज्योति की कहानियों में स्त्री-जीवन का यथार्थ चित्रित हुआ है। कोरी भावुकता और कल्पनाशक्ति के आधार पर स्त्री जीवन की विविध छवियाँ नहीं आँकी गई हैं।

स्त्री के जीवन और संघर्ष को गहरी संवेदनशीलता के साथ कथा लेखिका ने प्रस्तुत किया है। देहात, गाँव, कस्बे, शहर तथा महानगर की नारियों के दमन, शोषण, निर्यातन के साथ-साथ उनकी संघर्षशीलता और जिजीविषा, उनके साहस और धैर्य, आदि को जिस विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। ज्योति की स्त्रियाँ 'रैडिकल फेमिनिज्म' का झंडा उठाकर आंदोलन नहीं करतीं लेकिन अन्याय, दमन और शोषण को चुपचाप सहन भी नहीं करती हैं। ये स्त्रियाँ अपने स्तर पर जूझती हैं। संघर्ष करती हैं. हार नहीं मानतीं। यहाँ ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जो पारिवारिक शांति को बनाये रखने के लिए 'नीलकंठ' बन जाती हैं तो ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जो अपनी अस्मिता को बचाए रखने की लड़ाई लड़ती रहती हैं। जातीय हिंसा की पीड़िता नाबालिग है तो भूमंडलीकरण के दंश से पीड़ित स्त्री भी। कहने का आशय है कि नारी जीवन के विभिन्न संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों को इस युवा कहानीकार ने बड़ी शिद्दत के साथ प्रस्तुत किया है। लेकिन, यह न समझा जाए कि यहाँ केवल स्त्री संदर्भ हैं। स्त्री प्रश्नों के बहाने समाज के अन्य पहलुओं पर भी विचार किया गया है। मोटे तौर पर ज्योति की कहानियों से अपने समय और समाज का एक यथार्थ चित्र उभरकर आता है।

'बंजर जमीन' शीर्षक कहानी में पम्मी एक आदर्श बहू, आदर्श पत्नी और आदर्श स्त्री के रूप में चित्रित हुई है। वह पाठकों की संपूर्ण संवेदना हासिल करती है। अपने वैवाहिक जीवन के इक्कीस वर्ष के राज को अपने सीने में दफन करके वह समाज की रुग्ण मानसिकता का शिकार होती रही। समाज ने उसे 'बंजर जमीन' कहा जबकि उसका पति मलकीत नामर्द था। मलकीत ने 'उसे कभी छुआ तक नहीं'। नारी-विमर्श के पैरोकारों की दृष्टि में पम्मी कमजोर पात्र सिद्ध हो सकती है। लेकिन, आज भी भारत में ऐसी हजारों पम्मियाँ हैं जो अपनी आग को पति तथा परिवार के सम्मान के सामने दबाए रखती हैं। नारी जीवन की इस सचाई को उद्घाटित करना कहानीकार का उद्देश्य रहा है। प्रसंगतया उसने सामाजिक संकीर्णताओं का भी खुलासा किया है। पंजाबी परिवार और उसके परिवेश को, उसके आचार-विचार, चाल-चलन, रीति-नीति, तीज-त्योहार आदि को अत्यंत विश्वसनीय ढंग से पेश करने में कहानीकार को बड़ी सफलता हासिल हुई है।

'खटका' की अनुष्का और राजीव के माध्यम से दांपत्य प्रेम के चित्र अंकित हुए हैं। पहली बार माँ बनने के दौरान होनेवाली दुश्चिंताओं, मानसिक उलझनों और मनस्थितियों को अत्यंत जीवंत रूप में उकेरा गया है। संवाद-योजना और भाषिक संरचना की दृष्टि से कहानी मजबूत होते हुए भी समग्र प्रभाव की दृष्टि से 'खटका' कहानी को अपेक्षित सफलता नहीं मिल पाती है।

'तीस साल की लड़की' एक बेहतरीन कहानी है। दृढ़ इच्छाशक्ति, मजबूत इरादे, मनोबल और संकल्प का प्रतीक बनकर आती है कथा-नायिका शुभांगी। इस कहानी में जबर्दस्त किस्सागो है। सांवले रंग की शुभांगी ने पढ़ाई तथा नौकरी में सारी सफलताएँ अर्जित कीं। उसके विवाह की समस्या के माध्यम से कथाकार ने सामाजिक कुसंस्कारों, अंधविश्वासों, कुरीतियों और दकियानूसी विचारों को उद्घाटित करते हुए उन पर करारा व्यंग्य भी किया है। कॉर्पोरेटी जिंदगी की संवेदनहीनता पर भी चोट है। एक बेहद कामयाब लड़की शुभांगी को तीन-चार बार लड़के वाले नापसंद करते हैं। रिजेक्शन पर मुहरें लगती रहीं। शुभांगी की इन सब बातों में कोई रुचि नहीं है। वह कहती भी है—''शादी होना जिंदगी का कोई अंतिम सत्य नहीं, जिस पर इतनी चिंता की जाए।'' (पृ. 48) इसके बाद ग्रहों की शांति, पूजा-दान, मंत्र जाप, पुखराज जड़ा अँगूठी, आधी रात को चौराहे पर झाड़ू खुलवाकर फिंकवाना जैसे ढकोसले करवाकर माता-पिता शुभांगी की अस्मिता को ठेस पहुँचाते हैं। खुशी की बात है कि ज्योति की शुभांगी लड़ना जानती है। उसमें गजब का आत्मविश्वास है। यह युगीन माँग भी है।

ज्योति की कहानियों के आधार पर एक तथ्य सामने आता है कि उन्होंने कहानी लेखन और प्रकाशन में कोई जल्दबाजी नहीं दिखाई है। 2009 से 2014 के बीच मात्र आठ कहानियाँ लिखी हैं। इन सभी कहानियों का कलेवर लंबा है। एक बात और भी है कि इन सभी कहानियों के 'प्लॉट्स' कहानीकार के अनुभव क्षेत्र के अंतर्गत हैं। इनके विषय रचनाकार की पकड़ के अनुसार है। 'बड़ी हो रही मीताली' में माँ की ममता तो है ही लेकिन उससे बढ़कर अपना परिवार और गाँव छोड़कर महानगर में रिक्शा चलाने वाला रामेसर का छोटी बच्ची मीताली के प्रति अगाध स्नेह और लगाव भी है। यह कहानी पढ़ते समय स्वयंप्रकाश की 'बर्डे' कहानी स्मरण होती है। लेकिन, मिसेज बैजल की तरह मीताली की माँ असंवेदनशील नहीं है। इस कहानी में मीतू की मासूमियत, उसका भोलापन और रामेसर के प्रति उसके लगाव के माध्यम से मानव मूल्य की प्रतिष्ठा की गई है। रामेसर और मीतू की दुनिया में न कोई बड़ा है और न कोई छोटा। रामेसर का चरित्र रवींद्रनाथ के काबुलीवाला का भी स्मरण कराता है। खैर, इस कहानी में ज्योति चावला ने सशक्त कथा-भाषा में संजीदगी के साथ जीवन-यथार्थ का चित्रण किया है। कई स्थलों पर नाटकीयता के समावेश से कहानी जीवंत हो उठी है।

'बंजर जमीन' की तरह 'वह उड़ती थी तो तितली लगती थी' कहानी की मूल समस्या निस्संतान होना है। बिलासराव मांजरेकर अपनी पत्नी से बेहद प्रेम करते हैं। उषा का गर्भाशय कमजोर होने के कारण वह अपने पति की तथा अपनी इच्छा पूरी नहीं कर पाती है। छः महीने के गर्भधारण के बाद भी वह माँ नहीं बन पाती।

पढ़ा-लिखा शिक्षित परिवार में भी स्त्री की इच्छा-अनिच्छा पर कभी ध्यान नहीं दिया जा रहा है। किसी बच्चे को गोद लेने की बात पर प्रथम श्रेणी कर्मचारी विलास का कहना है—''जीवन में कुछ चीजें ऐसी हैं जिनसे मैं समझौता नहीं कर सकता, कर ही नहीं सकता।'' (पृ. 138) इस कहानी की उषा को गहरा धक्का पहुँचता है जब विलास पत्नी को बिना बताये कोलकाता में डॉ. मीनाक्षी सेनगुप्ता को दिखाने के लिए हवाई जहाज का टिकट ले आते हैं। जब कोई संभावना ही नहीं है तब फिर अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए इतनी जबर्दस्ती क्यों? कहानी का निम्नलिखित अंश नारी आंदोलन को नया आयाम देता है—''जब जानते हैं विलास तो क्यों हर पल मुझे मेरे अधूरेपन का एहसास दिलवाते रहते हैं...एक चलती-फिरती प्रयोगशाला बन गई है मेरी देह, जिसमें रोज कोई न कोई रसायन डालकर जाँच करते रहते हैं, विलास और हर बार असफल हो जाने पर अपने प्रयोग की सफलता के लिए नये जोश और उल्लास से भर जाते हैं।'' (पृ. 141) इस कहानी में कथा कहने और प्रस्तुत करने का ढंग बड़ा रोचक है। भाषाई सामर्थ्य और रवानगी से कहानी अधिक मनोज्ञ बन पड़ी है। कई उप-शीर्षकों के अंतर्गत कथा का विभाजन हुआ है जिससे कहानी की रोचकता बढ़ जाती है।

भूमंडलीकरण के बढ़ते प्रभाव और आवारा पूँजी के जबर्दस्त बहाव के चलते पिछले कई दशकों से हमारी सामाजिक संरचना बार-बार बाधित हो रही है। परंपरा और आधुनिकता यूँ कहें कि उत्तर-आधुनिकता के द्वंद्व से सबसे बड़ा संकट मानवता के सामने खड़ा है। महानगरीय जीवन में व्याप्त स्वार्थपरता गाँव तथा कस्बों तक फैल चुकी है। आज के उपभोक्तावादी समाज में गहरा सन्नाटा व्याप्त है। एक-दूसरे से अनजान बन कर व्यक्ति अपने को 'एलीट क्लास' का समझने लगता है। इंसानियत कराह रही है। लेकिन, व्यक्ति अपने तक सीमित है। संवेदनहीनता चरम पर है। समय के इस सच को 'वह रोज सन्नाटा बुनती थी' में देखा जा सकता है। नौ खंडों में विभाजित इस कहानी में नव दंपतियों की कथा है। कथा तो क्या कुछ घटनाएँ हैं जिनके माध्यम से समय की धड़कनों को महसूस किया जा सकता है। नये परिवेश में छह महीने गुजारने के बाद भी निम्नलिखित अनुभव कुरेद कर रखने के लिए पर्याप्त है—''लेकिन न जाने क्या बात थी कि सब कुछ पहचानने के बाद भी किसी भी चीज से जुड़ाव नहीं हो पा रहा था। हर चेहरे पर एक अजनबीयत तारी रहती थी।'' (पृ. 149) आज व्यक्ति जितना अधिक 'सभ्य' हो रहा है, उतना अधिक आत्मकेंद्रित। उतना ही अकेलापन का शिकार भी। ऊपर से चमकदार दिखने वाली दुनिया के बारे में कहानीकार लिखती है—''जिसमें चमक तो है लेकिन चमक की चादर को जरा-सा उठाकर देखा जाए तो वहाँ गहरा, डरावना अंधकार फैला हुआ है।'' (पृ. 156) एक बड़ी सोसायटी

में किसी पड़ोस की मृत्यु पर लोग कितने यंत्रवत आचरण कर सकते हैं, अपने घरों में निस्पृह बनकर रह सकते हैं, इसका आभास कहानी से मिल जाता है। ऐसे में संवेदनशील रचनाकार को अपने अतीत में लौटना लाजिमी हो जाता है। उसे लगता है "सब कुछ जैसे आज खो सा गया था। पिता की मृत्यु पर कैसे पड़ोस की औरतों ने आकर माँ को संभाल लिया था और एकबारगी हम सब भाई-बहनों को हमारे को पूरा मोहल्ला अपने परिवार जैसा लगा था।" (पृ. 159) यह केवल स्मृति नहीं है। इसे कहानीकार की यातना, संघर्ष और प्रतिरोध के रूप में देखा जाना चाहिए। विकास का संबंध मनुष्य और मनुष्यता से होना चाहिए। मनुष्य के लिए विकास है। मनुष्यता की कीमत पर विकास नहीं, विनाश होता है।

'सुधा बस सुन रही थी' कहानी मर्दवादी व्यवस्था की जड़ें हिलाकर रख देती है। उसके केवल 'सुनने' में इतना विरोध और प्रतिरोध हो सकता है, यह जानकर पाठक चकित रह जाते हैं। अट्ठाइस पृष्ठ की इस कहानी में सुधा केवल एक बार बोलती है अपने दद्दा और गाँववालों के सामने। किशोरावस्था में अवध से अपने प्रेम का इजहार तब करती है जब भागने की तैयारी में वह पकड़ी जाती है। वह कहती है—"प्रेम करते हैं हम अवध से...और उससे ही ब्याह करेंगे।" (पृ. 119) पुरुष वर्चस्व के दौर में स्त्री को प्रेम करने का अधिकार कहाँ है। अगर प्रेम करती है तो 'ऑनर किलिंग' या 'खाप पंचायत' तो है ही। इस संदर्भ में कुंवर दादा 'पाप' का बदला लेने के लिए अवध के गाँव में ही सुधा की शादी करवाते हैं ताकि वह आजीवन प्रेम की सजा भुगते। स्त्री के लिए प्रेम वर्जित क्षेत्र है और पुरुष के लिए सुविधा का। अवध के प्रेम के चलते सुधा ने पूरे गाँव को चुनौती दी तथा ससुराल के गाँववालों, पति की सजा पाई। लेकिन, अवध मात्र नीरव द्रष्टा बना रहा। सुधा का परित्याग हुआ फिर भी अवध अवधूत बना रहा। उसका ऐसा करना पुरुषवादी मानसिकता का भी प्रतीक है। पुरुष के लिए स्त्री मात्र भोग का साधन है। मन बहलाने की वस्तु है। अपने अहं की तुष्टि के लिए कुँवर दादा ने सुधा को जो दंड दिया, सुधा उससे हारी नहीं। उसने अवध को तन-मन से प्रेम किया। मुन्ना को लेकर बनारस चली गई। आत्महत्या नहीं की बल्कि मुन्ने के पिता का नाम अवधप्रताप सिंह लिखवाई। सुधा की 'आँखों में कोई अपराध बोध नहीं था'। इसके माध्यम से स्त्री की 'बोल्डनेस' दिखाई पड़ती है।

इस कहानी में प्रासंगिक कथाओं का सुंदर समावेश हुआ है। भोजपुरी संवादों के माध्यम से ग्रामीण जन-जीवन के मनोरम चित्र अंकित हुए हैं। स्थानीय रंग को उसी की बोली-बानी में प्रस्तुत करने की कला में ज्योति को सफलता तो मिली है, इसे आप ज्योति की खास पहचान और विशेषता भी कह सकते हैं। प्रायः सभी कहानियों में ज्योति की यह विशेषता नजर आती है जो उन्हें विशिष्ट पहचान प्रदान करती है।

यदि हिंदी कहानी के पाठकों से यह पूछा जाए कि ज्योति चावला अपनी किस कहानी के आधार पर आने वाले समय में जानी जाएँगी तो जवाब होगा 'अंधेरे की कोई शक्ल नहीं होती'। यह ज्योति की ही नहीं हिंदी की एक अति महत्त्वपूर्ण कहानी है। यह कहानी मर्मस्पर्शी है। 1984 के दंगे की पृष्ठभूमि में रची गई इस कहानी में प्रीतो के बहाने हवसी दरिंदों के जुल्म की कथात्मक अभिव्यक्ति है। दंगों में नारी पर होने वाले निर्यातन का यथार्थ चित्रण है। इस बात की चिंता भी प्रकट की गई है कि न केवल दंगों में बल्कि सामान्य स्थितियों में भी स्त्री न तो घर में और न बाहर कहीं भी सुरक्षित है। वह परायों से तो सुरक्षित नहीं है, अपनों से भी कहाँ सुरक्षित रह पाती है। मामा और मामा के दोस्त हरप्रीत यानी प्रीतो पर जो अमानवीय कृत्य करते हैं वह मानवता को शर्मसार करता है। स्त्री मानो एक जिस्म भर है, जिंस है। शारीरिक निर्यातन के बाद उसे जिस मानसिक पीड़ाओं और यंत्रणाओं का शिकार होना पड़ता है उसका दिल को दहला देने वाला चित्रण इस युवा रचनाकार ने किया है।

मैत्री, सौहार्दपूर्ण, भाईचारे के स्वस्थ वातावरण को दंगाई पल भर में विषाक्त कर देते हैं। भयानक नर संहार होता है। पल भर में लोगों को जिंदा जला दिया जाता है। घर फूँक दिये जाते हैं। हिंसा की वारदातों से मानवता लुंज-पुंज हो जाती है। ऐसी स्थिति में समाज के लोग मूकदर्शक बने रहते हैं। कहानीकार ने एक-एक घटना या स्थिति को ऐसी सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि और संवेदनशीलता के साथ कथा-सूत्र में पिरोया है कि पाठक आश्चर्यचकित हो जाता है। पुन: पाठक कहानी में पूरी तरह से डूबा हुआ पाया जाता है।

दरअसल, 'अंधेरे की कोई शक्ल नहीं होती' इतिहास का वह खंड है जिस पर इतिहास सदा मौन है। ऐसे भी इतिहास हमेशा लिखा नहीं गया है, लिखवाया गया है। भुला दिये गये अध्यायों को साहित्य में प्रस्तुत करने का बीड़ा रचनाकारों ने उठाया है। तथ्यों और आँकड़ों की निष्प्राण वस्तुओं को त्यागकर मानवता और संवेदनशीलता के साँचे में ढालकर अन-आलोचित अध्यायों को प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से ज्योति की इस कहानी का विशेष महत्त्व है। यह भी बात सच है कि प्रीतो की कहानी सिर्फ प्रीतो की नहीं है। हजारों स्त्रियों की दर्दनाक कहानी भी है। कहानी के अंत में ज्योति (नैरेटर) की चिंताएँ साफ झलकती हैं—"1984 के दंगों में या ऐसे ही दंगों में कितने लोग मारे जाते हैं, सत्ता की इस लड़ाई में कितनी जानें चली जाती हैं, लेकिन कितने खुशकिस्मत होते हैं वे जो दंगे की इस वीभत्सता को केवल एक ही बार भोग पाते हैं। उन औरतों, उन लड़कियों की तरह नहीं, जो बार-बार, हर बार दंगे की इस त्रासदी, इस आतंक, इस पीड़ा को झेलती हैं। सच पूछा जाए तो स्त्री की देह की आहुति के लिए किसी दंगे की जरूरत नहीं। उसके लिए तो चौरासी कभी खत्म ही नहीं हुई।"

(पृ. 76) स्त्री के इस जीवन-यथार्थ को ज्योति ने अपनी सभी कहानियों में कहानीपन के साथ पेश किया है। अतः ज्योति चावला की कहानियों का निजी महत्त्व स्वयंसिद्ध है। पम्मी, अनुष्का, शुभांगी, प्रीतो, मीतू, सुधा, उषा आदि स्त्रियों और लड़कियों की जीवनगाथा तो है ही उनके सामाजिक यथार्थ को कहानीकार ने पूरी ईमानदारी के साथ, अतिशयता के बिना उजागर किया है। कथा-भाषा, कथा-संरचना और शैल्पिक धरातल पर भी इन कहानियों की परख हो तो कहानियाँ सफल प्रतीत होती हैं। कथा कहने की शैली भी कहानीकार की अपनी है। कहानियों से गुजरकर ज्योति चावला की सहजता और स्वाभाविकता से प्रभावित होना स्वाभाविक है। किसी भी बड़े विचार या विमर्श को यूँ ही किसी घटना के माध्यम से व्यक्त करने की कला प्रभावशाली है। उम्मीद है कि अपनी आने वाली कहानियों में यह युवा कहानीकार व्यापक संदर्भों और परिप्रेक्ष्य को समावेशित करते हुए हिंदी कहानी को अधिक समृद्ध करेगी।

यथार्थ से मुठभेड़ करती कहानियाँ

पिछले कुछ वर्षों से प्रज्ञा की कहानियाँ हिंदी की तमाम प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित तथा चर्चित होती आ रही हैं। अभी हाल ही में प्रज्ञा का पहला कहानी-संग्रह 'तक्सीम' प्रकाशित हुआ है। प्रज्ञा की कहानियों से गुजर कर कहानीकार की विशिष्टता का परिचय मिलता है। जहाँ हिंदी कहानी में देह-विमर्श को बढ़ावा दिया जा रहा है वहाँ इस युवा कहानीकार ने अपने समय के यथार्थ को भ्रष्टाचार, राजनीतिक छल-प्रपंच, धार्मिक संकीर्णता, सांप्रदायिक विद्वेष, बाजारवादी अर्थव्यवस्था की विसंगतियों, महानगरीय संत्रास आदि के माध्यम से उकेरने का प्रयास किया है। प्रज्ञा की कहानियों में कहानीकार की व्यापक दृष्टि और सामाजिक प्रतिबद्धता स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

कई कहानियाँ बाजारवादी यथार्थ से मुठभेड़ करती हैं। संवेदनाओं के निरंतर क्षरित हो रहे दौर में इन्हें मशीनी मानदंड में तौलने का प्रयास किया जा रहा है। मशीनीकरण की इस प्रक्रिया में हमारे सामाजिक मूल्य पूरी तरह प्रभावित हो रहे हैं। मशीनी सभ्यता हमारी सामाजिक व्यवस्था का नियामक बनने लगी है। इससे मानवीय सरोकार बाधित हो रहा है। लेकिन, बाजारवादी अर्थव्यवस्था फल-फूल रही है। चाहे-अनचाहे हम सभी उसके चपेट में आ जाते हैं। उसके इशारे पर व्यवस्था बदलती जाती है। कहानी इस जमाने में बड़ी संजीदगी के साथ उपर्युक्त दृष्टि को कथा-सूत्र में पिरोती है। एक ओर बढ़ती बेरोजगारी तो दूसरी ओर शिक्षित समाज के अंतर्विरोधों को भी यह कहानी उद्घाटित करती है। कॉलेज परिसर में चाय बनाने वाली जोशीजी की आत्मीयता और उनके प्रेमपूर्ण सेवा-भाव एवं लगाव की तुलना में चाय-काफी बनाने वाली वेंडिंग मशीन अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। यह मशीन मानव मूल्य और नाते-रिश्ते को चंद लम्हों में खारिज कर देती है—जोशी तो सिर्फ चाय बनाता है और वेंडिंग मशीन से

चाय-कॉफी दोनों की सुविधा होगी। फिर नये लोग चाय नहीं कोल्ड ड्रिंक, जूस और शेक पीना चाहते हैं। हमारी माँग है कि एक नया फ्रिज खरीद लिया जाए और कैंटीन वाले को रोज का हिसाब बता दिया जाए कि क्या लाना है। कमीशन कंपनी उसे दे ही देगी। इस तरह जोशी की तनख्वाह भी बचेगी और अपनी पसंद के पेय भी मिलेंगे। और रही बात मशीन की तुलना में जोशी के प्यार की तो भाई सुना नहीं है 'प्यार से क्या पेट भरता है?' और प्यार-व्यार की जरूरत किसे है इस जमाने में? प्यार वो भी, किससे?...बी प्रोफेशनल। सीधी और साफ बात—कम लागत अधिक मुनाफा। (इस जमाने में, पृ. 54)

ध्यान दिया जाना चाहिए कि बाजार अपने तर्क तथा चालाकियों से मानवीय संवेदनाओं को अनुपयोगी सिद्ध करने लगा है। साथ ही, बाजार अपने प्रॉडक्ट को बड़ी मात्रा में बेचने के लिए तमाम तरह के दुश्चक्र रच रहा है। 'प्रोफेशनल' के नाम पर मानव मूल्य को तिरोहित करना मनुष्यता के सामने सबसे बड़ा खतरा है। लेकिन इससे बाजार का कोई मतलब नहीं है। बाजार के लिए बाजार मूल्य (मार्किट वेल्यू) सर्वोपरि है। कहानीकार की यह चिंता उसके पाठकों को उद्विग्न करती है। एक बात और है कि मनुष्य के स्थान पर मशीन तब्दील करने से बेरोजगारी भी बढ़ती है। भूमंडलीकरण और निजीकरण के दौर में भारी संख्या में छँटनी हुई है। सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं में अस्थायी नियुक्तियाँ हो रही हैं अथवा 'आउट सोर्सिंग' का मामला तेज हो रहा है। शिक्षित, योग्य, जरूरतमंद बेरोजगारों का भविष्य अनिश्चित हो रहा है। कहानीकार के शब्दों में—''मैडमजी, साफ-सफाई के काम पर रखे ये नए लड़के क्या जाने पक्की नौकरी का सुख? ये तो आज यहाँ कल कहाँ, कौन जाने? और इन पढ़े-लिखे लड़के-लड़कियों को ही देखता हूँ जो सालों से पक्के नहीं हो रहे तो बड़ा तरस आता है। न जाने कब पक्के होंगे? कब शादी-ब्याह होगा? कब बाल बच्चे?'' (वही, पृ. 51-52)। दरअसल यह चिंता लड़के-लड़कियों की ही न समझी जाए। यह देश की भी चिंता है अर्थात् देश के भविष्य से संबंधित चिंता है।

मशीनी सभ्यता ने मानवीय विवेक को चुनौती दी है। यह सब धराशायी करने पर आमादा है। अव्यवस्थित, असंतुलित तथा बदहाल समाज निर्मित करना चाहती है—एक अल्मोड़ा ही नहीं हर जगह अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित और अब तो शिक्षित बेरोजगार भी ऐसी नौकरी की तलाश में रहते हैं। अस्थाई कर्मचारी की माँग भी खत्म। ये कैसा माहौल है? (वही, पृ. 52) बेरोजगारी की समस्या को बहुत पुराना विषय कहकर इस कहानी को नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने इस समस्या को अधिक तीव्र किया है। इस अर्थ में कहानी का पाठ हो तो उसका महत्त्व बढ़ेगा।

बाजार का वर्चस्व न केवल महानगरों तक सीमित है बल्कि इसका विस्तार ग्रामीण जनजीवन तक भी है। इस प्रक्रिया के तहत सामाजिक संरचना में भयानक बदलाव आये हैं। प्रज्ञा की सजग और सचेतन दृष्टि से यह बदलती समाज स्थितियाँ अनदेखी नहीं रह जाती हैं। 'अमीर खान के लमड़े' शीर्षक महत्त्वपूर्ण कहानी में एक गाँव के रूप में भारत का विश्व बाजार में तब्दील होने की प्रक्रिया में अमेरिकी प्रभावों की भूमिका को रेखांकित किया गया है। भाईजी, टिल्लू भैया और प्रेमी चाचाजी की कथा वास्तव में समाजतंत्र एवं अर्थतंत्र की कथा है। भाईजी पुराने खयाल के हैं। वे समाज के संचालन के लिए अनुशासन, जिंदादिली, आत्मविश्वास, नेतृत्व क्षमता आदि के महत्त्व को भली-भाँति समझते हैं। वे बदलते समय की नब्ज को भली-भाँति पहचानते भी हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था में मशीनीकरण के प्रभाव से भी परिचित हैं। वे मशीनी सभ्यता का हिस्सा नहीं बनते हैं। वक्त-बेवक्त फैशनपरस्त युवा पीढ़ी पर गरजते भी हैं— "अबे, अमीर खान के लमड़े सँभलकर। आधी कमीज पेंट में और आधी बाहर क्यों निकल रही है तेरी?...और कालर उठा रखे हैं, बताऊँ अभी। बटन बंद कर ले, बहुत देखे सीने वाले। कौन-सा तीर माला है बे तूने?" (अमीर खान के लमड़े, पृ. 64) बाजार के लिए भाईजी 'अनफिट' हैं। लेकिन कहानीकार की कथा-दृष्टि को विकसित करने वाला पात्र है। उनका चरित्र बखूबी अंकित हुआ है।

पूँजीवादी व्यवस्था में मानवीय संबंधों के राग सूत्रों की नियामक पूँजी बनती है। सारे नाते-रिश्ते अर्थ के सामने बौने और ठिगने ही नहीं पूरी तरह से अनुपयोगी सिद्ध होने लगते हैं। ऐसी मानसिकता में वृद्धों की समस्याएँ नुकीले प्रश्न बनकर सामने खड़ी हो जाती हैं। भाईजी के माध्यम से वृद्ध जीवन की विकट तथा गंभीर समस्याएँ गहरी संवेदना के साथ उकेरी गई हैं। भाईजी की संपत्ति हड़प कर ली जाती है। वे बोझ मान लिए जाते हैं। उपेक्षित कोने में बस मृत्यु की प्रतीक्षा लगी रहती है—"क्या नहीं किया इन सुअरों के लिए। पानी को नहीं पूछते दोनों।" (वही, पृ. 67) कहा जा सकता है कि उल्लिखित कहानी में बहुआयामिता है। बाजारवाद, अमेरिकी साम्राज्यवाद, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एवं भारतीय संदर्भ में इनके दुष्प्रभाव तथा वृद्धावस्था की उत्कट समस्याओं को कहानीकार ने कथा-सूत्र में पिरोने का सुंदर प्रयास किया है। 'बराबाद नहीं आबाद' शीर्षक कहानी में भी यह चिंता प्रकट हुई है। प्रज्ञा का प्रयास जीवनोत्साह से निराश बुजुर्गों में पुन: उत्साह भरना है—"क्यों पड़े हो इस गंदे, ढीले बिस्तर पर? क्यों नहीं फिर से वैसे ही सोते हो गली में शान से? उठो और चीखो अपने लड़कों पर, गालियाँ दो, हड़काओ गली-मोहल्ले के लोगों को? क्यों खाते हो बहू की अपमान से दी हुई रोनी सूरतवाली खिचड़ी? उठो फिर से, सोचते क्यों नहीं कोई नया काम?"

(वही, पृ. 67) यहाँ अनायास ही चित्रा मुद्गल के 'गिलिगडु' की याद आती है जो महानगरीय परिवेश में बुजुर्गों की उपेक्षित दशा को उभार कर उनके जीवन संघर्ष को नए सिरे से पहचान दिलाने का प्रयास करने वाली कृति है।

राजनीति का अपराधीकरण और अपराध का राजनीतिकरण आज के समाज की भयावह सच्चाई है। सत्ता एवं पूँजी की साँठ-गाँठ का दूसरा नाम राजनीति हो गया है। इसमें कुछ चेहरे बदलते हैं चरित्र नहीं। हर चेहरे में कई चेहरे छिपे रहते हैं। भ्रष्टाचार, घोटालों तथा व्यभिचार का जमावड़ा बन चुकी है राजनीति। सरकार के सभी विभाग बिके हुए हैं। प्रज्ञा ने 'मुखौटे' कहानी में सर्वव्यापी भ्रष्टाचार के चित्र अंकित किये हैं। हैरत की बात यह है कि भ्रष्टाचार के इस अंतर्सूत्र में केवल सफेदपोश राजनीतिज्ञ ही नहीं, आम आदमी भी जुड़ता जा रहा है। तंत्र के आपादमस्तक भ्रष्टाचार व्याप्त होता जा रहा है। 'उत्कर्ष ग्रुप हाउसिंग सोसायटी' में अवैध रूप से बने मकानों में विकास प्राधिकरण के इंजीनियर, थाना प्रभारी, सोसायटी के अध्यक्ष, सचिव आदि की रिश्वतखोरी को कहानीकार ने उजागर किया है—'हमें भी तो कुछ ऐसी ही मंजूरी इन लोगों ने दिलाई है भारी भरकम। फीस ऐंठकर। पर वो कौन सी लिखित मंजूरी है? सब कुछ जवानी ही तो है। कहीं किसी दिन हमारे साथ भी' (मुखौटे, पृ. 137) विकास प्राधिकरण की धांधलियों को कहानीकार ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ उकेरा है। राजनेताओं की पक्षधरता बाजारवादी हितों को फलने-फूलने का मौका देता है। यहाँ लेखकीय चिंता पाठकों को भी सोचने के लिए बाध्य करती है। ये राजनेता देश की एक-एक इंच जमीन बेच डालने के लिए तैयार हैं। लेकिन, तुर्रा यह कि उनसे बड़ा 'देशभक्त' कोई हो नहीं सकता। बाजार को प्रमोट करने और कॉर्पोरेट शक्तियों के हाथों देश को कौड़ियों के मोल बेचे जाने की कवायदों को प्रज्ञा ने बड़ी समझदारी के साथ प्रस्तुत किया है। उनकी इस चिंता से रू-ब-रू होते समय अलका सरावगी का चर्चित उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' का स्मरण होता है।

आज के संवेदनहीन समय में मनुष्य मनुष्य से कट रहा है। उसके मानवीय गुण विलुप्ति की कगार पर है। 'रेत की दीवार' शीर्षक कहानी में कथा-नायिका नयना के माध्यम से समय की इस विडंबना को प्रस्तुत किया गया है। शंका और संशयग्रस्त जीवन व्यतीत करना मानो नियति का रूप ले चुका है। तभी तो नयना अपने ड्राइवर बलदेव की प्रत्येक हकीकत को अकारण ही शक की निगाहों से देखती है। इससे उसे मानसिक तनाव झेलना पड़ता है। सपरिवार यात्रा के बावजूद न उसमें यात्रा का रोमांच है और न आनंद। ड्राइवर भी मनुष्य होता है। लेकिन, कथा-नायिका को उसके खाने-पीने तक के बारे में कोई फिक्र नहीं। बाजारू सभ्यता ने हमारी मानसिकता और

भावात्मकता का भी बाजारीकरण कर दिया है। ड्राइवर बलदेव का सहज कथन भी नयना को आशंकाग्रस्त कर देता है। जब छोटा (रास्ता) था तो पहले भी इससे क्यों नहीं लाया? रात में नया रास्ता किसलिए पकड़ा जा रहा है। कहीं हाल ही में दिखाई जा रही सारी भलमनसाहत के पीछे इसकी कोई अपराधी प्रवृत्ति तो नहीं छिपी?'' (रेत की दीवार, पृ. 108) खुशी की बात है कि बलदेव की भलमनसाहत और आत्मीयतापूर्ण व्यवहार में मानवीय भावनाओं का एक राग छिपा है। इसे प्रज्ञा का कहानीकार देख पाता है और यह कहानी को महत्त्वपूर्ण बनाता है। 'मानुष राग' की खोज करने वाली यह कहानी काफी उम्मीदें जगाती है।

'फ्रेम', 'पाप, तर्क और प्रायश्चित' जैसी कहानियाँ वैयक्तिक जीवन के उच्छलन को प्रस्तुत करती हैं। यहाँ सारी संघर्षशीलता और जिजीविषा चूकती नजर आती है। कुछ हद तक आत्मघाती दब्बूपन भी नजर आता है। लेकिन, यह भी तो हमारे समाज का एक सच है। माना कि कहानी में उन्हें भिन्न रूप से प्रदर्शित किया जाना चाहिए था। लेकिन, इन कहानियों से गुजरकर इस पर सोचा जाना चाहिए कि आखिर कौन-स्थितियाँ और विवशताएँ हैं, जो चुप्पी, दब्बूपन, तटस्थ, पक्षधरहीन बनने के लिए मजबूर कर रही हैं। 'फ्रेम' की रानी और 'पाप, तर्क और प्रायश्चित' की मीनू के व्यक्तित्वों को कुचलने में व्यवस्था के हाथ और वर्चस्व की सत्ता पर भी गंभीरतापूर्वक विचार करने के लिए प्रेरित करती हैं। पितृसत्ता के मानदंडों के आधार पर कब तक सूली पर शिक्षित और आत्मनिर्भर नारी चढ़ती रहेगी—सपनों से भरी एक लड़की इस शहर में गायब कर दी गई थी और कहीं कोई हलचल नहीं थी। किसी को कोई चिंता ही नहीं थी। इसी बीच जतिन थर्रा जाता, भाई और पिता द्वारा या रिश्तेदारों द्वारा जाति धर्म की रक्षा में अपने-अपने सपनों के आकाश में स्वतंत्र उड़ने वाली लड़कियों के कत्ल की खबरों से। (फ्रेम, पृ. 32-33)।

कभी जाति के नाम पर तो कभी धर्म के नाम पर स्त्रियों को ही तमाम अत्याचारों का सामना करना पड़ रहा है। सामंतवादी विचार आज भी जस की तस बने हुए हैं। मानसिकता नहीं बदली। यह घोर चिंता और दुख का विषय है। 'बराबाद नहीं आबाद' में सुनीता की दृढ़ चेतना अनेक प्रयासों के बावजूद पूजा के जीवन में खुशहाली भरने में असफल होती है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने भूमिका में लिखा है—''बराबाद। बरबाद जैसा सुनाई पड़ता है लेकिन वह बराबाद है। सफल सुखी है। बर रिश्ता बर्बाद होते-होते बर आबाद हो जाता है। कहानी देशी और निम्नवर्गीय व्यावहारिकता जो मानवीयता का अभेद्य घटक है, पर स्थित है।'' (भूमिका, पृ. 10) प्रज्ञा की कहानी 'तकसीम' बहुआयामी है। इस लंबी कहानी में सत्ता और सांप्रदायिक विमर्श की सूक्ष्म

पड़ताल तो है ही, गाँव, शहर तथा महानगर के विविध जीवन संदर्भों को कथा-सूत्र में पिरोया गया है। इसमें विस्थापन का दर्द हैं तो वैमनस्य की आँधी से कराहता मानव जीवन भी अंकित हुआ है। कहानी की पठनीयता इतनी जबर्दस्त है कि यह एक ही बैठक में पाठक से पढ़वा लेती है। सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक यथार्थ का ऐसा मनोज्ञ चित्रण बहुत कम युवा कहानीकार कर पाते हैं। बुरे को छिपाना अथवा अनावश्यक विस्तार देना प्रज्ञा की प्रकृति नहीं है।

'तकसीम' का सामान्य अर्थ है विभाजित करना। कहानी में विभाजित होने की त्रासदी है। धर्म के नाम पर मनुष्य को बाँटने की गलत साजिशों का विरोध कहानीपन के साथ मौजूद है। धर्म को संवेदनशील मुद्दा बनाकर धर्म के ध्वजाधारी अभिन्न मित्रों में दरार उत्पन्न करने में सफल हो जाते हैं और अपना स्वार्थ हासिल करते रहते हैं। प्रज्ञा की दृष्टि में इस तरह के तमाम षड्यंत्र मौजूद हैं जिनका वह बिना लाग-लपेट की खबर लेती हैं तथा समाज को जागरूक बनाए रखने का परोक्ष आग्रह करती हैं। राम मंदिर बाबरी मस्जिद वाला प्रकरण हो अथवा गोधरा कांड, कहानीकार ने इन विवादों की जड़ तक पहुँचकर उसे उजागर करने का प्रयास किया है। उसने धर्मान्धता को आड़े हाथों लिया है तो सांप्रदायिक ताकतों की काली करतूतों को उघाड़ा भी है। पुनः एक ही कहानी में गाँव, शहर और महानगर को एक सूत्र में बाँधकर वहाँ व्याप्त 'फूल और धूल' का अंकन भी अत्यंत रोचक ढंग से किया है।

कहानीकार ने समय और समाज के बदलते परिदृश्यों को अपनी कहानी में रेखांकित किया है। पूँजीवादी सभ्यता में जमीन बेचकर नगरोन्मुखी होने की प्रवृत्ति हो अथवा जमील के मन की उथल-पुथल कहानीकार ने अपनी कथा दृष्टि का सुंदर परिचय दिया है। उसकी मंशा यह नहीं है कि बुराई को गौरवान्वित करे अथवा धार्मिक सांप्रदायिकता को उघाड़ कर सनसनी उत्पन्न करे। वह भाईचारे और सौमनस्य, सौहार्द तथा अटूट विश्वास को बढ़ावा देना चाहती हैं। बँटवारे, विस्थापन, अल्पसंख्यकों की असुरक्षा, बहुसंख्यकों की धर्मान्धता, अंधविश्वास, कुसंस्कार आदि पर कहानीकार की गहन दृष्टि से भी यह कहानी परिचित कराती है। गरीबी, दरिद्रता, अशिक्षा के वातावरण का भी अच्छा चित्रण है। स्पष्ट है कि प्रज्ञा एक पक्षधर कहानीकार हैं। जमील जैसे गरीब मजदूर को सहज शिकार बनाकर पुलिस मनमाने ढंग से बोर्न क्रिमिनल बना देती है। व्यवस्था निरपराध को दंडित और अपराधी को पुरस्कृत करती है। जमील का महानगर से गाँव और गाँव से महानगर कई बार आना-जाना होता है। इसी क्रम में ग्रामीण जीवन तथा महानगरीय जिंदगी का रूपायन होता है। लेकिन, कथाकार को इसे थोड़ा अधिक कसने की जरूरत थी। आने-जाने के विवरण को सुगठित रूप में

दिया जाता तो कहानी की बुनावट और कसावट अधिक ठोस होती। उम्मीद है, अपनी अगली कहानियों में प्रज्ञा इस ओर ध्यान देंगी। बावजूद इसके यह कहानी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह व्यापक संदर्भ और विशद परिप्रेक्ष्य की है। अक्सर युवा महिला कहानीकार की कहानी घर-परिवार, टूटन, बिखराव केंद्रित होकर रह जाती है। लेकिन व्यापक परिधि की कहानी की जमीन कुछ और ही होती है। इस दृष्टि से 'तकसीम' का महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। प्रज्ञा की 'लो बजट' (वर्तमान साहित्य जुलाई, 2015) वाली कहानी को भी पाठकों ने सराहा है। आशय यह है कि प्रज्ञा से हिंदी कहानी को काफी उम्मीदें हैं, संभावनाएँ भी।

• ● •

वर्ष 2015 : कहानी की जमीन पर कुछ लकीरें

पिछले कुछ दशकों से यह देखा जा रहा है कि कहानियाँ खूब लिखी जा रही हैं। तमाम साहित्यिक पत्रिकाओं में कहानियाँ प्रकाशित हो रही हैं। इनका सुर और तेवर, विषय तथा प्रस्तुति आदि पूर्ववर्ती कहानी से अलग हैं। कहन भी भिन्न है। वरिष्ठ कथाकारों के साथ युवा पीढ़ी की एक लंबी सूची कहानी लेखन से संबद्ध है। सूचना-प्रौद्योगिकी तथा उपभोक्तावादी समय में साहित्य सृजन आश्वस्त करता है। हममें यह विश्वास जगाता है कि पूँजीवादी शक्तियों की साजिशों को हमारे युवावर्ग के रचनाकार भली-भाँति समझ रहे हैं। अपनी सृजनशीलता से दूसरों को सचेत तथा सावधान करने का प्रयास कर रहे हैं। इस संदर्भ में सन् 2015 में विभिन्न प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ कहानियों के आधार पर युवा कहानीकारों की चिंताओं और उनके सरोकार को साझा करने का प्रयास किया जा रहा है। कहानी की जमीन पर कुछ लकीरें खींचने को कोशिश की जा रही है।

कहानी की जमीन अपने समय से निर्मित होती है। समय और समाज की विसंगतियों, उसके अंतर्विरोधों और जीवन यथार्थ से रचनाकार अपनी जमीन तैयार करता है। कथाकार की कथा-भूमि उसकी अपनी होती है। वह उबड़-खाबड़ हो सकती है तो समतल भी। लेकिन उस भूमि पर तैयार फसल में उसकी दृष्टि जरूर समाहित हुआ करती है। बिना विजन (दृष्टि) की कहानी, कहानी नहीं होती जैसे कि बिना फसल की जमीन की कोई सार्थकता नहीं होती। जमीन का उपजाऊपन उस पर लगी फसल से सिद्ध होता है। कहानीकार की युगीन संबद्धता, जागरूकता, दृष्टि संपन्नता, कहन की विशिष्टता, प्रभाविता आदि से कथा-भूमि का महत्त्व प्रमाणित होता है। बहरहाल कहानी की सैद्धांतिकी यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। युवा कथाकारों की कुछ कहानियों के माध्यम से उनकी जमीन से परिचित कराना हमारा उद्देश्य है। कुछ कहानियों का चयन उपलब्धता और रुचि के आधार पर ही किया गया है।

भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण दुष्ट त्रयी हैं। इस तिकड़ी ने लुभावने सपने दिखाकर बाजारवाद, उपभोक्तावाद और पूँजीवाद को बढ़ावा दिया है। मानव मूल्य नष्ट होने के कगार पर है और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के लिए मूल्य तो बस एक ही है, बाजार मूल्य। मुनाफा जहाँ सर्वोपरि हो वहाँ मनुष्य और मनुष्यता को केवल शब्दकोशों में स्थान पाना स्वाभाविक हो जाता है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था में पूँजी की महत्ता और उसका आतंक सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। यह अपनी साजिशों से हमारी सोच और मानसिक बुनावट को पूरी तरह से परिवर्तित करने में कामयाब होती जा रही है। हम अपना विवेक, अपनी सोच और समझ आदि को चुपके से इस अर्थव्यवस्था के हवाले करते जा रहे हैं और इस व्यवस्था की गुलामी के लिए तत्पर। इस परिप्रेक्ष्य में देवांशु पाल की 'प्लेजर' (समावर्तन, अक्टूबर 2015) शीर्षक कहानी का पाठ किया जा सकता है। उल्लेख किया जा सकता है कि 'प्लेजर' ब्रांड नेम' है और ब्रांड के पीछे दुनिया को पागल बनाने में बाजार और विज्ञापन का बड़ा हाथ है। ब्रांड प्लेजर जीवन के आनंद (प्लेजर) को धूल-धुसरित करने में कोई कसर नहीं छोड़ती है। जीवन स्वाहा हो जाता है लेकिन इससे बाजार का क्या? उसे सिर्फ इससे मतलब है कि उसके उत्पाद कितनी अधिक मात्रा में बिके।

'प्लेजर' लंबी कहानी नहीं है। इसमें कोई कथा भी नहीं है। लेकिन कहानीपन भरपूर है। दफ्तरी बाबू मृत्युंजय के बहाने निम्न मध्यवर्ग की मानसिकता में आनेवाले अनाकांक्षित परिवर्तनों की ओर संकेत है। कहानी की पृष्ठभूमि में पूँजी और बाजार की छद्मलीला को उद्घाटित किया गया है। मसलन, शिक्षा का बाजारीकरण विषय पर हाई स्कूल के रिटायर प्रिंसिपल सुब्रामणियम की चिंता प्रकट की गई है। भूमंडलीकरण की दस्तक के पहले 'बच्चों को पुस्तकों का ज्ञान बाँटने के साथ बच्चों में अनुशासन, संस्कार तथा संस्कृति का ज्ञान' प्रदान किया जाता था। समय बदला और उससे भी अधिक बदल गया हमारा जीवन मूल्य। शिक्षण संस्थाएँ भी बाजार का अंग बन गईं। कहानीकार सुब्रामणियम से कहलवाता है—"आज शिक्षा बाजार का एक हिस्सा बन गया है। पैसों से डिग्रियाँ खरीदी और बेची जा रही हैं। आज शिक्षक बच्चों को स्कूल में पढ़ाने की बजाय ज्यादातर अपने घरों में ट्यूशन से कमा लेते हैं।" पचास वर्षीय कथानायक मृत्युंजय समय की तेज रफ्तार के साथ चलने-भागने में पूरी तरह 'मिसफिट' करार दिये जाते हैं—अपनों के द्वारा अथवा सहकर्मियों के द्वारा। लेकिन, वे चलते हैं अपनी गति से अपने वसूलों के साथ। बाजार की अपराजेय ताकत को ठुकराने की भरपूर कोशिश करने वाले मृत्युंजय किस प्रकार उसका शिकार बन जाते हैं, यह कहानी का अंतःस्वर है। कहानी की खूबी बाजार का अंग बनने में नहीं बल्कि उसके विरोध में है। साइकिल से दफ्तर यातायात करने वाले मृत्युंजय से उनकी बेटी

कहती है—''पापाजी! और आप कितने दिनों तक इस खटारे साइकिल को घसीटते रहेंगे, आखिर आप कब तक बैक डेटेड बने रहेंगे, एक नई प्लेजर क्यों नहीं ले लेते। वह भी साइकिल की तरह हल्की और चलाना आसान है। आप जल्दी ही सीख जायेंगे....''। पत्नी नीलिमा का भी ऐसा आग्रह रहता है। सोचने की बात है कि बैक डेटेड और अपडेटेड का मामला प्रॉडक्ट से निश्चित हो रहा है। इसका संबंध वस्तु से है मन, विचार और बुद्धि से नहीं। बाजारवादी अर्थव्यवस्था ने हमारी सोच को बदल डालने में कामयाबी हासिल कर ली है। यह घर, दफ्तर तथा हमारे हृदय के अंतरतम प्रदेश में अपना साम्राज्य विस्तार कर चुकी है। देवांशु लिखते हैं—''मृत्युंजय को दफ्तर बाजार की शक्ल में तब्दील होते दिखाई पड़ता है और वह मन ही मन परेशान होने लगते हैं।'' और भी, ''ज्यादातर कर्मचारियों ने दफ्तर के बाहर भी एक और दफ्तर खोल रखे हैं।''

बाजार के रास्ते से होते हुए घर लौटते वक्त मृत्युंजय मोटर साइकिल से भिड़कर आहत हो घर पहुँचते हैं। पत्नी भले ही संवेदनशील हो लेकिन बेटी को मृत्युंजय की शर्ट की जेब में रखी पंप्लेट ही दिखाई पड़ती है। कैसी घोर अमानवीयता है? बाजार ने मानो मनुष्य की संवेदनशीलता को लील लिया हो। यह कैसा विकास है? समय की विडंबना को लेखक के शब्दों में जाना जा सकता है—''उम्र के पचासवें वर्ष में जीवन मूल्य किस तरह करवटें बदलने लगे हैं। जिन चीजों से मृत्युंजय हमेशा दूर रहा करते थे वही उनके जीवन से जुड़ने लगी हैं। आसान किश्तों में मिलने वाले एक मोपेड के जीवन में आने से पहले ही पूरा बैकडेटेड जीवन अपडेट हो जाता है।'' छोटे कलेवर की इस कहानी में सांकेतिकता, संवादधर्मिता, पात्रानुकूल भाषा और प्रभावशीलता का सुंदर समावेश हुआ है। कहानी में विचारधर्मिता भी गूँथी हुई है। अनावश्यक वर्णन का अभाव है। कथ्य और शिल्प की दृष्टि से 'प्लेजर' एक अति महत्त्वपूर्ण कहानी मानी जा सकती है।

हिंदी कहानी को एक भिन्न बोली प्रदान करने वाले सत्यनारायण पटेल ने मालवा अंचल को अपनी कथा-भूमि बनाई है। सत्यनारायण के अबतक दो कहानी संग्रह और एक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। उपन्यास 'गाँव भीतर गाँव' को पाठकों ने खूब सराहा भी है। जीवन की सचाई को अपनी कथा की जमीन बनाने वाले सत्यनारायण की तीन कहानियाँ 2015 में प्रकाशित हुई हैं। पहल-100 में 'न्याव', पल प्रतिपल-78 में 'मिन्नी, मछली और सांड' और 'वागर्थ' में एक कहानी। परंतु 'मिन्नी, मछली और सांड' की चर्चा जरूरी प्रतीत होती है। यूँ तो सत्यनारायण के यहाँ किस्सा कहानी को पठनीयता प्रदान करता है लेकिन उनके किस्से सिर्फ किस्से नहीं होते हैं। इनके बहाने वे सामाजिक यथार्थ की कई परतें भी उद्घाटित करते चलते हैं।

लोक-जीवन और लोक-संस्कृति के प्रति कहानीकार का अथाह प्रेम कथा की दुनिया से उभरकर सामने आता है।

'मिन्नी, मछली और साँड' शीर्षक कहानी खेल की दुनिया के अंतर्विरोधों और उसके तंत्र को उघाड़ती है। खेल की राजनीति को भी पाठकों के सामने उजागर करती है। आज की दुनिया में क्रिकेट की जनप्रियता असंदिग्ध है। इसकी जनप्रियता हेतु बहुराष्ट्रीय कंपनियों की चालाकियों की भूमिका कम नहीं रही है। भारत के सारे देसी खेल दम घोंटू वातावरण में हैं। कुछ विलीन हो गये हैं तो कुछ विलीन होने के कगार पर हैं। समाज की बदलती मानसिकता भी इसके लिए कम जिम्मेदार नहीं है। खेल में पैसा महत्त्वपूर्ण हो गया है। पैसों के लिए खेल खेला जा रहा है। सट्टा बाजार खेल का अंग बन रहा है। फुटबॉल और कबड्डी को अभी जरूर प्रोमोट करना शुरू हुआ है लेकिन, तैराकी, कुश्ती, गुल्लीडंडा आदि सैकड़ों देसी खेलों को प्रोत्साहन तो क्या नोटिस तक में नहीं लिया जा रहा। अपने लोक को विस्मृत और विलुप्त होते देखकर संवेदनशील सहृदय की आत्मा स्वाभाविक रूप में व्यथित होती है। इस व्यथा का परिणाम है 'मिन्नी, मछली और साँड'।

पूरी कहानी पढ़ लेने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि कहानीकार ने किसी सच्ची घटना पर आधारित विषय को अपनाया है। मिन्नी, मालिनी और कोच मैथ्यू के माध्यम से तैराक के भीतर मौजूद समुद्र की मछली को शब्दों के रूप में चित्रित किया है। मिन्नी की माँ आराधना अपनी बेटी का पूरा साथ देती है। वह चाहती है कि मिन्नी को भी तैराकी में राष्ट्रीय स्तर पर पदक हासिल हो। तैराकी में मेहनत तो दम फुला देने वाली, लेकिन पैसा और इज्जत न के बराबर। मिन्नी जैसी तैराक की झोली में कई स्वर्ण पदक पड़े होने पर भी पूरा मुहल्ला नहीं जानता उसे। लेकिन टीम इंडिया साधारण क्रिकेट मैच भी जीत जाए तो प्रधानमंत्री बधाई देते हैं। इतना ही नहीं, तैराकी कुंड पर कोच का सख्त अनुशासन तो घर में माँ का। बच्चे की इच्छा और अनिच्छा का कोई सवाल नहीं रह जाता। ऐसे में स्वाभाविक विकास बाधित होता ही है।

प्रसंगतया इस कहानी में साइकलिंग चैंपियन और बाद में भारत का कोच रह चुका स्वदेश का बड़ा भाई, स्वदेश आदि खेल मंत्रालय से परेशान हो खेल छोड़ देने का भी उल्लेख मिलता है। मंत्रालय की राजनीति से हमारे अपने खेलों का दम घोंटते चला जा रहा है। प्रतिभा का असम्मान और कम प्रतिभावालों को आगे बढ़ाकर देश का ही नहीं खेल का भी अपमान किया जा रहा है। पहलवानी में स्वर्णपदकधारी खिलाड़ी पंचर बना रहा है। मिन्नी भी तैराकी छोड़ कोई छोटी-मोटी नौकरी की तलाश में है। मिन्नी जो मछली बनकर समुद्र तैरना चाह रही थी, उसके पदक उसे 'अनजान अजगर, मगर, घड़ियाल, साँड' आदि बनकर मखौल उड़ा रहे हैं' उपहास और अट्टहास

कर रहे हों। लेकिन, मिन्नी ओलंपिक में क्वालिफाई करने के लिए मेहनत करते वक्त घायल हो जाती है। उसकी रीढ़ की हड्डी टूट जाती है। ऑपरेशन हुआ। हिदायत दी गई कम्प्लीट बेड रेस्ट की। ओलंपिक में पदक का सपना बस सपना बनकर रह गया। माँ और कोच का सपना भी साकार न हो सका।

इस कहानी की विशेषता यह है कि कहानी एक धनात्मक सोच के साथ पूरी होती है। अपनी बेटी की एक स्थिति में भी आराधना "भीतर ही भीतर कसमसाती बुदबुदाती—'बगैर लड़े कुछ ठीक नहीं होता। कभी नहीं होता।' लड़ना ही एकमात्र उपाय। सपनों के खेत चरते काले सांडों के हर झुंड के खिलाफ लड़ो। जैसे सूरज रोशनी के तीर-कमान लेकर रोज निकलता अंधेरे के खिलाफ। चलो, हम सांडों के झुंड को खदेड़ दें, धरती से बाहर।" कहना न होगा कि देसी खेलों के हत्यारे साँड कौन हैं?

खेल संसार पर आधारित चंद कहानियाँ पाई जाती हैं। इस दृष्टि से इस कहानी का महत्त्व तो है ही, कहन के चलते यह अधिक प्रभावी हुई है। सत्यनारायण पटेल की इस कहानी में उनका समय और सामाजिक यथार्थ बखूबी व्यंजित हुए हैं।

युवा कथाकार अनुज की लैंडमार्क कहानी 'खूँटा' के बाद 'अँगुरी में डँसले बिया नगिनिया' प्रकाशित 2014 में हुई थी। इस कहानी के आधार पर लंबी बहस 'परिकथा' ने चलाई थी। इसमें प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण कथा समीक्षकों ने अपनी राय जाहिर की थी। 'कैरियर, गर्लफ्रेंड और विद्रोह' कहानी संग्रह के रचयिता अनुज की 'ओढ़नी' और 'बोर्डिंग पास' दो कहानियाँ 2015 में प्रकाशित हुई हैं। 'परिकथा' के मई-जून 2015 में ओढ़नी' और वर्तमान साहित्य के नवंबर 2015 अंक में 'बोर्डिंग पास'। ये दोनों कहानियाँ अच्छी ही नहीं, बहुत अच्छी हैं। उल्लेखनीय तो हैं ही। बहुत कम कथाकार हैं जो एक साथ दो अच्छी कहानियाँ लिख सकते हैं। दोनों कहानियाँ संरचना की दृष्टि से सुडौल, कसी हुई और सुगठित हैं। अनावश्यक फैलाव अनुज के कथा-लेखन का स्वभाव ही नहीं है। वर्णनात्मकता के नाम पर सब कुछ बता देने की जद्दोजहद यह कहानीकार नहीं करता। एक बात और भी है कि दोनों कहानियों में कोई पुनरावृत्ति नहीं। न विषय के स्तर पर और न शिल्प की दृष्टि से। यह कहानीकार विषय या अंतर्वस्तु के आधार पर अपनी शैली का ईजाद करता है। पाठकीय विवेक और समझदारी पर उसका पूरा भरोसा भी दिखाई पड़ता है। कहानी के शीर्षक से लेकर क्लाइमैक्स तक यत्र-तत्र सांकेतिकता मौजूद रहती है। इससे शिल्प का उत्कर्ष सामने आता है।

'ओढ़नी' में महादलितों का आंदोलन, जातिवाद का दंश, सत्ता विमर्श, संघर्ष आदि की कथात्मक अभिव्यक्ति है तो 'बोर्डिंग पास' में पूँजीवादी तथा बाजारवादी व्यवस्था

के चपेट में आकर घोर अमानवीयता की पराकाष्ठा है। अमेरिका निवासी बेटा अयान माँ की चल तथा अचल संपत्ति व सामग्री बेचकर माँ को हवाई अड्डे में छोड़ अमेरिका भाग जाता है। अत्यंत सहज, सरल तथा भोलीभाली माँ के विश्वास को प्रबल धक्का पहुँचता है। 'ओढ़नी' की कथा कुछ पुरानी है तो 'बोर्डिंग पास' की अत्याधुनिक जीवन शैली। पहली कहानी की पृष्ठभूमि छोटा-सा शहर है तो दूसरे की मेट्रोपॉलिटन। इसी दूसरी कहानी के अंत में जब एयरपोर्ट के अधिकारी माँ को उसके घर तक पहुँचाने की व्यवस्था करा देने की बात करते हैं तब उसने सूनी आँखों से किसी अधिकारी को जो कहा था वह पूरी मानव जाति के हृदय को दहला देने वाला था—"अब कौन-सा घर....?"

'ओढ़नी' में मैला ढोने की प्रथा बंद करने हेतु आंदोलन है। इस आंदोलन का नेतृत्व महादलित निरमलिया के हाथों में है। सबसे पहले इस गंदी प्रथा को बंद करने का विचार उसी के मन में आया। यह अलग बात है कि गगन संकरिया का इकलौता बेटा रतलाम निरमलिया का साथ देता है। वह उसका प्रेमी भी था। महादलितों के जीवन के अंतर्विरोधों, विडंबनाओं तथा विसंगतियों को कहानीकार ने गहरी सूझ-बूझ और अंतर्दृष्टि के साथ चित्रित किया है। इस कहानी में ओढ़नी प्रारंभ, मध्य तथा चरमोत्कर्ष में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुई है। पहला सुंदरता के अर्थ में, दूसरा संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में और तीसरा मृत्यु के साधन के संदर्भ में। पूरी कहानी में निरमलिया और रतलाम की प्रेमधारा निरंतर प्रवाहित हुई है। व्यापारी वर्ग के दुष्चक्र से यूँ कहें कि रतलाम के पिता गगन संकरिया दुष्कांड से निरमलिया की हत्या के बाद भी प्रेम का स्रोत बहता रहता है। इस कहानी में अनुज का कहानीकार जितना निरमलिया के संघर्ष और नेतृत्व के साथ है उतना रतलाम के विचारों के साथ भी। मसलन, रतलाम बोल रहा था—"समाज में कोई छोटा नहीं होता और न ही कोई चौधरी होता है, अरे डमरू, अब नहीं रहेगा यहाँ कोई टीन का कनस्तर...। लाओ रे, वो बड़ा वाला पत्थर लाओ।" दलित आंदोलन को ठप्प करने के लिए जितना हाथ ऊँची जाति के लोगों का था उसे निरस्त करने के लिए दलितों का भी कम हाथ न था। हालाँकि ऐसा करना उनकी लाचारी थी—"उनकी चिंता यह नहीं थी कि मैला ढोने की व्यवस्था बंद हो जाए, बल्कि उनके लिए ज्यादा जरूरी यह दिख रहा था कि उन्हें मैला ढोने के लिए प्रति कनस्तर ज्यादा पैसे मिले।" निरमलिया की हत्या से बौराया रतलाम गाँधी चौक पर आकर कंकड़-पत्थर इकट्ठा करता है। वह निरमलिया के भाई डमरू से कहता है—"देख डमरू, यहीं बनेगी मूर्ति, गाँधीजी के ठीक सामने, गाँधीजी के बराबर... सुंदर-सी मूर्ति, बड़ी-सी मूर्ति बनाऊँगा।" गाँधीजी के सपनों को सच करने के लिए निरमलिया के आत्मोत्सर्ग को रतलाम समझता है। पूरा समाज समझे तो स्वस्थ समाज

का निर्माण हो सकता है। हिंसा, घृणा, मार-काट के वातावरण में प्रेम के महास्रोत को प्रवाहित कर कहानीकार ने मानव मूल्य पर अपना अटूट भरोसा व्यक्त किया है। कहना न होगा कि 'ओढ़नी' एक लंबे समय तक याद रखी जाने वाली कहानी है।

'पाखी' के मई 2015 में प्रज्ञा की कहानी 'तकसीम' बहुआयामी है। इस लंबी कहानी में सत्ता तथा सांप्रदायिक विमर्श की सूक्ष्म पड़ताल तो है ही, गाँव, शहर तथा महानगर के विविध जीवन संदर्भों को कथा-सूत्र में पिरोया गया है। इसमें विस्थापन का दर्द है तो वैमनस्य की आँधी से कराहता मानव जीवन भी अंकित हुआ है। कहानी की पठनीयता इतनी जबर्दस्त है कि वह एक ही बैठक में पाठक से पढ़वा लेती है। सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक यथार्थ का ऐसा मनोज्ञ चित्रण बहुत कम युवा कहानीकार कर पाते हैं। बुरे को छिपाना अथवा अनावश्यक विस्तार देना प्रज्ञा की प्रकृति नहीं है।

उमाशंकर चौधरी की कहानी 'दिल्ली में नींद' (पल प्रतिपल-78, जुलाई-दिसंबर 2015) की भी चर्चा रही है। कविता और कहानी विधाओं में निरंतर आवाजाही करने वाले इस कथाकार की कथा-भाषा, कथन भंगिमा हमेशा पाठकों को लुभाती आई है। इस कहानी में चारुदत्त सुनानी के संघर्षमय जीवन की त्रासद गाथा अंकित है। महानगर में सर्वहारा सुनानी परिवार के दुःख-दर्द, आशा-आकांक्षा तथा संघर्ष एवं सपनों को अत्यंत जीवंत रूप में चित्रण करने में उमाशंकर को सफलता मिली है। सुनानी की अपनी जमीन नहीं हो तो क्या जमीन के नीचे सुरंग बनाने का सपना तो जीवित है। खुशी की बात है कि वह सुरंग बनाकर अपने परिवार के सदस्यों के प्रति अपनी संवेदनशीलता और आत्मीयता के भाव को संवर्धित करना चाहता है। सुरंग बनाना कठिन है, पर उसकी अदम्य जिजीविषा को देखकर यह काम असंभव प्रतीत नहीं होता। एक ऐसे समय में जब मनुष्य टूट रहा हो, पूरी तरह बिखर रहा हो, पारिवारिक मूल्य को बचाए रखने की जद्दोजहद कहानी का प्राण है। चौंतीस पृष्ठों की इस कहानी में 'घर' की संकल्पना बार-बार आती है। साथ ही नींद के तमाम संकेतार्थ मौजूद हैं। जैसे, ''दिल्ली में लोग सोना नहीं चाहते लेकिन उन्हें नींद परेशान करती है।'' इसकी काट चारुदत्त सुनानी के पास है—''पर सुनानी सोना चाहता है और नींद है कि आती ही नहीं।'' मस्तिष्क में आ गये कीड़ों का प्रसंग भी जितना सांकेतिक है उतना ही मनोवैज्ञानिक। एक बात और है, कहानीकार ने इसे रचने के पहले व्यापक पैमाने पर जो 'फील्ड वर्क' किया है, वह साफ झलकता है। 'वैभव की रानी दिल्ली' के अंदर एक और दिल्ली की आंतरिक संरचना और उसके जीवन की अद्भुत रूपरेखा इस कहानी में आँकी गई है। डॉ. प्रशांत की भूमिका अच्छी बनी है। पंजाबी भाषा के प्रयोग से कहानी में वैविध्य आया है। 'दिल्ली में नींद' एक बेहतरीन कहानी है।

अशोक कुमार पांडेय की कहानी 'जंगल' (उम्मीद, जनवरी-मार्च, 2015) का भी विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए। यह इसलिए कि जल, जंगल और जमीन से विस्थापित बंधुआ मजदूर परिवार की संघर्षशीलता को कहानीकार ने संवेदनात्मक धरातल पर प्रस्तुत किया है। अवैध रूप से खदानों का उत्खनन जारी है। पूँजीपति, राजनेता, ठेकेदार और शासनतंत्र की मिलीभगत से पर्यावरण को नष्ट किया जा रहा है। पूरी व्यवस्था में घुन लग चुके हैं। इस कहानी में जंगल विविध संदर्भों में प्रयुक्त हुआ है। राज के अर्थ में जंगल राज जारी है। जिसकी लाठी उसकी भैंस की तर्ज पर। कहानीकार के शब्दों में—"सबका एक ही उद्देश्य है कि कितना दोहन किया जा सकता है इन जंगलों का...आज सिर्फ नाम है जंगल का...जंगल जैसे पत्थर का जंगल है, जंगल जैसे अन्याय का जंगल है...जैसे जिंदा लाशों का जंगल है।" इस जंगल में ठेकेदार और उसके कारिंदे भेड़िये हैं जो दोपायवाले जानवरों को जब चाहें तब मार सकते हैं। इस जंगल राज में अगर कोई ईमानदार आ जाए तो उसे बलात्कार और हत्या के जुर्म में जेल भुगतना पड़ता है।

सीबू, रामेसर, गोमती जैसे जीवंत पात्रों की मौजूदगी से कहानी विशिष्ट बन जाती है। इनके सपनों का संबंध जीवन की आधारभूत आवश्यकता तक सीमित है। लेकिन, वे आवश्यकताएँ कभी पूरी नहीं होतीं। जंगल को अपना पूज्य एवं आराध्य मानने वालों को जंगल से बेदखल कर दिया जाता है। उनकी शोचनीय स्थिति का अत्यंत मार्मिकता के साथ चित्रण हुआ है तो सत्ता की चालाकियों तथा उसकी क्रूरताओं के चित्र खींचने में कहानीकार को सफलता हासिल हुई है। विधायक, सांसद, तहसीलदार, पुलिस, ठेकेदार, सुपरवाइजर आदि के सम्मिलित शोषण से मजदूरों की जिंदगी के साथ-साथ प्रकृति और पर्यावरण दम तोड़ने को मजबूर हैं। कहानीकार की चिंता उसकी जागरूकता का संकेतक है।

राजस्थान निवासी संदीप मील की कहानियों का स्वर औरों से भिन्न रहा है। 'दूजीमीराँ' उनका कहानी संग्रह है। 'कोकिलाशास्त्र' (बया, जनवरी-मार्च 2015) और 'उलझाऊ चौधरी' (जनवरी-जून, 15, पक्षधर) जैसी कहानियों से उनकी कथा-सामर्थ्य का पता चलता है। दूसरी कहानी की जमीन गाँव की है। हरीबक्स का भैंसा खूँटा उखाड़कर रामनाथ के बाजरे में घुस जाने के बाद की स्थितियों का अंकन हुआ है। गाँव का अकेला पटेल रामकुमार चौधरी ही फैसला कर सकता है। वर्णवादी व्यवस्था के वर्चस्व के साथ चौधरी के उलझाव स्वभाव का बड़ा अच्छा अंकन हुआ है। छोटे-छोटे संवाद से कहानी आगे बढ़ती है। परंतु बात 'कोकिलाशास्त्र' की अधिक प्रमुखता के साथ होनी चाहिए। यह कहानी पढ़कर विजयदान देथा की याद आती है। पक्षियों की भाषा समझने और बोलने की क्षमता जिसके पास होती है उसे कोकिलाशास्त्र

का ज्ञाता माना जाता है। इसका जानकार किसी भी पशु की बोली बोल सकता है। कानाराम की बहू सरीता इस कला में निपुण थी। विकास के नाम पर सर्वनाश हो रहा है। पर्यावरणीय प्रदूषण और परिस्थिति के असंतुलन के मुद्दे को लोक कथा के आधार पर इतने चमत्कार और प्रभावी ढंग से बहुत कम कहानियों में प्रस्तुत किया गया है। कथा कहने की शैली अत्यंत रोचक है। रोचक बनाने का प्रयास कथा के गांभीर्य को कहीं भी बाधित नहीं होने देता। पुनः गाँव की जमीन और पृष्ठभूमि में रचित इस कहानी में वातावरण में मँडराते काले संकटों का मनोरम चित्रण भी किया गया है। गाँव के सारे पेड़ों को काटकर बेचने के बाद उस पैसे को ब्याज पर दे दिया जाए तो प्रत्येक परिवार को हर महीने दो हजार रुपये ब्याज के मिलेंगे। पेड़ों के कट जाने के बाद कोई परिंदा गाँव में नहीं रह जाता। इससे गाँव वालों को बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। वे दहशत से भर जाते हैं। संत्रस्त रहते हैं। भयार्त्त भी। पटेलों की बस्ती में आधी रात आने वाली किसी पक्षी की आवाज से आतंक भर जाता है। पटेल अपने अस्त्र-शस्त्रों के साथ उस आवाज करने वाले पक्षी को मार डालने का संकल्प लेते हैं। लेकिन, आवाज आते ही सारी हिम्मत पस्त हो जाती है। कानाराम के परिवार को सजा देने का पुख्ता बंदोबस्त करते हैं, क्योंकि कानाराम अपने आँगन में नीम लगाना चाहता था। उसे कुएँ के पानी तक से वंचित किया गया। गाँव से निकल जाने का फरमान जारी हुआ लेकिन सरीता बिल्कुल अविचल बनी रही। वह रात अँधेरे में दूर की पहाड़ी में जा पहुँचती। लोगों ने उसे सिद्ध डायन प्रचारित किया। टीले की चोटी के पास सरीता को इस रूप में देखा गया—"उसके कंधे पर कोयल बैठी थी, घुटने पर कौआ था और बगल में इतने पक्षी और कुत्ते बैठे थे जैसे कि संसद की कार्यवाही चल रही हो।" अगले दिन भोर होते ही सारा गाँव कानाराम के घर पर हमला करने के लिए निकल पड़ा तो देखा—"कानाराम के घर पर मोर, कबूतर, कौआ, कुत्ता, बिल्ली मोर्चा संभाले हुए थे। वे गाँव वालों पर टूट पड़े।" इस कहानी में सरीता का दृढ़ संकल्प उसके चरित्र को मजबूती प्रदान करता है। पूरी कहानी की वह अप्रतिम पात्र है। पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाने का अनन्य प्रयास है। कंक्रीट के जंगल से मानव जाति सर्वाधिक पीड़ित हो रही है। कहानी की शुरुआत अत्यंत भयानक स्थिति की ओर संकेत करती है—"न चिड़ियों की आवाज रही और न हवा की सनसनाहट। अब न फूल खिलते हैं और न ही आँधियों में पीपल की टहनियाँ झुककर जमीन को सलाम करती हैं। लोगों के कानों को मोर की आवाज और पक्षियों की किलकारी में फर्क भी पता नहीं रहा।" कहना न होगा कि 'कोकिलाशास्त्र' हिंदी की एक प्रतिनिधि कहानी के रूप में मान्यता प्राप्त होगी। इसकी कथा-संरचना, कथा-कौशल, कथा-भाषा और शिल्प निपुणता आदि समन्वित होकर इसे ऊँचाई प्रदान करते हैं।

मजकूर आलम की 'कबीर का मोहल्ला' (परिकथा, जनवरी-फरवरी 2015) शीर्षक कहानी में दंगा पीड़ित आमजन का मानस चित्रित हुआ है। काफी होमवर्क के बाद ऐसी कहानी सामने आती है। कहानीकार की कड़ी मेहनत इस कहानी में दिखाई पड़ती है। दंगा के दौरान हुए अपप्रचार से लहूलुहान होती मानव जाति बार-बार आहत होती है। अपप्रचार के लंबे पंख होते हैं। धार्मिक उन्माद को बढ़ावा देने में पंडितों और मौलवियों की भूमिका को भी जिम्मेदार ठहराया गया है। सांप्रदायिकता की विष बेलि को फलने-फूलने देने में धार्मिक संकीर्णतावादियों का जबर्दस्त हाथ रहता है। गंगा-जमुनी तहजीब वाले वतन की रूह को उद्घाटित करने का पूरा प्रयास कहानीकार ने किया है। खुशी और आश्वस्त करने वाली बात है कि "तमाम तनावों के बाद भी गली की दोनों तरफ के बीच रिश्ते की डोर भी उतनी ही मजबूत और यकीनी है, जितना काँटों के सात गुलाब का होना।" इस कहानी में कबीर की प्रासंगिकता और उपादेयता को आज भी महसूसा जा सकता है। कहानी का अंतिम वाक्य गौरतलब है— "कबीर की पुण्यतिथि पर मोहल्ले वालों ने एक बार फिर इस ओहदे को दोहराया कि वे हर समस्या का हल आपस में मिल-बैठकर करेंगे, किसी के बहकावे में नहीं आएँगे और कौमी एकता मंच के तहत 'कबीर कविगोष्ठी-सह मुशायरे का आयोजन किया गया'।

'नया ज्ञानोदय' के जून 2015 वाले अंक में आशा प्रभात की 'चौथा कंधा' कहानी शंका, ऊहापोह और असमंजस से पूर्णतया चित्रित करती है। एक औरत किन परिस्थितियों में पति को निकालने के लिए तैयार हो जाती है, उसका भी वर्णन मिलता है। कमल नयन इस कहानी की धुरी है। कथा-संयोजन की दृष्टि से यह अधिक सफल नहीं कही जा सकती है।

अजय अनुरागी की 'काँच की परी' (परिकथा, मार्च-अप्रैल 2015) में मॉल कल्चर में कथानायक की गरीबी और उसकी लाचारी का चित्रण है। उसे अंधेरे की तलाश है जो सड़क पर व्याप्त है। इस अंधेरे की प्राप्ति के लिए वह परेशान है। हाइपर सिटी के बारे में कथावाचक का खयाल है—"मुझे खींचकर क्या करेगा यह मॉल, कितना ही खींच ले, कितना ही चिपका ले मुझसे क्या ले सकता है? यहाँ इसी इरादे से अनेक आते हैं और खींचकर रह जाते हैं। वे उधार लेते हैं। लोन लेते हैं। चोरी करते हैं। मगर यहाँ आते हैं। यहाँ का आकर्षण ही कुछ ऐसा होता है।" पूँजी और बाजार के मायाजाल में लुभाने वाले आमजन की त्रासदी को बड़ी खूबसूरती के साथ उकेरा गया है।

इधर के कहानीकारों में शिवेंद्र की अच्छी चर्चा हुई है। उनका पहला कहानी-संग्रह 'चॉकलेट फ्रेंड्स और अन्य कहानियाँ' प्रकाशित हुआ। शिवेन्द्र अपनी कहानियों में लोक

कथा का भी प्रयोग करते हैं। इससे उनकी कहानी की आयामिता का पता चलता है। लोक गीत के समावेश से कहानी के आयाम व्यापक बन जाते हैं। लोक, समाज, इतिहास और यथार्थ के पारस्परिक संवाद से उनकी कथा दृष्टि से पाठक परिचित होता है। शिवेन्द्र को चाहिए कि किसी कहानी में आई लोक कथा को दूसरी कहानी में अत्यंत जरूरी हो तो केवल संकेत से काम लें। अभी उनके शिल्प में विविधता आना शेष है। बावजूद इसके शिवेन्द्र से हिंदी कहानी बहुत कुछ उम्मीदें पालती हैं। इस युवा कहानीकार की 'कहानी' पढ़कर मन में यह विश्वास उत्पन्न होता है कि आने वाले दिनों में इनकी और भी उत्कृष्ट कहानियाँ सामने आयेंगी।

2015 में प्रकाशित और भी तमाम कहानियाँ हैं। उन सभी कहानियों पर विचार करने का अभी न तो अवसर है और न ही अपेक्षित। लेकिन, यहाँ इतना उल्लेख करना अनुचित न होगा कि युवा कथाकारों की कहानी के संसार में नई भाषा और नये शिल्प का अभाव नहीं है। उनकी चिंता और चेतना के केंद्र में समय और समाज शिद्दत के साथ मौजूद हैं। इन युवा कहानीकारों की जमीन में यथार्थ की विभिन्न शेड्स भी मौजूद हैं। बस आग्रह सिर्फ इतना कि ये कहानीकार अपनी ठोस जमीन पर खड़े होकर कहानीपन को जिंदा रखते हुए सांकेतिकता का प्रयोग करें और अंतर्वस्तु एवं शिल्प को अधिक सुघड़ता प्रदान करें।

हिंदी कहानी और किसान-जीवन

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत के साथ-साथ हिंदी 'कहानी' (शॉर्ट स्टोरी) का उद्भव होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'आख्यायिका' तथा 'गद्यकथा' लिखी जाती थीं। लेकिन, हिंदी में 'कहानी' के आगमन होते ही एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन परिलक्षित होता है। यह परिवर्तन 'कंटेन्ट' तथा 'फॉर्म' दोनों रूपों में दिखाई पड़ता है। मसलन, 'छत्तीसगढ़ मित्र' नामक पत्रिका में माधवराव सप्रे की कहानी 'एक टोकरी भर मिट्‌टी' (1901) पर विचार किया जा सकता है। इसे हिंदी की पहली कहानी के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस कहानी के माध्यम से कहा जा सकता है कि हिंदी कहानी अपनी प्रारंभिक यात्रा से किसान जीवन से संबद्ध रही है। सामंती दमन और शोषण से पीड़ित 'गरीब असहाय विधवा' के स्वाभिमान तथा उसकी शोचनीय स्थिति को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ उकेरने में कहानीकार को सफलता हासिल हुई है। अनाथ विधवा के जमींदारी चाल के चलते अपनी झोपड़ी से विस्थापित होना पड़ता है। लेकिन विधवा टोकरी भर मिट्टी झोपड़ी से ले जाने की इजाजत माँगती है और जमींदार से अनुरोध करती है कि ''टोकरी को जरा हाथ लगाइये जिससे मैं इसे सिर पर धर लूँ।'' कहना न होगा कि जमींदार की शक्ति के बाहर था यह काम। उससे टोकरी नहीं उठाई गई। विधवा कहती है—''महाराज, नाराज न हों। आपसे एक टोकरी भर मिट्‌टी नहीं उठाई जाती, क्योंकि इस पर आपका कोई अधिकार नहीं है। इस झोपड़ी में तो हजारों टोकरियाँ मिट्‌टी है। उसका भार आप जन्मभर क्योंकर उठा सकेंगे। आप इस बात पर विचार कीजिए।'' कहना न होगा कि सदियों से अपने खेत और जमीन से बेदखल होने वाले असहाय किसानों की व्यथा-कथा को कहानीकार ने विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत किया है। साथ ही, उसने सामंतवादी महाजनी सभ्यता की अमानवीय तथा क्रूर शासन व्यवस्था का पर्दाफाश किया

है। यहाँ बात झोपड़ी की मिट्टी की ही नहीं है बल्कि भोले-भाले किसानों को उनके स्वत्व और अधिकारों के हनन की भी है। इतिहास साक्षी है कि कोरे कागज पर अंगूठा लगवाकर जाने कितने किसानों को जमींदारी व्यवस्था ने मजदूर बनने को बाध्य किया है।

'एक टोकरी भर मिट्टी' शीर्षक कहानी के अंत में जमींदार ने विधवा से क्षमा माँगी और उसकी झोपड़ी वापस दे दी।'' यहाँ कहानीकार का आदर्श है। लगभग ऐसी स्थिति प्रेमचंद की आरंभिक कहानियों में पाई जाती है जहाँ जमींदारी व्यवस्था में सुधार की आकांक्षा प्रकट होती है। लेकिन, बाद के दिनों में वे जमींदारी प्रथा पर अचूक को रेखांकित करते चलते हैं।

प्रेमचंद किसान जीवन के महान् चितेरे हैं। किसान जीवन को उन्होंने अत्यंत निकट से देखा, समझा तथा परखा था। इसलिए, उनकी कहानियों में किसान जीवन की गहराई गंभीरतापूर्वक प्रस्तुत हुई है। 1915 से 1936 तक के कालखंड में भारतीय किसान की समस्याओं को उन्होंने व्यापक तथा विशद रूप में प्रस्तुत किया है। वे भली-भाँति जानते थे कि इन समस्याओं के समाधान के बिना भारत की प्रगति संभव नहीं थी। अर्थात् किसानों की समस्याएँ राष्ट्र की भी समस्याएँ हैं। 'पूस की रात', 'बलिदान', 'सुजान भगत', दो बैलों की कथा', 'सवा सेर गेहूँ', 'मुक्ति-मार्ग', 'नशा', 'पंच परमेश्वर', 'मुक्तिधन', 'अलग्योझा', 'बाँका जमींदार', 'पछतावा', 'ईश्वरीय न्याय', 'उपदेश', 'खून सफेद' जैसी दर्जनों कहानियों के माध्यम से प्रेमचंद ने किसान जीवन के तमाम संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों को कथा-सूत्र में पिरोया है। अपने समय और समाज के यथार्थ को प्रेमचंद ने जिस बारीकी के साथ उकेरा है, वह अन्यत्र नहीं है। उल्लेख करना अनुचित न होगा कि प्रेमचंद किसान जीवन के जितने बड़े कथाकार हैं, उतने ही महत्त्वपूर्ण चिंतक भी। 'महाजन और किसान' हो अथवा 'किसानों का कर्जा', 'किसान सहायक एक्ट' हो या 'कृषि सहायक बैंकों की जरूरत' जैसे सैकड़ों टिप्पणियों के माध्यम से प्रेमचंद की किसान चेतना की व्यापकता का अनुमान हो जाता है। किसान जीवन संबंधी कहानियों या विचारों से गुजरकर प्रेमचंद के 'विजन' का पता चल जाता है। किसानों की दयनीय दशा का मार्मिक चित्रण करने में प्रेमचंद अद्वितीय हैं। उन्होंने किसान जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं को बड़ी शिद्दत के साथ रूपायित किया है। इस संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा भी है—''हर कोई जानता है कि प्रेमचंद ने समाज के सभी वर्गों की अपेक्षा किसानों के चित्रण में सबसे अधिक सफलता पायी है। वे हर तरह के किसानों को पहचानते थे, उनके विभिन्न आर्थिक स्तर, उनकी विभिन्न विचारधाराएँ, उनकी विभिन्न सामजिक समस्याएँ किसान-जीवन के हर कोने से परिचित थे। जैसी उनकी जानकारी असाधारण

थी, वैसा ही किसानों से उनका स्नेह भी गहरा था। किसानों के सम्पर्क में आने वाली शोषण की जंगी मशीन के हर कल-पुर्जे से वे वाकिफ थे।''

प्रेमचंद की कहानियों तथा उनके किसान जीवन से संबंधित आलेखों तथा टिप्पणियों से उनकी चिंता तथा सरोकार का पता चलता है। प्रेमचंद न केवल अपने समय को देख पा रहे थे बल्कि वे आने वाले दिनों में भारत की स्थितियों से भी चिंतित थे। कृषिप्रधान देश भारत में अस्सी फीसदी से भी अधिक लोगों की आजीविका खेती थी। प्रेमचंद इसे भली-भाँति जानते थे। तत्कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था की अच्छी समझ उन्हें थी। उन्होंने 'हतभागे किसान' में लिखा है—''हमारे स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फौज, हमारी अदालतें और कचहरियाँ सब उन्हीं की कमाई के बल पर चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और अन्नदाता हैं, पेट भर अन्न को तरसते हैं, जाड़े पाले में ठिठुरते हैं और मक्खियों की तरह मरते हैं।'' इस कथन के आलोक में 'पूस की रात' कहानी की चर्चा अपेक्षित है। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के आसपास जमींदारी व्यवस्था की क्रूरता के चलते किसान जीवन की दुर्दशा का चित्रण भर इस कहानी में नहीं है। न ही यहाँ जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा न कर पाने से क्षोभ उत्पन्न हुआ। भयानक ठंड से बचने के लिए 'कम्मल' खरीदने के अधूरे सपने की चिंता मात्र नहीं है। ''मर-मर कर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई। बाकी चुकाने के लिए हमारा जनम हुआ है।'' खेती के नाम पर किसान उधार लेता है और फसल खलिहान में आने के बाद सीधा साहूकार के पास पहुँच जाती है। पेट भरने के लिए किसान को दूसरे के यहाँ मजदूरी करनी पड़ती है। अत्यंत दयनीय स्थिति में किसान जीवन त्रासद हो उठता है लेकिन जमींदार से उसका पिंड नहीं छूटता। हल्कू की पत्नी मुन्नी कहती है—''अब मजदूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।'' सबसे बड़ी चिंता है किसान का मजदूर बन जाना। भारतीय अर्थव्यवस्था की धुरी खेती है। किसान अपनी खेती छोड़ मजदूर बन जाए तो अर्थ-व्यवस्था का चरमरा जाना स्वाभाविक है। अन्न उत्पादन के अभाव में आर्थिक संकट उत्पन्न होगा। प्रेमचंद का रचनाकार ऐसी स्थिति की कल्पना से बहुत अधिक आहत है। हल्कू और मुन्नी के माध्यम से प्रेमचंद ने अपने समकालीन भारत के किसान जीवन के मार्मिक चित्र अंकित किये हैं। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में न केवल किसान वर्ग के दुःख-दैन्य का चित्रण किया है बल्कि उन्हें दमन और शोषण से मुक्ति दिलाने के उपायों पर भी सोचा, विचार किया है। पैदावार बढ़ाने के तरीकों का भी उल्लेख किया है। सरकार के दायित्व-निर्वहन के अभाव का प्रखर रूप में विरोध किया है।

प्रेमचंद की किसान जीवन संबंधी कहानियों से गुजर कर इसका अहसास होता है कि इस महान् कथाकार ने किसान की जिजीविषा को सर्वाधिक महत्त्व दिया है।

उनके किसान संघर्षशील हैं। अदम्य जिजीविषा के द्योतक हैं। चूँकि, ये किसान हड्डी और चमड़ी के बने जीते-जागते पात्र हैं, इसलिए उनमें गुण और दोष दोनों समावेशित हैं। अगर प्रेमचंद के किसान धर्मभीरू हैं तो वे कर्म के पुजारी भी हैं। अगर वे 'मरजाद' बनाए रखने का प्रयास करते हैं तो वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक भी हैं। उनमें 'सुराज' के प्रति अपने कर्त्तव्य का बोध है तो मनुष्य मात्र के प्रति आदर की भावना मौजूद है। अशिक्षा, अंधविश्वास तथा रूढ़ियों का शिकार होने पर भी ये किसान मूर्ख नहीं हैं।

कहा जा सकता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के आधार के रूप में प्रेमचंद ने किसान को प्रस्तुत किया है। किसान जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म समस्याओं को उद्घाटित करने में प्रेमचंद कोई कोताही नहीं बरतते। ऋणग्रस्तता और अकल्पनीय शोषण के प्रहारों से वह भले ही टूट जाए लेकिन झुकना उसे कदापि ग्राह्य नहीं है। नजराना और बेगारी प्रथा का शिकार होने पर भी किसान को पता है कि यह उनके शोषण का तरीका है। इसका कहीं मुखर प्रतिवाद है तो कहीं इसके विरुद्ध जाग्रत चेतना। मसलन, प्रेमचंद की 'बलिदान' तथा 'विध्वंस' कहानियों के माध्यम से किसान जीवन की विविध स्थितियों का अंकन हुआ है। संक्षेप में, प्रेमचंद ने किसान-जीवन के चित्रण में सर्वाधिक सफलता हासिल की है। उनकी कहानियों में समकालीन यथार्थ की गहरी पड़ताल है। औपनिवेशिक भारत में लूटे गए किसानों और लूटनेवाले जमींदारों और साहूकारों के विविध संदर्भों को बड़ी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करने में प्रेमचंद सफल रहे हैं।

आजादी के पहले किसान जीवन से संबंधित कहानियाँ लिखने वालों में विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक' का भी नाम उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि उनकी कहानियों में स्वाधीनता आंदोलन की अनुगूँज और भ्रष्ट नौकरशाही की कारगुजारियाँ चित्रित हुई हैं, फिर भी किसान जीवन की समस्याओं को उन्होंने शिद्दत के साथ अंकित किया है। किसान जीवन को कष्टप्रद बनाने वाले जमींदारों, पटवारियों, वकीलों आदि की साजिशों का खुलासा भी किया है। इस दृष्टि से कौशिक की 'धुन' और 'बेदखली' कहानियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। औपनिवेशिक भारत में किसानों पर होने वाले जुल्म और शोषण के चित्रण के बहाने उन्होंने 1930 से 1945 के किसानों की व्यथा-कथा सुनाई है। ध्यान देने की बात है कि सप्रे और प्रेमचंद के किसानों पर जहाँ जमींदारों का अत्याचार था वहाँ कौशिक तक आते-आते क्रूर शोषणकर्त्ताओं के रूप में शासन तंत्र शामिल हो जाता है। किसान को दोहरी मार का शिकार होना पड़ा। फसल चौपट भी हो जाए तो लगान मुआफ नहीं होता था। आम किसान की हालत का चित्रण दृष्टव्य है— ''रात-दिन बैल की तरह जुते रहो, तब भी पेट भर खाने को न मिले और ऊपर से लगान की मार। ऐसा जीना किस काम का।''

यह सच है कि प्रेमचंद की प्रतिबद्धता 'कौशिक' में नहीं है लेकिन वे किसान जीवन के उत्पीड़न से एकदम उदासीन न थे। उन्होंने अपनी तरह से किसान जीवन का चित्रण किया है। मजेदार बात यह है कि 'कौशिक' की कहानी 'औचित्य' में किसानों की आर्थिक दुर्दशा, लगान की समस्या का चित्रण है तथा जमींदार और शासन तंत्र की मिली भगत का अंकन है तो कमलेश्वर की 'माटी सुबरन बरसाय' में पटवारी और सरकारी तंत्र में व्यथित किसान की दयनीय स्थिति व्यंजित होती है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में जमींदारी उन्मूलन का कानून जरूर बना लेकिन जमींदारों और भू-स्वामियों की साजिश से किसानों की हालत में कोई सुधार नहीं हुआ। औपनिवेशिक दौर में कुटीर उद्योग को लगभग समाप्त कर दिया था। मशीनी सभ्यता आने लगी थी। समय तेजी से बदल रहा था और उत्तर औपनिवेशिक भारत में किसानों पर अत्याचार के तौर-तरीके भी। ऐसी स्थिति में फणीश्वरनाथ रेणु स्वतंत्र भारत के विपन्न किसानों, खेत-मजदूरों, ग्रामीण कलाकारों के अंतर्लोक में प्रवेश करते हैं, उनके अंतरंग जीवन की व्यथा, वेदना, और स्वाभिमान को रूपायित करते हैं। अपनी लगभग सभी कहानियों में रेणु समाज के हाशिए पर पड़े लोगों को कहानी के केंद्र में स्थापित करते हैं। रेणु इन उपेक्षित पात्रों के स्वाभिमान को रूपायित करते हैं। अपनी लगभग सभी कहानियों में रेणु समाज के हाशिए पर पड़े लोगों को कहानी के केंद्र में स्थापित करते हैं। रेणु इन उपेक्षित पात्रों के स्वाभिमान का चित्रण कर आत्म गौरव का भाव भी जगाते हैं।

रेणु की परवर्ती कहानियों में आजादी के पश्चात् भारतीय गाँव और किसानों की बदलती स्थितियों के चित्र मिलते हैं। परिवर्तन की झाँकी उनकी 'तँबे एकला चलो रे', 'संवदिया', 'उच्चाटन' आदि कहानियों में देखी जा सकती है। मसलन, 'तँबे एकला चलो रे' शीर्षक कहानी में भूमिहीन खेतिहरों को, छोटे किसानों को जमींदारों और सरकारी तंत्र की सम्मिलित शक्ति से पराजित दिखाया गया है। यहाँ महत्त्व हार-जीत का नहीं, संघर्ष का है। अपने स्वत्व और अधिकार के लिए संघर्षरत किसानों का चित्रण मर्मस्पर्शी बन पड़ा है। एक बात और भी है, रेणु ने ग्रामीणजनों का नगरोन्मुख होना तथा शहर से पैसा कमाकर गाँव लौटने वाले रामबिलास की कहानी के माध्यम से बदलती परिस्थितियों और मानसिकता को रेखांकित किया है। इस दृष्टि से 'संवदिया' और 'उच्चाटन' का पाठ किया जा सकता है।

मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, विवेकी राय और रामदरश मिश्र ग्रामीण परिवेश से शहरी परिवेश में आने वाले कथाकार हैं। इनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन का चित्रण स्वाभाविक है। इनमें भी मार्कण्डेय के कथा-लेखन का अलग महत्त्व है। उनकी ग्राम परिवेश की कहानियों ने हिंदी कथा-संसार में उन्हें विशिष्ट स्थान का अधिकारी बनाया

है। मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध इस कहानीकार ने भी किसान जीवन से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। 'महुए का पेड़', 'कन्यानमन' आदि कहानियों में किसान-जमींदार संबंध की पड़ताल की गई है। 'हंसा जाइ अकेला' का भी खास महत्त्व स्वयंसिद्ध है। कहानी में करुणा का भाव मुख्य है। इसमें समय का यथार्थ है। हंसा एक असाधारण पात्र के रूप में प्रस्तुत होता है। कहानी के प्रारंभ में किसानों की परिस्थितियाँ स्पष्ट होती हैं—''वहाँ तक तो सब साथ थे, लेकिन अब कोई भी दो एक साथ नहीं रहा। दस-के-दसों-अलग खेतों में अपनी पिंडलियाँ खुजलाते, हाँफ रहे थे।'' समझाते-समझाते उमिर बीत गयी, पर यह माटी का माधो ही रह गया। ससुर मिलें तो कस कर मरम्मत कर दी जाए आज। ''बाबा अपने फूटे हुए घुटने से खून पोंछते हुए ठठाकर हँसे। पास के खेत में फँसे मगनू सिंह के मारे लोट-पोट होते हुए उनके पास पहुँचे।'' पकड़ा तो नहीं गया ससुरा? बाप रे...भैया, वे सब आ तो नहीं रहे हैं? ''और वह लपक कर चार कदम भागे, पर बाबा की अडिगता ने उन्हें रोक लिया। दोनों आदमी चुपचाप इधर-उधर देखने लगे। सावन-भादों की काली रात, रिम-झिम बूँदें पड़ रही थीं।'' का किया जाय, रास्ता भी तो छूट गया। पता नहीं कहाँ है, हम लोग। ''कहना न होगा कि हिंदी कहानी के लगभग पचास-साठ वर्षों के इतिहास में किसान जीवन हाशिए पर चला गया। कई कहानीकारों—विद्यासागर नौटियाल, शैलेश मटियानी, शिवप्रसाद सिंह, आदि ने ग्रामीण जीवन अथवा पहाड़ी जीवन का चित्रण जरूर किया है। इन रचनाकारों ने गाँव की बदली हुई स्थितियों का चित्रण किया है। इनके कथा-संसार में धोबी, कहार, भिखारी, मजदूर, फेरीवाले, चोर, उचक्के, डाकू आदि भी हैं। शेखर जोशी ने भी पहाड़ी जीवन के आधार पर कुछ अच्छी कहानियाँ जरूर लिखी हैं। लेकिन, किसान जीवन को आधार बनाकर लिखी जाने वाली कहानियाँ बहुत ही कम हैं। हाँ, नौटियाल की कहानी 'फट जा पंचधार' का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। यह किसानों की जिंदगी पर आधारित एक मार्मिक कहानी है। इसमें किसान जीवन के यथार्थ को मानवीय संवेदना के साथ उकेरने का सफल प्रयास किया गया है।

सच है कि नई कहानी के दौर में कहानीकार विवाहेतर संबंध, मध्यवर्गीय विसंगतियों, कुंठाओं आदि में अपनी पूरी सामर्थ्य लगाते रहे। लेकिन, 1967 के नक्सलबाड़ी में हुए आंदोलन और 1990 के पश्चात् भारत में आगत भूमंडलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण के दुष्परिमामों ने हिंदी कहानी को प्रबल रूप से प्रभावित किया है। इन दोनों घटनाओं ने संघर्षरत किसानों और मजदूरों के जीवन में बेहतर स्थिति के लिए उत्साहित किया। संघर्ष जारी रखने के लिए प्रेरित किया। पुनः सेज (स्पेशल इकॉनामिक जोन) के तहत आर्थिक विकास के नाम पर किसानों और सीमांत कृषकों

का भूमि-अधिग्रहण हुआ। आदिवासियों की जमीन भी छीन ली गई। मेधा पाटेकर के संग्राम, विचार और लेखन ने हिंदी कहानीकारों को नये सिरे से प्रेरित किया। वीरेन्द्र जैन, संजीव, भालचंद्र जोशी, कैलाश वनवासी, सत्यनारायण पटेल, अनुज, बलराम, प्रभात रंजन आदि की कथा- दुनिया में किसान जीवन तथा विस्थापन का दर्द नये रूप में उभर कर सामने आता है। सामंती तथा महाजनी व्यवस्था से मुक्ति की कामना के साथ-साथ बहुराष्ट्रीय कंपनियों की साजिश को मातहत करने के लिए किसानों का संघर्ष अत्यंत जरूरी है। इसे हिंदी का समकालीन कहानीकार भली-भाँति जानता तथा समझता है।

समकालीन कहानी में सामंती और पूँजीवादी व्यवस्था के दमन और शोषण का विरोध है। शोषित तथा पीड़ित किसानों की दयनीय स्थिति का चित्रण ही नहीं, अवसर मिलते ही किसानों तथा मजदूरों को आंदोलन में शामिल किया गया है अथवा आंदोलन का नेतृत्व करते दिखाया गया है। ऋण की समस्या से जर्जर किसानों की शोचनीय स्थिति को चित्रित किया गया है। समकालीन कथा-साहित्य का किसान न तो मौत से समझौता करता है और न ही जीत से हार स्वीकार कर बैठ जाता है। प्रेमचंद के जमाने से किसान हमेशा परिस्थितियों से संघर्ष करता आया है। शिवमूर्ति की 'तिरिया चरित्तर' या 'आखिरी छलांग' में किसान की सोच सकारात्मक है। जीवन के प्रति लालसा और आस्था उसमें जगती है। वह जागरूक होता है अपने अधिकारों के प्रति। वह अपनी आखिरी साँस तक जीवन जीना चाहता है। मुसीबतों से जूझना चाहता है। 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर!' शीर्षक कहानी में शिवमूर्ति ने किसान दंपती मामा-मामी के प्रेम का चित्रण किया है जिसे पढ़कर होरी और धनिया का दांपत्य प्रेम स्मरण हो आता है। दरअसल, सब कुछ बिकने वाले उपभोक्तावादी समय में प्रेम को बचाए रखने की सामर्थ्य शिवमूर्ति के पात्रों के पास मौजूद है। मामा-मामी के छोटे-छोटे सुख और बड़े-बड़े दुःखों के बहाने किसान जीवन के अनछुए पहलुओं को कहानीकार ने अंकित किया है। इसी तरह हमारे समय के महत्त्वपूर्ण कथाकार संजीव की 'अपराध' शीर्षक कहानी में सचिन को नक्सली होने के आरोप में जेल में ठूँस दिया है। वह पुलिस की अमानवीय हत्या के बारे में संघमित्रा को बताता है। इसके पीछे कारण यह है कि प्रशासन इस विचारधारा से आतंकित है, क्योंकि किसानों और मजदूरों को एकत्र कर प्रतिरोध करने की शक्ति उसके पास मौजूद है। यह विचारधारा शोषित किसानों को उनका अधिकार लौटाने में समर्थ है।

बाजारवादी अर्थव्यवस्था से शिवमूर्ति के उपन्यास 'आखिरी छलांग' का पहलवान जितना त्रस्त है उससे भी अधिक भयभीत है कैलाश वनवासी का रामधन। वह बाजार की ताकत को समझता है। फिर भी, वह बाजारवादी नई अर्थव्यवस्था के समक्ष, घुटने

नहीं टेकता है। वह अपने ढंग से प्रतिरोध दर्ज करता है। 'बाजार में रामधन' में रामधन तीसरी बार बाजार से लौटता है बिना अपने बैलों को बाजार के हवाले किए। छोटी जोत के किसान रामधन के लिए बैलों को बेच पाना संभव नहीं है। उसका भाई मुन्ना पढ़ा-लिखा है और बाजार के तर्क भी उसके पास हैं। रामधन किसानी संस्कारों का है। वह मौजूदा परिवर्तनों से अनभिज्ञ है और उसमें (अनभिज्ञता में) जीना चाहता है। तभी कहानी के अंत में संवाद प्रस्तुत हुआ है—उसके बैल पूछ रहे हैं—''मान लो अगर दाऊ या महाराज तुम्हें चार हजार दे रहे होते तो तुम क्या हमें बेच दिये होते?'' रामधन ने जवाब दिया, ''शायद नहीं। फिर भी नहीं बेचता उनके हाथ तुमको।'' रामधन बैलों को बेचने के पक्ष में इसलिए नहीं है कि बैलों के बिना खेती कैसी? पुनः ये बैल पिता की धरोहर हैं और उससे भी बढ़कर घर के सदस्य हो गये हैं।

कैलाश वनवासी का रामधन बैलों को बाजार में भले बेच न पाया हो, लेकिन, अनुज की कहानी 'खूँटा' में सितुआ उन्हें कसाई के हवाले कर देता हैं। रामजतन महतो स्वयं अपने बैल बेचने नहीं गये थे। शायद, वे जाते तो अपने आत्मीय बैलों को बिना बेचे लौट आते। अनुज ने इस कहानी में भूमंडलीकरण के दौर में किसान जीवन के विविध बिंब अंकित किये हैं। बैलों के प्रति अवध की माँ का लगाव कहानीकार के शब्दों में साकार हो उठा है। बेटी के ब्याह हेतु महतों के पास ले-देकर एक जोड़ी बैल बच गए थे। उन्हें बेचने के लिए गाँव के दलाल सितुआ की शरण में जाते हैं। अनुज ने ग्रामीण समाज में सीमांत कृषकों की स्थिति का जायजा लिया है—''आधुनिक खेती के चलन से गँवई समाज भी बहुत कुछ बदलने लगा था।...बड़े किसानों ने ट्रैक्टरों की ओर रुख कर लिया था। भाई-भाई के बीच होने वाले बँटवारों ने खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े कर दिये थे। संयुक्त परिवारों के टूटने-बिखरने के कारण अब तक परिवार के पास खेत का कोई बड़ा भाग रह भी नहीं गया था। प्रत्येक किसान के पास अपना कहने को एकाध बीघा ही रह गया था।'' जमींदारी उन्मूलन कानून कितना कारगर हुआ, वह यहाँ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। 'एकाध बीघा' भी खेत बेचकर छोटे किसान शहर की चकाचौंध से लुभाकर मजदूर बनने के लिए लाचार हो रहे हैं।

इस संदर्भ में युवा कहानीकार सत्यनारायण पटेल की कहानी 'लाल छींटवाली लुगड़ी का सपना' का उल्लेख किया जा सकता है। इस कहानी का नायक डूँगा एक सपना पालता है और उसे पूरा करने की खातिर लगा रहता है। उसका सपना छोटा-सा है। इस सपने का संबंध न तो आलीशान महलों से संबंधित है और न ही किसी बहुराष्ट्रीय कंपनी के मालिकाना से। स्मरण हो आता है हल्कू के 'कम्मल' और होरी के गाय पालने का सपना। खैर डूँगा का सपना है—''सपना भी क्या। एक लुगड़ी का सपना। छींटदार सितारे टँगी लुगड़ी का सपना। यह एक ऐसा सपना था जिसे देखने

के लिए डूँगा को अर्धनिद्रा में जाने की जरूरत नहीं थी। उस लुगड़ी को देखते-देखते ही वह नींद में चला जाता। सुबह उठकर लुगड़ी को पाने के लिए दिन भर खेत में हाड़-तोड़ मेहनत करता।'' पत्नी पारवती और बेटी पवित्रा की खुशी के लिए समर्पित ईमानदार डूँगा का सपना, सपना बनकर ही रह जाता है।

सत्यनारायण पटेल ने भूमि अधिग्रहण मामले को भी इस कहानी में प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत किया है। किसान को अपने खेत अपनी जान से भी अधिक प्यारे होते हैं। दायजी को भी खेत प्यारे थे। उनके जीवन का एक ही चरम और परम लक्ष्य था खेत को कर्जे से मुक्त करें। दायजी खेत बेचना न चाहते थे 'रंगभूमि' के सूरदास की तरह। लेकिन, पूँजी की ताकत कुछ और होती है। दायजी को उन्हीं के खेत में 'करंट' लगाकर पूँजी ने उन्हें मार डाला।

जमीन खरीद-फरोख्त करने वाली कंपनी का दलाल हूल्लर तमाम प्रयोग डूँगा पर करता है। उसे तरह-तरह के प्रलोभन दिखाता है। साम, दंड, भेद आदि भी अपनाता है, परंतु डूँगा तो डूँगा ही निकला। वह देखता है अपने इर्द-गिर्द के लोग खेत बेच कर बेस कीमती मोटर कारें खरीद चुके हैं। विलास की सामग्री जुटा रहे हैं। उसकी पत्नी और पुत्री का भी जी ललचाता है। लेकिन, डूँगा चट्टान बना रहता है। डूँगा ने देखा, उसके गाँव को उपभोक्तावाद और भोगवाद की प्रवृत्तियों ने चपेट में ले लिया है। अपसंस्कृति फैलने लगी है। जुआ, शराब, वेश्यावृत्ति का चक्र गाँव में प्रबल हो रहा है। डूँगा भी थोड़ी देर के लिए हिल गया था। डूँगा टूटता है, बिखरता भी है। मान-अपमान सहन करता है। दमन और अत्याचार का अपनी सामर्थ्य के अनुसार विरोध करता है। लेकिन, पूँजी और बाजार की समन्वित शक्ति के सामने घुटने टेकना नहीं कबूलता। यह सच है कि अब उसकी आँखों में लुगड़ी के सपने की बजाय कभी खेत में लहलहाती फसल के जलने का सपना आता है। बावजूद इसके डूँगा की समझ में आ गया है—''जब तक खेत बचा है, खेती करने की इच्छा बची है। अपनी मेहनत की फसल के दम पर लाल छींटदार लुगड़ी लाने का सपना क्या है, बहुत कुछ बचा है।'' इसलिए, पाश ने कहा था—''सबसे खतरनाक होता है सपनों का मर जाना।'' भू-माफियाओं से इक्का-दुक्का डूँगा बच जाएँ, उनके सपने बचे रहें तो यह समाज तथा राष्ट्र के लिए बहुत बड़ा हितकारी होगा। आस्था, विश्वास और संभावनाओं के द्वार उन्मुक्त होंगे। अन्यथा, आज पूरे राष्ट्र को बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हवाले करने की जो होड़ मची है और विकास करने का ढोंग रचा जा रहा है, उससे न खेत बचेंगे और न ईमान। मनुष्यता खतरे में है पिछले बीस-पच्चीस वर्षों से। सीना ठोंककर भाषण जीवी मनुष्यता को संग्रहालय की वस्तु में तब्दील करने में लगे हुए हैं। सत्यनारायण पटेल की कहानियों में मालवांचल के किसानों के बहाने गंभीर चिंताएँ व्यंजित होती हैं।

अरुण कुमार 'असफल' की 'तरबूज का बीज' शीर्षक कहानी में पेटेंट कानून के बहाने बाजारवाद का नग्न चित्र प्रस्तुत हुआ है। गणेशी के बाऊ के माध्यम से पूँजी और बाजार की कपटलीला दर्शाई गई है तथा भारतीय किसान की अकाल मृत्यु का चित्रण हुआ है। सबसे बड़ी चिंता की बात यह है कि गणेशी की माँ को अपने पति की मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक प्रतीत होता है तरबूज का बीज हासिल न होना। इस कहानी में बाजारवादी अर्थव्यवस्था के द्वारा छीजती, कराहती, छटपटाती मानवीय संवेदना की स्थितियों का चित्रण किया गया है। अपने देश में उत्पन्न चीजों पर लेबिल चिपका कर बाहर की कंपनियाँ ऊँची दर में बेचने का अधिकार हासिल कर रही हैं और मुनाफा कमा रही हैं।

छत्तीसगढ़ को पृष्ठभूमि में रखकर कहानी लिखने वाले, सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता लोकबाबू की 'मुजरिम' कहानी किसान-जीवन की त्रासद गाथा प्रस्तुत करती है। घोर दारिद्रय में ललित किसान का परिवार गुजर-बसर करता है। पोलियोग्रस्त बेटा है। टी.बी. से पत्नी की मृत्यु हो चुकी है। ललित दुर्घटनाग्रस्त होने के बाद वह अपना खेत बेचने को बाध्य होता है। उसकी ही जमीन पर लगी डामर फैक्टरी में मजदूर बन जाता है। बड़ी जूली और छोटी सीमा नानी के साथ रहती हैं। विषादग्रस्त ललित अपने आत्मीय स्वजनों को मारकर मुजरिम बन जाता है। कहानीकार का सवाल है कि मुजरिम ललित है या कोई दूसरा है? यानी सरकार, पूँजीपतियों, धनकुबेरों का कोई दोष नहीं है। इस कहानी में लोकबाबू ने लिखा है—"खेती की जमीन पर खड़े ये उद्योग किसानों को मजदूरों में और मजदूरों को मजबूरों में तब्दील करने के उद्योग भी बन गये हैं।"

प्रभात रंजन की कहानी 'जानकी पुल' प्रत्यक्ष रूप से किसान जीवन से संबंधित नहीं है। यह गाँव से जुड़ी कहानी है। 'जानकी पुल' बन जाए तो सपना पूरा होगा। गाँव और शहर का अंतर मिट जाएगा। विकास की आँधी बहेगी। जानकी पुल की नींव सिंचाई मंत्री द्वारा रखी जा चुकी है। बीस वर्ष बीत गये। पर पुल नहीं बना है। पुल के सपने गाँव को हिला देते थे। इन सपनों के बारे में युवा कहानीकार ने लिखा है—"गाँव भर में पुल बन जाने के बाद के जीवन को लेकर चर्चाएँ चलती रहती थीं। योजनाएँ बनती रहती थीं। कोई अपनी जमीन पर मार्केट बनवाना चाहता था। कोई अपनी दुकान के आगे और पीछे घर बनवाना चाहता था। कभी खबर आती कि पटना के एक प्रसिद्ध स्कूल के मालिक आए थे, स्कूल के लिए जमीन खरीदने। कभी खबर आती कि शहर के एक प्रसिद्ध डॉक्टर वहाँ जमीन देखने आये थे, शायद नर्सिंग होम खोलना चाहते हों।" शिलान्यास का पत्थर अब पहचाना नहीं जाता पर मधुपुर गाँव के तमाम लोगों का सपना एक ही है पुल बन जाए। कहना न होगा कि यहाँ भी पूँजीवादी

शक्तियों की गिद्ध दृष्टि खेत और जमीन पर लगी हुई है। किसानों के जीवन में विकास होगा या विनाश यह सहज ही अनुमेय है।

किसान जीवन से संबंधित हिंदी में कहानियाँ और भी हैं। लेकिन उन तमाम रचनाओं पर यहाँ विचार करना अभिप्रेय नहीं है। अपने समय और समाज में उभरने वाले प्रमुख स्वरों को हिंदी कहानी ने युगीन संदर्भ में उकेरने का प्रयास किया है। किसान जीवन की समस्याओं, उलझनों, अंतर्विरोधों, लाचारियों आदि को हिंदी कहानी ने बड़ी शिद्दत और ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है। सप्रे से लेकर युवतम कथाकार के रचना-संसार में किसान जीवन के बदलते चित्र मौजूद हैं। किसानों की बदलती स्थितियों, शोषण के परिवर्तित तरीके आदि को भी कथाकारों ने कथा-सूत्रों में पिरोया है। इन कहानियों के आधार पर सवा सौ वर्ष के किसानी जीवन का समाजशास्त्रीय अध्ययन बड़ा दिलचस्प हो सकता है।